RNI No. : UPBIL03942/2010 UGC Regd. No. 41402 ISSN : 2229-7308
UGC Referred International Journal
Vol. 7, Issue 9 Bilingual (Hindi & English) 29 December 2017 Azamgarh (U.P.) India

अखिल गीत शोध-दृष्टि

मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय शोध अर्द्धवार्षिकी

AKHIL GEET SHODH DRISHTI

Biannual International Referred Research Journal of Humanities and Social Science

प्रसार

● नई दिल्ली ● महाराष्ट्र ● तमिलनाडु ● उत्तराखण्ड ● जम्मू–कश्मीर ● झारखण्ड ● बिहार ● पुडुचेरी ● हरियाणा ● मेघालय ● छत्तीसगढ़ ● असम ● राजस्थान ● मध्य प्रदेश ● उत्तर प्रदेश ● गुजरात ● आन्ध्र प्रदेश ● पंजाब ● अरुणाँचल प्रदेश ● मणिपुर ● पश्चिम बंगाल ● केरल ● अण्डमान–निकोबार द्वीप समूह ● कनाडा ● नेपाल ● मॉरीशस ● जापान

वर्ष 7 अंक 9 द्विभाषिक (हिन्दी एवं अंग्रेजी) 29 दिसम्बर 2017 आजमगढ़ (उ०प्र०) भारत

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ०प्र०) भारत द्वारा प्रकाशित
अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध जर्नल

डॉ० अखिलेश चन्द्र
प्रधान सम्पादक

डॉ० गीता सिंह
सम्पादक

15

अखिल गीत शोध-दृष्टि
मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय शोध अर्द्धवार्षिकी
वर्ष 7 अंक 9 द्विभाषिक (हिन्दी एवं अंग्रेजी) 29 दिसम्बर 2017 आजमगढ़ (उ०प्र०) भारत
15

लखनऊ लोक भवन में शिक्षक दिवस पर डॉ0 गीता सिंह को 'शिक्षक श्री' पुरस्कार से सम्मानित करते
मुख्यमंत्री मा0 आदित्यनाथ योगी एवं उप मुख्यमंत्री मा0 डॉ0 दिनेश शर्मा जी।

प्रमाण–पत्र एवं स्मृति चिन्ह के साथ
'शिक्षक श्री' पुरस्कार से सम्मानित
डॉ0 गीता सिंह

'शिक्षक श्री' पुरस्कार से सम्मानित होने के उपरान्त
जनपद आजमगढ़ में प्रेसवार्ता करती
डॉ0 गीता सिंह साथ में डॉ0 कन्हैया सिंह एवं
डॉ0 दीनानाथ लाल श्रीवास्तव

RNI No : UPBIL 03942/2010 ISSN : 2229-7308

अखिल गीत शोध-दृष्टि

मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध–जर्नल

AKHIL GEET SHODH DRISHTI

Half Yearly International Referred Research Journal of Humanities and Social Sciences

प्रधान सम्पादक

डॉ० अखिलेश चन्द्र

एसो०प्रोफेसर, शिक्षक प्रशिक्षण विभाग

श्री गाँधी पी.जी.कालेज, मालटारी, आजमगढ़

मो०: 09415082614

सम्पादक

डॉ० गीता सिंह

एसो०प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग

डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, आजमगढ़

मो०: 09532225244

अखिल गीत शोध-दृष्टि

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ0प्र0) भारत द्वारा प्रकाशित

वर्ष 7 अंक 9 द्विभाषिक (हिन्दी एवं अंग्रेजी) 29 दिसम्बर 2017 आजमगढ़ (उ0प्र0) भारत

अखिल गीत शोध-दृष्टि

मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध–जर्नल

RNI No : UPBIL 03942/2010 ISSN : 2229-7308

प्रकाशक : **डॉ0 गीता सिंह (सचिव)**
निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान
आजमगढ़ (उ0प्र0) भारत

मुद्रण : शिवानी ऑफसेट प्रिन्टर्स
16/143, खत्रीटोला, आजमगढ़
मो0 : 09455872674

अक्षर संयोजन : अरविन्द गुप्ता, आजमगढ़

सम्पादकीय कार्यालय :
डॉ0 गीता सिंह
मकान नं0 466, राहुल नगर
(पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस)
मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
मो0 : 09532225244, 09415082614

EDITORIAL OFFICE :
Dr. GEETA SINGH
H.No. 466, Rahul Nagar
(Pt. Haribansh Mishra Campus)
Madya, Azamgarh 276001 (U.P.) India
Mobile : 09532225244, 09415082614
E-mail : shodhdrishti@gmail.com

'अखिल गीत शोध–दृष्टि' शोध–जर्नल की सदस्यता

व्यक्तिगतः

	भारत में (India)	विदेश में (Foreign)
वार्षिक	: ₹ 1000	US $ 25
त्रिवार्षिक	: ₹ 3000	US $ 80
आजीवन (दस वर्ष हेतु)	: ₹ 8000	US $ 200

संस्थागत :

	भारत में (India)	विदेश में (Foreign)
वार्षिक	: ₹ 1500	US $ 35
त्रिवार्षिक	: ₹ 4500	US $ 120
आजीवन (दस वर्ष हेतु)	: ₹ 10000	US $ 300

नोट : कृपया अपना भुगतान नकद/चेक/मनी ऑर्डर/बैक ड्राफ्ट 'अखिल गीत शोध–दृष्टि आजमगढ़' के नाम भेजें। आजमगढ़ के बाहर के चेक में निर्धारित राशि में ₹ 50 अतिरिक्त जोड़कर भेजें।

NOTE : Please send your cash/cheque/MO/DD in favour of 'Akhil Geet Shodh Drishti Azamgarh'. Add ₹ 50 for out station cheques.

मूल्य : भारत ₹ 200 विदेश (Foreign) US $ 15

नोट : प्रकाशित शोध–पत्रों/आलेखों के विचारों से सम्पादक मण्डल/सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। समस्त वाद का क्षेत्र आजमगढ़ होगा। शोध अमृत जर्नल का प्रकाशन पूरी तरह अव्यावसायिक है।

प्रसार : • नई दिल्ली • महाराष्ट्र • तमिलनाडु • उत्तराखण्ड • जम्मू–कश्मीर • झारखण्ड • बिहार • मणिपुर • हरियाणा • शिलांग • छत्तीसगढ़ • असम • राजस्थान • मध्यप्रदेश • उत्तर प्रदेश • गुजरात • पुडुचेरी • आन्ध्र प्रदेश • पंजाब • अरुणाँचल प्रदेश • पश्चिम बंगाल • केरल • कनाडा • अण्डमान–निकोबार द्वीप समूह • नेपाल • मारीशस • जापान

लेखको से अनुरोध

'अखिल गीत शोध–दृष्टि' मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध–जर्नल है। यह वैधानिकता की दृष्टि से प्रमाणिक है। इसमें मानविकी एवं समाज विज्ञान के सभी उपविषयों के मौलिक शोध परक आलेख, पत्र, समीक्षा का प्रकाशन किया जाता है। यह हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में शोध–पत्र प्रकाशित करता है। शोध पत्रों को भेजते समय निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

1. शोध–पत्र को कम्प्यूटर से टंकित एक प्रति में (Hard copy) तथा सी0डी0 (Soft copy) में भेजें।
2. शोध–पत्र को प्रकाशनार्थ भेजने हेतु अधिकतम 4500–5000 शब्दों का प्रयोग करें। शोध–पत्र के साथ 150–200 शब्दों का शोध–सारांश (Abstract) भी भेजें।
3. हिन्दी कम्प्यूटर टाइप विधि में पेज मेकर या माइक्रोसाफ्ट वर्ड में कृतिदेव 10 के Font size 12 तथा अंग्रेजी में Time New Roman में Font size 10 में टंकित A4 साइज में 1.25 इंच चारों तरफ छोड़कर कागज पर एक तरफ प्रिंट करायें तथा संस्था का पता/आवास का पता एवं दूरभाष नं0/ मोबाइल नं0 के साथ भेजें।
4. शोध–पत्र की स्वीकृति प्राप्ति हेतु अपना पता लिखा हुआ पोस्ट कार्ड अथवा ₹ 5 का डाक टिकट लगा लिफाफा भेजें।
5. पुस्तक सन्दर्भ ग्रन्थ का उल्लेख करते समय लेखक के नाम का अन्तिम शब्द, मुख्य नाम, पुस्तक का नाम, प्रकाशन का नाम, प्रकाशन वर्ष, पृष्ठ संख्या का उल्लेख आवश्यक है।
   जैसे– सिंह नामवर, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नई–दिल्ली, 2009 पृष्ठ सं0 51
7. शोध–जर्नल/पत्रिका को सन्दर्भ में सूचीबद्ध करते समय कृपया शोध–पत्र के शीर्षक का नाम, लेखक का नाम, शोध जर्नल/पत्रिका का नाम, अंक का नाम, प्रकाशन वर्ष, स्थान तथा पृष्ठ संख्या का उल्लेख करें।
   जैसे– दलित साहित्य की अवधारणा, कंवल भारती, उत्तर प्रदेश, सितम्बर–अक्टूबर 2002, लखनऊ, पृष्ठ संख्या 11
8. दैनिक समाचार पत्र का सन्दर्भ देते समय शीर्षक का नाम, लेखक का नाम, पत्र का नाम, संस्करण का नाम, दिनांक, दिन तथा पृष्ठ संख्या का उल्लेख करें।
   जैसे– हिन्दी का बदलता स्वरूप, सुनील कुमार मानव, दैनिक जागरण, वाराणसी संस्करण 14 सितम्बर 2010, मंगलवार, पृष्ठ संख्या 10
9. सन्दर्भ–ग्रन्थ का उल्लेख शोध–पत्र के अन्त में करें।
10. अपेक्षित सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के न रहने पर शोध–पत्र स्वीकृत नहीं किया जायेगा।
11. शोध–पत्र के साथ इस आशय का घोषणा–पत्र अवश्य संलग्न करें कि आपका शोध–पत्र मौलिक है तथा इसे आपने किसी अन्य शोध–जर्नल/पत्रिका में प्रकाशनार्थ नहीं भेजा है।
12. 'अखिल गीत शोध–दृष्टि' में उन्ही लेखकों के शोध–पत्र प्रकाशन हेतु स्वीकार किये जायेगें जो इस शोध–जर्नल के सदस्य होगें।
13. शोध–पत्र के प्रकाशित न होने की स्थिति में शोध–पत्र की वापसी संभव नहीं होगी। इसलिए शोध–पत्र की एक कापी अपने पास सुरक्षित रखें तथा दूसरा शोध पत्र प्रकाशनार्थ सही स्वरूप में भेजें।
14. शोध आलेख/पत्र सारगर्भित होना चाहिए।
15. शोध आलेख/पत्र यदि बड़ा है तो शोध आलेख/पत्र छोटा करने का अधिकार सम्पादक मण्डल के पास सुरक्षित रहेगा।
16. शोध–पत्र के प्रकाशन के पूर्व दो विशेषज्ञों की सहमति लेकर शोध–पत्र 'अखिल गीत शोध–दृष्टि' में प्रकाशित किये जाते हैं।
17. 'शोध–जर्नल में पुस्तक समीक्षा के लिए समीक्षात्मक आलेख भी प्रकाशित किये जाते हैं। समीक्षात्मक आलेख भेजते समय/पुस्तक समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रति सम्पादकीय कार्यालय में प्रेषित करें।
18. शोध–जर्नल व्यक्तिगत/संस्थागत साधारण डाक द्वारा प्रेषित किया जायेगा।
19. शोध–जर्नल न मिल पाने की स्थिति में पंजीकृत डाक से मंगाने के लिए ₹ 250 का डिमाण्ड ड्राफ्ट/MO/चेक 'अखिल गीत शोध दृष्टि आजमगढ़' के नाम भेजें अतिरिक्त प्रति आपको डाक द्वारा उपलब्ध करायी जायेगीं।
20. शोध–पत्र को E-mail द्वारा भेजने पर भी शोध–पत्र एक प्रति में (Hard copy) तथा सी0डी0 (Soft copy) के साथ अवश्य भेजें।

सदस्य

संरक्षक मण्डलः

1. **प्रो0 सी.डी. सिंह,** पूर्व कुलपति, इन्दिरा गाँधी जनजातीय केन्द्रीय विश्वविद्यालय अमरकंटक (म.प्र.)
2. **प्रो0 सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा,** पूर्व कुलपति, राँची विश्वविद्यालय, झारखण्ड, पूर्व कुलपति महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)
3. **प्रो0 एस. के. सिंह,** पूर्व कुलपति, हेमवन्ती नन्दन बहुगुणा विश्वविद्यालय गढ़वाल, उत्तराखण्ड
4. **प्रो0 वृषभ प्रसाद जैन,** महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
5. **डॉ0 जगदीश सिंह दीक्षित,** पूर्व एसो. प्रोफेसर मनोविज्ञान विभाग, टी.डी. पी.जी. कालेज, जौनपुर
6. **डॉ0 ओ.पी. सिंह,** भारतीय भाषा विभाग, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
7. **डॉ0 रामजी लाल श्रीवास्तव,** पूर्व विभागाध्यक्ष मनोविज्ञान, शिब्ली नेशनल पी.जी. कालेज, आजमगढ़
8. **डॉ0 कन्हैया सिंह,** पूर्व अध्यक्ष उ.प्र. भाषा संस्थान लखनऊ, अध्यक्ष (कार्यकारी) अखिल भारतीय साहित्य परिषद दिल्ली, राहुल नगर, आजमगढ़

परामर्श दात्री समिति :

1. **प्रो0 परशुराम पाल,** पूर्व प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
2. **डॉ0 विनोद सिंह,** प्राचार्य, टी.डी. पी.जी. कॉलेज, जौनपुर
3. **डॉ0 दिनेश कुशवाह,** विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह, विश्वविद्यालय रीवा (म.प्र.)
4. **प्रो0 निर्मला एस. मौर्या,** रजिस्ट्रार, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान (विश्वविद्यालय प्रभाग) टी. नगर, चेन्नई, तमिलनाडु
5. **डॉ0 बीना श्रीवास्तव,** एसो. प्रो. शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, श्री दुर्गा जी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चण्डेश्वर, आजमगढ़
6. **डॉ0 संजय श्रीवास्तव,** हिन्दी विभाग, गाँधी स्मारक त्रिवेणी पी.जी. कालेज, बरदह, आजमगढ़
7. **डॉ0 सुधाकर उपाध्याय,** पूर्व प्राचार्य, के0बी0 पी. जी. कालेज, मीरजापुर
8. **श्री रितेश सिंह,** प्रबन्धक, बुद्ध पब्लिक स्कूल, मीरजापुर

सम्पादकीय सलाहकार समिति :

1. **डॉ0 गीतू गिरी,** एसो. प्रोफेसर, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, नेपाल
2. **प्रो0 अब्दुल अलीम,** हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
3. **डॉ0 विजय बहादुर यादव,** शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, आर.एस.के.डी. पी.जी. कालेज, जौनपुर
4. **डॉ0 राजेश कुमार सिंह,** शिक्षा संकाय, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
5. **डॉ0 अजय कुमार दुबे,** शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, टी.डी. पी.जी. कालेज, जौनपुर
6. **डॉ0 राम प्रकाश कुशवाहा,** प्राचार्य शहीद मंगल पाण्डेय राजकीय महाविद्यालय, नगरा, बलिया
7. **डॉ0 उदय सिंह,** शिक्षा संकाय, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
8. **श्रीमती सुमिता कोहली,** पूर्व प्राचार्य, कमला माहेश्वरी आर्य कन्या महाविद्यालय, मीरजापुर
9. **श्री राजेन्द्र कुमार राम,** शिक्षा संकाय, सतीश चन्द्र पी.जी. कालेज, बलिया
10. **डॉ0 किरन कुमारी,** एसो. प्रोफेसर, भूगोल विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स दोईमुख, अरूणांचल प्रदेश
11. **डॉ0 चन्द्र भूषण पाठक,** शिक्षा संकाय, कुटीर पी. जी. कालेज, चक्के, जौनपुर
12. **डॉ0 अशोक कुमार,** विभागाध्यक्ष शिक्षा शास्त्र, डी.सी.एस. के. पी.जी. कालेज, मऊनाथभंजन
13. **डॉ0 रमाकान्त सिंह,** अध्यक्ष शिक्षा संकाय, श्री मुरली मनोहर टाउन पी.जी. कालेज, बलिया

14. **डॉ0 रीता सिंह,** शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, टी. डी. पी.जी. कालेज, जौनपुर
15. **डॉ0 कविता विश्नोई,** एसो. प्रोफेसर बी—एड. विभाग, बरेली कालेज, बरेली
16. **डॉ0 अशोक कुमार सिंह,** पूर्व एसो. प्रोफेसर बी—एड. विभाग, हण्डिया पी.जी. कालेज, हंडिया, इलाहाबाद
17. **डॉ0 प्रमोद कुमार मिश्र,** असि. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बी—एड विभाग, शिवपति पी.जी. कालेज, शोहरतगढ़, सिद्धार्थनगर
18. **डॉ0 ओमप्रकाश मलिक,** पूर्व एसो. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संगीत तथा ललित कला विभाग, कमला माहेश्वरी आर्य कन्या पी.जी. कालेज, मीरजापुर

विषय रेफ्री बोर्ड :

1. **प्रो0 वशिष्ठ अनूप,** हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. **डॉ0 रामअवध सिंह यादव,** हिन्दी, प्राचार्य श्री गाँधी पी.जी. कालेज, मालटारी, आजमगढ़
3. **डॉ0 शुचिता श्रीवास्तव,** प्राचार्य डी.ए.वी. पी. जी. कालेज, आजमगढ़
4. **डॉ0 प्रिया मुखर्जी,** प्राचार्य, श्री अग्रसेन महिला पी.जी. कालेज, आजमगढ़
5. **डॉ0 ऊषा कुशवाहा,** दर्शनशास्त्र विभाग, बी0 के0 एम0 पी0 जी0 कालेज, कमच्छा, वाराणसी
6. **डॉ0 संजय,** समाज कार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
7. **डॉ0 मधुबाला राय,** शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, श्री दुर्गा जी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चण्डेश्वर, आजमगढ़
8. **डॉ0 अब्दुल रशीद ज़हीरी,** विभागाध्यक्ष उर्दू, श्री गाँधी पी.जी. कालेज, मालटारी, आजमगढ़
9. **डॉ0 कृष्णा सिंह,** समाजशास्त्र विभाग, गाँधी स्मारक त्रिवेणी पी.जी. कालेज, बरदह, आजमगढ़
10. **डॉ0 नीलू कपूर,** असि. प्रो. मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, कमला माहेश्वरी पी. जी. कालेज, मीरजापुर
11. **डॉ0 आर0 एस0 सिंह,** वाणिज्य संकाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
12. **डॉ0 स्वामीनाथ गुप्ता,** संस्कृत विभाग, डी.ए. वी. पी.जी. कॉलेज, आजमगढ़
13. **डॉ0 दीपा वर्मा,** असि0 प्रोफेसर, गृहविज्ञान, राजकीय महिला पी.जी. कालेज, अम्बारी, आजमगढ़
14. **डॉ0 हिमांशु सिंह,** रक्षा एवं स्त्रातजिक अध्ययन विभाग, टी0 डी0 पी0 जी0 कालेज, जौनपुर
15. **डॉ0 तनवीर अहसन निज़ामी,** असि. प्रो. अर्थशास्त्र विभाग, ओरिएन्टल कालेज, पटनासिटी, पटना, बिहार
16. **डॉ0 शशि कुमार मिश्र,** प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, श्री गाँधी पी.जी. कालेज, मालटारी, आजमगढ़
17. **डॉ0 रेनू तिवारी,** मनोविज्ञान, आजमगढ़

प्रधान सम्पादक :

डॉ0 अखिलेश चन्द्र, एसो0 प्रोफेसर, शिक्षा—संकाय (बी0एड्0 विभाग), श्री गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी, आजमगढ़

सम्पादक :

डॉ0 गीता सिंह, एसो0 प्रो0 एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़

नोट : सभी पद अवैतनिक हैं।

RNI. No. : UPBIL 03942/2010 ISSN : 2229-7308

वर्ष 7 अंक 9 द्विभाषिक (हिन्दी एवं अंग्रेजी) 29 दिसम्बर 2017 आजमगढ़ (उ0प्र0) भारत

अखिल गीत

शोध-दृष्टि

मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय वार्षिक शोध–जर्नल

अनुक्रम contents

क्रम सं0	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ संख्या
	शोध आलेख		
	सम्पादकीय		9–11
●	**हिन्दी**		**12–156**
1.	नयी शताब्दी और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता का संघर्ष	–डॉ0 रमेश कुमार	12–17
2.	मोहन राकेश के साहित्य में जीवन–दर्शन	–डॉ. गीता सिंह	18–21
3.	राहुल का साहित्य संसार	–जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुन्द'	22–36
4.	आषाढ़ का एक दिन और आधुनिक संदर्भ	–निधि सिंह	37–40
5.	हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंधों का मूल्यांकन	–नितीन कुमार सिंह	41–46
6.	रीति परम्परा और रसलीन	–डॉ0 आलमगीर अली अहमद	47–50
7.	कबीर की प्रासंगिकता	–डॉ0 मुकुन्दभाई एच. पटेल	51–54
8.	कामकाजी महिलाएँ : साहित्य और समाज से उनका सरोकार	–सदानन्द तिवारी	55–58
9.	प्रेमचन्द का सामाजिक व साहित्यिक विमर्श	–कृष्ण कुमार यादव	59–66
10.	कुँवर नारायण की मिथकीय चेतना	–(श्रीमती) सीमा सिंह	67–68
11.	कबीर के काव्य में सांस्कृतिक चेतना	–डॉ0 राजीव पॉल	69–73
12.	रसलीन : स्थायी भाव और रस	–रामरतन चौधरी	74–77
13.	प्रगतिशील आन्दोलन और नागार्जुन	–चन्दन कुमार मौर्य	78–81
14.	दलित कविता की क्रांतिकारी संवेदना	–दिनेश कुमार	82–85
15.	कमलेश्वर प्रसाद शर्मा एवं उनकी चलचित्र दुनिया	–डॉ0 बालचन्द प्रसाद	86–94
16.	छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न वर्ग चेतना	–गीता गौतम	95–99

17. डॉ0 रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि —डॉ0 जितेन्द्र कुमार सिंह 100—103
18. स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास —फिरोज आलम 104—108
19. भारतीय धर्म, अध्यात्म, दर्शन एवं मुस्लिम कवि अमीर खुसरो —(श्रीमती) सोनल दालभ 109—112
20. नूर मुहम्मद के काव्य में सामाजिक उतार—चढ़ाव —डॉ0 मुहम्मद अरशद 113—115
21. समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी विमर्श —नरेन्द्र प्रताप सिंह 116—126
22. निराला के गीतों में युगबोध —डॉ0 श्यामसुन्दर प्रसाद 127—129
23. प्रसाद की सृजन चेतना —डॉ0 ऋचा सिंह 130—132
24. नागार्जुन : जनचेतना के कवि —गीता 133—136
25. जंगल कहाँ शुरू होता है —आकाश वर्मा 137—142
26. स्त्री मुक्ति : एक विश्लेषण —प्रियंका बोरा 143—147
27. भोजपुरी में प्रबन्धात्मक गीतों का काव्यशास्त्रीय विवेचन एक साहित्यिक अध्ययन —डॉ0 विभा राय 148—154
28. अमृतलाल नागर जी के उपन्यासों का इतिहासबोध —अल्का राय 155—156

- **संस्कृत** **157—169**

29. मानव जीवन में शकुन विचार —डॉ0 पूनम देवी 157—160
30. रसों के भेद— एक विवेचन —डॉ0 नमिता निगम 161—163
31. नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता —डॉ0 मुन्नी राय 164—165
32. कविकल्पलतायाः पर्यालोचनम् : छन्दश्चर्या—छन्दोऽभ्यासः —डॉ0 पंकज कुमार राय 166—169

- **अंग्रेजी** **170—184**

33. Khuswant Singh : A Superhero – Novelist -Dr Ratnesh Baranwal 170-175
34. B.R. AMBEDKAR : Author as a Hero within the Genre And Beyond -Dr. Dharmendra Kumar Ray 176-179
35. Realism and Social Values in Mc Cullers The Heart Is a Lonely Hunter -Dr. Sunita Rai 180-184

- **शिक्षाशास्त्र** **185—215**

36. जैव—विविधता संरक्षण वर्तमान की आवश्यकता —डॉ0 अखिलेश चन्द्र 185—188
37. व्यक्तित्व : दशा एवं दिशा —अमित कुमार दूबे 189—192
38. नारी सशक्तिकरण बनाम असशक्तिकरण —आकांक्षा यादव 193—197
39. बुद्ध का मध्य मार्गी शिक्षा —डॉ0 राजेश्वर सिंह 198—200
40. नवीन चयनित विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि का आयु के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन —डॉ0 सितेश सारस्वत 201—206

41.	A Comparative Study of The Attitude Towards Conventional Instructional And Adjunct Auto-Instructional Materials In Civics At Junior High School Level.	-Dr. Anita Singh	207-211
42.	Tribal Education in India : Challenging Issues	-Dr Bhartendu Mishra	212-215
●	**समाजशास्त्र**		**216–231**
43.	ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिकी की भूमिका एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण	–डॉ0 (श्रीमती) कृष्णा सिंह	216–220
44.	ग्रामीण भारत में उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें तथा डिजिटल इण्डिया कार्यक्रम	–डॉ0 रवीन्द्र नाथ मिश्र	221–226
45.	Role of Social Tolerance in Deviant Behaviour of Slum Children	-Binu Kumari	227-231
●	**मनोविज्ञान**		**232–246**
46.	आधुनिकता एवं परोपकारिता	–डॉ0 राही प्रसाद मौर्य	232–235
47.	Demographic Patterns and Autonomy Motive	-Dr. Tasneem Jamali	236-238
48.	The Effect of Hypertension on Diabetic Patients	-Dr. Akanksha Srivastava	239-240
49.	Patience : A dimension of Social Intelligence and Depression	-Rudal Yadav	241-243
50.	Culture and Job Satisfaction	-Dr. Himbala	244-246
●	**इतिहास**		**247–261**
51.	मृदागढ़ी से लोहागढ़ तक	–डॉ0 आलोक कुमार	247–251
52.	मध्यकालीन इतिहास सल्तनतकालीन समाज (एक संक्षिप्त पक्ष)	–डॉ0 नीलू कपूर	252–255
53.	सल्तनत कालीन राजनीति में रक्त विभेद और उससे उत्पन्न संघर्ष की एक संक्षिप्त रूपरेखा (1206–1290 ई0)	–डॉ0 आनन्द कुमार सिंह	256–261
●	**भूगोल**		**262–265**
54.	जनपद अम्बेडकर नगर के सामान्य भूमि उपयोग के कालिक और स्थानिक परिवर्तन : एक भौगोलिक अध्ययन	–डॉ0 शिवशंकर	262–265
●	**शारीरिक शिक्षा**		**266–271**
55.	Sports: Can it be a career ?	-Ajay Kumar Verma	266-267
56.	Yoga Nidra Yogic Conscious Deep Sleep	-Amarjeet	268-271

सम्पादकीय

तुलसीदास और तत्कालीन परिवेश

जिस समय महाकवि तुलसीदास का प्रादुर्भाव हुआ उस समय भारतीय संस्कृति अत्यन्त विश्रृंखलित हो, पतन के कगार पर अन्तिम साँसे गिन रही थी। देश की यह विषमता समाज, धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में फैल गयी थी। जनता में परस्पर भेद–भाव की भावना चरम पर थी। एक ही धर्म के अन्दर अनेक सम्प्रदायों एवं भक्तों का उदय हो गया था। इन मतों में आपसी वैमनस्य अत्यधिक बढ़ रहा था। परिणाम स्वरूप धार्मिक अशान्ति के साथ ही सामाजिक अशान्ति का भी बढ़ना स्वाभाविक था। सम्पूर्ण देश में स्वार्थपरता और भोगलिप्सा का बोल–बाला था। देश के ऐसे वातावरण में तत्कालीन भक्तों एवं संतों ने प्राणोपण से योगदान दिया। गोस्वामी तुलसीदास भी ऐसे वरेण्य जन नायकों एवं समाज सुधारकों में से एक थे। उन्होंने परिस्थिति की गम्भीरता को समझते हुए समाज में व्याप्त विषमता एवं वैमनस्य को दूर करने का प्रयास किया। इस वैषम्य को दूर करने के लिए उन्होंने समन्वय की प्रवृत्ति द्वारा समस्त विषयों धर्मदर्शन, समाज, राजनीति एवं साहित्य आदि को अपनाकर तत्कालीन जन–जीवन में व्याप्त अधार्मिकता, पापाचार, अशान्ति, वैषम्य आदि को दूर करने का सफल प्रयास किया।

यद्यपि रामनन्द स्वयं बहुत बड़े भविष्य–द्रष्टा थे, फिर भी उनके मत को कोई ऐसा समर्थ प्रचारक नहीं मिला। जैसे अन्य मतों को, इसलिए वह संकुचित रूप से समाज में व्याप्त था क्योंकि उसमें जीवन शक्ति थी। ऐसे वातावरण में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। तुलसी ने जगत को देखा, जीवन को देखा। लोक में व्याप्त पीड़ा का उन्हें अनुभव था, लोक के प्रति सहानुभूति थी। वे जहाँ एक ओर समस्त जग को 'सियाराममय सब जग जानी, करुउँ प्रणाम जोर जुग पानी।' कहकर लोक की पूजा करने वाले सुजान थे वहीं राम के प्रेम में चातक की भाँति उनमें निष्ठा भी थी। राम के अतिरिक्त अन्य कोई उनका आराध्य नहीं है–

'एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसी दास।।''

तुलसीदास ने अनेक शास्त्रों और पुराणों का तथा भाषा एवं प्राकृत के ग्रंथों का अध्ययन चिन्तन, मनन तो किया ही था। भुक्तभोगी होने के कारण समाज के लिए सत्य एवं सुन्दर का तत्त्व भी जानते थे। इन सबका प्रभाव उनके जीवन में एक चेतना लेकर आया। इस चेतना ने साहित्य में रामचरित मानस जैसे महाकाव्य की रचना की, जो विश्व के इतिहास में ढूढ़ने पर भी नहीं मिलेगी। तुलसी ने सगुण और निर्गुण में अभेद स्थापित करके इन दोनों का पारस्परिक विरोध बहुत कुछ कम करने का अतुलनीय प्रयास किया। उनके अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म ही भक्तों की रक्षा एवं सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना हेतु पृथ्वी पर अवतरित होता है–

'अगुनहि सगुनहि नहिं कुछ भेदा।
गावहिं श्रुति पुरान बुध वेदा।।'

तुलसीदास ने ऐसे राम की प्रतिष्ठा जनजीवन में

की जो युग के राक्षसों को ही नहीं दशानन रावण को भी समाप्त करता है। जो 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' से पूर्ण है। जिसका सुन्दरता में अपना शानी नहीं पर आपदा आने पर, पर–उपकार के लिए अपना कुसुम–सा हृदय बज्र बना सकता है। समाज को दैत्यों एवं राक्षसों से बचाने के लिए उन्होंने कमजोर दबे हुए जंगली लोगों तक के भीतर उनकी सोई शक्ति को जगाया।

तुलसीदास में सृजन की अपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को जो जर्जरावस्था में था उसको संजीवनी बूटी पिलाई। वे मर्यादावादी थे और निर्माण में विश्वास रखते थे। इसलिए जीवन को विनष्ट करने वाली वृत्तियों से संघर्ष किया। उन्होंने समाज में व्याप्त काम, क्रोध, मद, मोह के विनाशकारी प्रभाव की भर्त्सना की। उनकी राम राज्य की कल्पना आज के युग में भी सामाजिक चेतना का आदर्श है। तुलसी का युग राजनैतिक उथल–पुथल का था। चतुर्दिक हाहाकार मचा हुआ था। राजा और प्रजा के मध्य की खाई निरन्तर बढ़ती जा रही थी। ऐसे समय में तुलसी ने रामराज्य का आदर्श उपस्थित कर प्रकारान्तर से राजाओं को सचेत करने का प्रयास किया–

'दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम–राज नहिं काहुहिं थापा।।
अल्प मृत्यु नहीं कवनिउँ पीरा।
सब सुन्दर सब निरूज सरीरा।।'

तुलसीदास ने रामानन्द–सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं किया। उसको एक नवीन जीवन–दर्शन दिया, नया रूप दिया, नई चेतना दी। परन्तु सभी कुछ साहित्यकार की तरह, प्रचारक या उपदेशक की भाँति नहीं। भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ़ भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की, जैसी भारत का अन्य कोई साहित्यकार नहीं कर सका। उनके राम आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श प्रजा पालक एवं मर्यादा पुरूषोत्तम हैं। कौशल्या आदर्श माता, सीता आदर्श पत्नी, सुग्रीव आदर्श सखा हैं। लक्ष्मण आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं। गोस्वामी जी मर्यादावाद के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने लोगों को यह भी दिखाया है कि पारिवारिक मर्यादा में जरा भी विकृति आने पर सारा का सारा घर, कलह, दुःख और अशांति का अखाड़ा बन सकता है। लोक में व्याप्त सारी मर्यादाएँ नष्ट हो सकती हैं। कैकेयी का कोप, विभीषण का रावण के प्रति विद्रोह और बालि तथा सुग्रीव इसके जीवंत उदाहरण हैं। उन्होंने जिन चरित्रों का सृजन किया वे अजर अमर हैं, साथ ही साथ लोक–मंगलकारी आदर्श की प्रतिष्ठा भी करते हैं, जो लोक–जीवन को समृद्धिमय बनाने में सहायक थे, और रहेंगे। विविध परन्तु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रों का चित्रण उन्होंने अपने काव्य में किया है उतने चरित्र एक साथ किसी काव्यग्रन्थ में नहीं मिलते। अन्यत्र यदि कहीं दिखाई भी पड़ते हैं तो इस अन्योन्याश्रित प्रतिष्ठा के साथ नहीं।

तुलसी के युग में ऊँच–नीच, छुआछूत आदि का अधिक बोलबाला था कुलीन लोग शूद्रों की छाया से भी परहेज करते थे। तुलसी ने सबरी के जूठे बेर राम को खिलाकर, उनका केवट से प्रेमालिंगन करवाकर कुलीनों की अन्त्यजों के प्रति घृणा को बहुत कम करा दिया।

उस युग में शैव और वैष्णवों का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था। इसलिए शिव भक्तों और वैष्णव भक्तों में आये दिन संघर्ष होता रहता था। शैव लोग शिव को महान कहते थे और विष्णु की निन्दा करते थे। ऐसी ही वैष्णव लोग विष्णु की महानता का शंखनाद करते हुए शिव का हेय समझते थे। तुलसी ने इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष को देखा और समझा तथा इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया। एक ओर शिव से तुलसी ने यह कहलवाया कि–

सोई मम इष्ट देव रघुवीरा।
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।।

तो दूसरी ओर राम से उन्होंने कहलवाया–

शिव दोही मम दास कहावा,

सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।

उनकी रचनाओं में राजनीति से लेकर वेदांत तक की अभिव्यक्ति है और सभी क्षेत्रों में उनकी नई सूझ–बूझ अपनी एक मौलिक एवं मंगलमय छाप लगाती है। नीति उपदेश की सूक्ति पद्धति, सूफियों की दोहा–चौपाई वाली पद्धति, वीर श्रृंगार की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति–पद्धति, गंग आदि चारण कवियों की कवित्त–सवैया पद्धति, सभी साहित्यिक विधाओं का निखार उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विद्वान और पंडित थे। उन्होंने अवधी और ब्रज दोनों में ही रचनाओं की हैं और उनका साहित्यिक सुसंस्कृत रूप ही इनकी रचनाओं में मिलता है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से उनकी देन हिन्दी के लिए मील का पत्थर है।

संसार का सार है तुलसी के मानस में। कवि सीता की मुक्ति को भारत की स्वतंत्रता से जोड़ता है। सीता भारत की स्वतंत्रता का प्रतीक हैं जिसका विदेशियों ने अपहरण कर रखा है।

तुलसी जी के साहित्य में मानव जीवन का सर्वांगीण चित्रण हुआ है। युगीन जन चेतना और संस्कृति पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। हिन्दी साहित्य उनकी काव्य महिमा के अक्षय प्रकाश से महिमा मण्डित है। इन्हीं विशेषताओं के कारण विश्व साहित्य में तुलसी का विशिष्ट स्थान है क्योंकि तुलसी उस समाज के निर्माता हैं, जो न तो सुधार हेतु किसी प्रकार का आन्दोलन करते हैं न समाज को भला बुरा कहकर भटकाते हैं वह तो समाज के सम्मुख अच्छे आदर्श प्रस्तुत करते हैं और परोक्ष रूप से उनके ऊपर चलने के लिए कहते हैं। साहित्यिक रूप में उनका वही स्थान है जो वाल्मिकी व्यास और कालीदास का है। अपनी इसी श्रेष्ठता के कारण आज साधारण झोपड़ी से लेकर महलों तक पहुँच गये हैं। जब तक संसार में राम का नाम रहेगा, तब तक तुलसी का नाम रहेगा।

मानस तत्कालीन जनता के साथ आज के मानव का भी उन्नायक, प्रेरक एवं उद्धारकर्ता है। इसमें जीवन को ऊपर उठाने की अपार शक्ति भरी है। यह सगुण–निर्गुण, दर्शन अध्यात्म, भक्ति योग एवं आदर्श के विशाल सुन्दर चित्रों से भरा है। इसलिए यह पंचमवेद के समान आदर पाने वाला ग्रन्थ है।

–डॉ0 गीता सिंह

हिन्दी

नयी शताब्दी और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता का संघर्ष

–डॉ०र मेशक ुमार*

नयी सदी के विशिष्ट कवि के रुप में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम जाना जाता है। उनके चार कविता–संग्रह प्रकाशित हुए थे जो उनकी काव्य–यात्रा के सृजनात्मक आधार हैं। उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं– 'सदियों का संताप' (1989), 'बस्स! बहुत हो चुका' (1997), 'अब और नहीं' (2009) और 'शब्द झूठ नहीं बोलते' (नवीनतम् 2012)। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता इक्कीसवीं सदी की आर्थिक विषमता, सामाजिक असमानता, सांस्कृतिक–विभेदता और राजनैतिक विद्रूपताओं पर गहरी चोट और व्यंग्य करती है। उनकी कविताओं के केन्द्र में दलित–शोषित मनुष्य की संवेदना, उसकी अस्मिता की पहचान, उसका शोषण करने वाले समूचे सत्ता–तंत्र और अतीत एवं वर्तमान के अन्याय एवं अत्याचारों का उद्‌घाटन करती है। उनकी कविता ने हजारों साल के पाखण्ड, अन्याय और शोषण के षडयंत्र पर प्रहार किया है। इसलिए उनकी कविता रोमानी प्रेम, चिकने–कोमल शब्दों के भाव या आदर्शों के नकली तमगे पहनकर नहीं खड़ी होती है। उनकी कविता का जन्म दलित मनुष्य की भूख, ग़रीबी और अभाव के यथार्थ से होता है। दलित कविता किसी शास्त्रीयता, रसास्वादन या व्यक्तिवादी आनन्द का हिस्सा नहीं होती। दलित कविता मूलतः सामाजिक–आर्थिक सरोकारों की कविता रही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता का वैचारिक आधार अम्बेडकरवाद है। अपनी कविता की सामाजिक प्रतिबद्धता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा– ''इसीलिए दलित कविता को डॉ. अम्बेडकर के जीवन–दर्शन, अतीत की भयावहता और बुद्ध के मानवीय दर्शन को हर पल सामने रखने की जरुरत पड़ती है, जिसके बगैर दलित कविता का सामाजिक पक्ष कमजोर पड़ने लगता है।''[1] दलित कविता का ऊर्जा स्रोत बुद्ध के मानववादी दर्शन, ज्योतिबा फुले के समाज परिवर्तन के चिंतन तथा बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के समाजवादी लोकतांत्रिक मूल्यों से ओत–प्रोत है। दलित कविता का प्राचीन सरोकार श्रमण संस्कृति के बौद्ध साहित्य, सिद्ध–नाथ साहित्य, संत–साहित्य और समाज सुधारकों के चिंतन से प्रेरित कहा जा सकता है। आधुनिक समय में मराठी दलित कविता और नीग्रो कविता का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष प्रभाव हिंदी कविता पर रहा है। खासकर ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता ने शास्त्रों की जड़ता, वर्ण–जाति की मर्मांतक पीड़ा, रंग–वर्ण वर्ग वैषम्य के प्रति प्रहार, फासीवादी–मनुवादी ताकतों के प्रति विद्रोह, जातिवादी अराजक तत्वों के अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष, सामंती–पूँजीवादी, उत्तर–पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक शोषण का विरोध, सांस्कृतिक छद्‌म और राजनैतिक प्रपंच एवं क्रूरता के खिलाफ़ जंग की है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता नयी सदी के प्रश्नों और चिंताओं का ध्यानाकर्षण करती है। दलित समाज अपनी संस्कृति और अस्मिता को जब–जब

*एसोसिएट प्रोफेसर, ज.ने.रा. महाविद्यालय, पोर्ट ब्लेयर, अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह

खोजने का प्रयत्न करेगा, तब–तब उसे वर्णाश्रम व्यवस्था की बांझ तथा ढोंगी संस्कृति से सामना करना पड़ेगा, क्योंकि यह संस्कृति बहुसंख्यक वर्ग को अधिकारों से वंचित करती है तथा उनके साथ पशु से बदतर व्यवहार करती आती है। उनकी कविता 'शब्द और ब्रह्म', 'वसुधैव कुटुंबकम' और 'लोकतंत्र या .... ?' आदि में दलित समाज के इन्हीं प्रश्नों को उठाया गया। शब्द को ब्रह्म कहा गया था। ब्रह्म ज्ञानी और ज्ञान सत्ता के लोग ईश्वर के अवतारवाद, पुनर्जन्मवाद, कर्मफलवाद, भाग्यवाद, आत्मा–परमात्मा के अज़र–अमर आदि सिद्धान्तों को विवेचित करते रहे। उन्होंने हजारों साल से शूद्रों तथा अति शूद्रों को शब्द ज्ञान से वंचित रखा। अतः अतीत का अपमान और वर्तमान जीवन की दुर्दशा ने उसे विद्रोह करने को विवश कर दिया। यह विद्रोह का तेवर केवल भावावेश या काल्पनिक नहीं था, बल्कि इसके माध्यम से सदियों के गूँगे दलित गर्जन करते हैं। उन्हें अपने ऊपर होने वाले अन्याय का एहसास होता है जो यथार्थ भी है – ''हजारों साल रख जिन्हें/शब्द से दूर/ब्रह्म से दूर/जो पल–पल रच रहे थे/हजारों शब्द अपने पसीने की गंध से/जिसे छीनकर/अपनी मिल्कियत बनाकर बैठ गए थे/कुछ चतुर लोग।''[2] 'वसुधैव कुटुंबकम' की तोता रटंत संस्कृति ने हजारों साल से दलितों के प्रति वैमनस्य और घृणा का भाव रखा। उन्हें मनुष्य का दर्जा तक नहीं दिया। उन्हें दुत्कारा गया, प्रताड़ना दी गई तथा कदम–जदम पर अपमानित किया गया था जबकि ऐसे शूद्र झाड़ू–बुहारन, कपड़े बुनने का कार्य, चर्म शिल्प की वस्तुएं बनाने, खेती और श्रम कार्य और शिल्प की नाना वस्तुएं निर्मित करते थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता दलितों के श्रम और कर्म की महत्वता बताती है। यह दलित समाज ही उत्पादन के मूल में रहा है। उनके श्रम मूल्य को नकारने वाला यही उपजीवी वर्ग है जो शास्त्रों की जड़ता एवं अन्याय के बल पर उनका दोहन करता आया था– ''नंगे बदन/बुनते हुए कपड़ा/तराशते हुए/तुम्हारे पांव की जूती/अपने लिए वक्त नहीं था/उसके पास/फटी बिवाइयों से रिसते लहू की बूँदों को/पोंछने का।''[3] इक्कीसवीं सदी में वर्ण और जाति का भेदभाव विकृत मानसिकता को जन्म दे रहा है। लोकतंत्र में भ्रष्टतंत्र सत्ता पर अपना वर्चस्व बनाए हुए है। जहाँ जाति, गोत्र, वंश, कुल और वर्ण की पक्षधरता वाला वर्ग अपना हित प्रमुख रुप से साधता है। यही प्रबल वर्ग अपने सारे मापदण्ड और योग्यता के आधार को जाति आधारित बनाता है। यह विडंबना सोचनीय तथा दुर्भाग्यपूर्ण है– ''इक्कीसवीं सदी में/लौट आती है पेशवाई सदी/जहाँ इंसान की औकात/जन्मना जाति से तय होती है।''[4]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में दलित मनुष्य की वेदना, उसके संघर्ष और विद्रोह की चेतना व्यापक है। 'अंधेरे में शब्द', 'सपने', 'परिवर्तन' और 'शब्द झूठ नहीं बोलते' आदि कविताओं में दलितों का संघर्ष शब्दबद्ध हुआ है। कवि की कविता में शब्द झूठ नहीं बोलते हैं बल्कि अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध डटकर संघर्ष करते हैं। कवि को अपनी कविता पर विश्वास है जो गुलाम जीवन की मानसिकता को तोड़ेगी। उनकी कविता आत्महत्या करते किसानों, काम करते मज़दूरों और दुत्कारे जाते दलितों के साथ खड़ी है। उनकी कविता के शब्द अवश्य जिंदा रहेंगे क्योंकि उनमें शोषित–वंचित आदमी की आग है, उनमें उनकी वेदना का दर्द भरा है और जीवन की मर्मान्तक सच उसमें ध्वनित होता है– ''पीड़ित जनों की आह में/जिंदा रहते हैं शब्द/जो कभी नहीं मरते/खड़े रहते हैं/सच को सच कहने के लिए/क्योंकि/शब्द कभी झूठ नहीं बोलते।''[5] कवि की कविता दमित लोगों को शब्दबद्ध ही नहीं करती है अपितु सदियों के संतप्त जीवन को अनुभूत करती है। कवि का समूचा जीवन संघर्ष की लड़ाई है जो उसे जीवंत बनाता है। उसे मनुष्यता को बचाने के लिए लड़ना होगा। कविता मनुष्य

की मानवता की पक्षधर होती है। मनुष्य के सुंदर और स्वस्थ जीवन के लिए यह आवश्यक होगा कि शब्दों की ताकत पहचानी जाए। हजारों साल के मूक लोगों को शब्द शक्ति का पता नहीं था। भूखे–प्यासे लोग अपनी वेदना तक नहीं कह सकते थे। आज अपनी सृजनात्मक शक्ति का उसे बोध है, वह युग परिवर्तन के लिए तैयार हो रहा है– ''शब्द की ताकत को पहचानना / कितना जरुरी है / यह हजारों साल से / मूक बने विवशता के मारे / लोगों से ज्यादा बेहतर कौन बताएगा / जिन्होंने अपनी जिंदगी / चुपचाप खपा दी / दूसरों की सेवा–टहल में।''[6] दलितों की सिसकियाँ सुनने व देखने वाला कोई नहीं था। उन्हें अज्ञानता के अंधकार में रखा गया। उन्हें प्रताड़ित करने हेतु शास्त्र रचे गए। उनकी यातनाओं और प्रताड़नाओं का चक्र चलता रहा। नयी सदी में भी उनके साथ अभद्र व्यवहार होता रहा। कवि अपनी कविता में उनके जख्म और दर्द को महसूस करता रहा है– ''रात गहरी और काली है / अकालग्रस्त त्रासदी जैसी / जहाँ हजारों शब्द दफन हैं / इतने गहरे / कि उनकी सिसकियाँ भी सुनाई नहीं देतीं।''[7]

नयी सदी की अपसंस्कृति को उत्तर–पूँजीवाद ने जन्म दिया, जहाँ अतिभोग और अति स्वतंत्रता के खुलेपन ने नग्नता को जन्म दिया। संस्कृति के नाम पर धर्मांधता, हिंसा, पंचसितारा होटल के जश्न, सेक्स स्वामियों के हथकंडे, जातीय उन्माद और पाखण्डों का दौर रहा है। उनकी कविताओं में विद्रूपताओं के चित्र उभरते हैं जैसे– 'साल 2010 का आखिरी दिन', 'भोपाल कांड', 'संस्कृति बनाम सेक्स', 'आत्मा', 'नाटक जारी है', 'वे बच्चे', 'गुम होता गांव' आदि। भ्रष्ट व्यवस्था में ग़रीब आदमी भूखा और लाचार है। राजनीति स्वयं भ्रष्ट है जो ईमानदारी की टोपी लगाती है। सत्ता का चरित्र अपनी ईमानदारी को बार–बार जनता के सामने लाता है जबकि समूचा तंत्र ही दलदल में फंसा है– ''टैक्स चोरों / जमाखोरों / कालाबाज़ारी करने वाले / धोखेबाज़ों ने दिखाई है चुस्ती / टांग कर अपने सीने पर नारा / घोषित कर दिया है खुद को ईमानदार।''[8] लोकतंत्र में ढोंग, विश्वासघात, पाखण्ड और बेईमानी का बोलबाला है। बाज़ारवाद ने आदमी को खरीदने–बेचने की वस्तु बना दिया है। सिद्धांतहीनता और अवसरवादिता के अवमूल्यन ने संकट पैदा कर दिया है– ''आत्मा बिकने लगी है / खुलेआम हाट–बाजार में / मरने लगी है / गुपचुप समझौतों में / जलने लगी है / बिना आग के / सिकुड़ने लगी है / आपसी द्वेष में।''[9] असंख्य बाबा, योगी और गुरुओं के आडम्बरों ने मनुष्य पर आघात किया है। आज के समय में धर्म की आड़ में तमाम शोषण और अन्याय होते हैं। 'अस्थि–विसर्जन' कविता में पुरोहित की गिद्ध दृष्टि संस्कार से ज्यादा पैसों पर रहती है। चारों ओर के विद्रूप भरे जीवन में ढोंग ही ढोंग बढ़ रहा है– ''इसलिए तय कर लिया है मैंने / नहीं नहाऊँगा ऐसी किसी गंगा में / जहाँ पंडे की गिद्ध नज़रें गड़ी हों / अस्थियों के बीच रखे सिक्कों / और दक्षिणा के रुपयों पर / विसर्जन से पहले ही झपट्टा मारने के लिए बाज की तरह।''[10]

देश की आज़ादी और संविधान लागू हुए 70 वर्ष गुजर गए हैं फिर भी हाशिए के करोड़ों लोगों को न मानवीय अधिकार मिल पाए और न उन्हें जीवन जीने के साधन ही। खानाबदोश, आदिम जनजातियाँ, बंधुआ मज़दूर, शिल्पकार और सफाई कर्मियों के जीवन स्तर में कोई सुधार नहीं हुआ। उनकी ग़रीबी, अशिक्षा, बेरोज़गारी और आवास जैसी समस्याओं का समाधान न हो सका। यह समुदाय आज भी हाशिए पर है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में हाशिए के इन वंचित समुदायों के प्रति गहरी मानवीय संवेदना है। उनकी कविता का परिवेश व्यापक फलक पर फैलता है तथा उनके दुःख–दर्द को व्यक्त करता है। इस दृष्टि से उनकी कविताएँ जैसे 'खानाबदोश', 'मुक्ति–संघर्ष' विशेष उल्लेखनीय रही हैं। हाशिए के लोगों के चेहरे सख्त, खुरदरे हाथ और फटे पांव होते हैं। उनकी मुक्ति–संघर्ष की चिंगारी अवश्य

फूटेगी जो तमाम बंधन, कैद और अवरोध को तोड़ देगी। कवि की कविता में अनुभूति की आग दहकती है। अंधेरों के खिलाफ़ संघर्ष कर रही है – ''जिसकी आंच में तप कर/अंधेरों की भयावह त्रासदी से/मुक्त होना है अभी/और अभी/तोड़कर तमाम अवरोधों को।''[11] हाशिए के लोगों का कोई स्थायी घर नहीं होता। खानाबदोश लोगों का अपना कोई गांव–शहर नहीं होता। रोज़गार की तलाश में अपने डेरों के साथ जगह–जगह घूमते रहते हैं। ये लोग शिल्प कार्य में भी निपुण होते हैं। उनके बनाए चाकू, छुरे, दरांत और हल की फाल जैसे मज़बूत सामान वर्षों–वर्षों तक लोगों के घरों में अवश्य रहते हैं। भले ही लोग उन्हें भूल जाएं, उनके चेहरे याद न रहें किंतु उनके सामान उनकी याद अवश्य कराते हैं। उनकी 'खानाबदोश' कविता की यथार्थ संवेदना देखिए– ''उनके बनाए चाकू/छुरे/दरांत/हल की फाल/जो जिंदा रहते हैं/रसोई में/दालान में/खेत में/हल को पकड़ने वाली खुरदरी हथेली में/जब–जब धार कुंद पड़ती है/याद आते हैं सिर्फ उनके हाथ/जिनका कोई घर नहीं होता।''[12]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता सामाजिक सरोकारों से गहरी सम्पृक्त हैं। भारतीय समाज सदियों से वर्ण–जाति के भेदभाव पर आधारित रहा था। आज भी समाज के सबसे निर्धन एवं वंचित वर्ग के प्रति लोगों की मानसिकता नहीं बदली है। सफाई अथवा दाई का परम्परागत पेशा करने वाली औरत को भले ही उच्च वर्ण के लोग उससे नाता रखते हों, उसे चाची–दादी कहकर संबोधन करते हों लेकिन जाति का भेद जन्म से लेकर मरण तक पूरा नहीं होता। कवि की अनेक कविताओं में ऐसी विसंगतियों तथा विषमताओं का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'शब्दजीवी', 'उन्हें डर है', 'तुम्हारी जात', 'बजरी और सीमेंट' आदि कविताएं इसका प्रमाण हैं। 'शब्दजीवी' कविता में दोहरी मानसिकता पर चोट है जो दलितों के प्रति लोगों के व्यवहार को दिखलाती है– ''कि अम्मा, चाची, बुआ, दादी/जब काम खत्म करके लौट जाती हैं/घर–आंगन ही नहीं/बाहर का रास्ता भी/धोया जाता है गंगाजल से।''[13] कभी उन्हें मारा–पीटा जाता है, कभी उनके घरों में आग लगाई जाती है। कभी उनकी औरतों के साथ अभद्र व्यवहार किया जाता है और कभी सार्वजनिक क्षेत्रों से बहिष्कृत किया जाता है। उनके साथ होने वाली यातनाओं में कमी नहीं आती है – ''मेरे प्रदेश में/जब लुटती है किसी दलित की बारात/मेरे प्रदेश का शब्दजीवी/मौन धारण कर लेता है/भूल जाता है पढ़ना अखबार/निकल जाता है चारों धाम की यात्रा पर।''[14] लेकिन दलितों में दहकता लावा जब बाहर निकलेगा, तब उनके विद्रोह से अवश्य परिवर्तन होगा– ''वे जानती हैं/तुम कभी नहीं बदलोगे/तुम्हारी जात ही ऐसी है।''[15] ऑनर किलिंग के हादसों में दलितों के घर जलाए गए थे। प्रशासन और सरकार मूक बनी रही। खाप पंचायतों के कारण गोहाना तथा मिर्चपुर जैसे क्षेत्रों में आगजनी हुई, उनके घर जलाए गए। इक्कीसवीं सदी में दलितों के साथ होने वाली मर्मान्तक पीड़ा का दृश्य देखिए – ''खाप पंचायतों ने खुले आम/डंके की चोट पर/ऊंची आवाज़ में सुनाए थे फैसले/गोहाना और मिर्चपुर में/जलाकर राख कर दो/इन कमीनों के घर–बार/पांव की जूती/सिर उठाकर चलने लगी है।''[16] निहत्थे और बेबस लोगों पर अत्याचार होते गए। उनकी बस्तियों को जलाया गया। धर्म और शास्त्र के पुजारी उनके साथ अन्याय करते रहे। दलित कविता अन्याय के खिलाफ़ जन्म लेती है। यह एक ऐसी तपती आग है जब सुलगेगी, तब सभी को अपने आगोश में ले लेगी। दलितों की चुप्पी टूटेगी। हजारों साल की असमानता, अन्याय और विषमता का अन्त होगा। 'बंधुआ शब्द' कविता में यह बवंडर उठ रहा है जो दलितों की चेतना का जाग्रत रुप है– ''उनकी अंतःचेतना में /सुलग रहा है/आग का बवंडर /जो किसी भी दिन/जाग सकता है/अपनी हजारों साल पुरानी/चुप्पी तोड़कर।''[17] दलितों ने ईश्वर के नाम से

डरना छोड़ दिया है। वे स्वर्ग–नरक, आत्मा–परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफल के बन्धनों से नहीं नहीं बंधते, शोषण करने वाले शास्त्रों के प्रति विरोध व्यक्त करते हैं।

दलितों की नयी पीढ़ी सुशिक्षित हुई। उसने रोज़गार, व्यवसाय, शिक्षा, नौकरी और प्रशासन के पदों पर रहकर महत्वपूर्ण सेवाएं दी हैं। यह नयी पीढ़ी समाज में समानता, समता, न्याय, बंधुता और प्रेम के मूल्यों को महत्व देती है। इस पीढ़ी ने अपना अतीत देखा है तथा वर्तमान को बदलने का सामर्थ्य रखती है। दलित कविता का गहरा सरोकार दलितों पर होने वाले अत्याचार, अनाचार, शोषण, भेदभाव को नकारना था। उसका दूसरा लक्ष्य मनुष्य और मानवता की रक्षा करना रहा था। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता ने दलितों को चेतना दी है तथा उन्हें अन्याय के विरुद्ध लड़ने का हौसला दिया है। 'बिटिया का बस्ता' एक महत्वपूर्ण कविता है। कविता में गोहाना कांड का वर्णन हुआ है। जनता तमाशबीन बनकर दलितों के जलते घरों को देखती रही थी। शहर का पुलिस प्रशासन मौन था। सरकार और संसद भी खामोश थी। कानून का मज़ाक बनाने वाले लोग निडर होकर आगजनी कर रहे थे। कविता में जलते घरों के दृश्य उभरते हैं। घरेलू सामान जैसे फ्रिज, अलमारी, बिटिया का बस्ता और अन्य सामान जल चुके हैं। पिता को बेटी की सभी वस्तुएं याद आती हैं जो एक पूरी दुनिया को समेटे हुए थी – ''बिटिया का बस्ता/जिसे सहेज कर रखती थी करीने से/एक–एक चीज़/पेंसिल कटर और रबर/कॉपी, किताब/हेयर पिन, फ्रेंडशिप बैंड/बस्ता नहीं एक दुनिया थी उसकी।''[18] गोहाना की चिरायंध चारों ओर हवा में फैल रही थी। लोग गर्व भरे अट्टहास से लूटपाट, हिंसा, बर्बरता को फैला रहे थे। कविता में कारुणिक दृश्य उभरता है – ''गोहाना की चिरायंध/फैली है हवा में/जहाँ आतताई भाँज रहे हैं/लाठी, सरिये, गंड़ासे/पटाखों की लड़ियाँ/दियासलाई की तिल्ली/और जलती आग़ में झुलसता भविष्य।''[19] शहर और गांव दोनों जगह हादसे होते हैं। गांव में जमींदारी प्रथा है तथा भूमिपतियों का दबदबा रहता है। 'सदियों का संताप' संग्रह की कविताओं में ग्रामीण समाज के शोषक चरित्र बेनक़ाब हुए हैं। यह सही है कि खेत, हल, कुआं, बैल, तालाब और फसल आदि सभी भूमिपतियों के हैं। दलित केवल श्रम कार्य करते हैं, उनका अपना कुछ भी नहीं। दलितों को बेगार करने को विवश किया जाता था। शोषक और शोषित, भूमिपति और मज़दूर का भेद यथार्थ ढंग से कविता में अंकित हुआ है। कवि की 'ठाकुर का कुआं' कविता में इन प्रश्नों को उठाया गया है– ''चूल्हा मिट्टी का, मिट्टी तालाब की/तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की, रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का, खेत ठाकुर का/बैल ठाकुर का, हल ठाकुर का, हल की मूठ पर रखी हथेली अपनी।''[20]

दलितों के पास खेत, भूमि और घर नहीं रहे। सदियों से उन्होंने कभी जंगल काटे, कभी खेती की, कभी नदी–कुएं खोदे और कभी युद्ध लड़े थे। लेकिन इन वंचितों का जीवन नहीं बदला। भूखे–प्यासे लोग श्रम कार्य करते रहे। गुलामों को अपनी गुलामी से मुक्ति नहीं मिली। कवि की कविता में दमितों का यथार्थ उभरता है– ''काटे जंगल/खोदे पहाड़/बोए खेत/फिर भी रहे भूखे/बनाई नहरें/खोदे कुएं/लगाए नल/फिर भी रहे प्यासे/लड़े युद्ध/जीते भूखण्ड/बदले राज/फिर भी रहे दास।''[21] नयी सदी में ईश्वर और देवता भी नंगे हो गए हैं। दलिकों ने शास्त्रों, धर्मग्रन्थों और स्मृति ग्रन्थों पर प्रश्नचिन्ह लगाए हैं क्योंकि देवता भी दलितों के वध में सम्मिलित होते रहे हैं। कवि ने अनेक प्रश्नों का कविता में उठाया है– ''काशी के मणिकर्णिकाघाट पर ?/ क्यों नहीं उमड़ा चक्रवात/महासागर की विस्तृत लहरों पर?/जब पुष्प वर्षा की थी देवताओं ने/तपस्वी की हत्या पर।''[22]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता नयी सदी के ज्वलंत मुद्दों को कविता के केन्द्र में रखती है। उनकी कविता दलित मनुष्य की अस्मिता, उसके अस्तित्व की

पहचान, उसके संघर्ष और विद्रोह को यथार्थ ढंग से व्यक्त करती है। हजारों वर्षों के संतप्त मनुष्य अपने मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनकी कविता सामाजिक समता, आर्थिक न्याय, मानवीय स्वाधीनता का स्वर गुंजित करती है। सदियों से वंचित रहे दलित, शोषित, पिछड़े और हाशिए के समुदायों की वेदना, शोषण एवं अन्याय के खिलाफ़ विद्रोह तथा मानवीय मूल्यों के प्रति उनका संघर्ष प्रामाणिक बन सका है। बोलचाल की सहज भाषा में उनकी कविता का जन्म होता है। सामाजिक–आर्थिक विषमताओं के प्रति प्रहार करते हुए विस्तार होता है। जाति–वर्ण –रंग –वर्ग का वैषम्य के जीवन पर व्यंग्य उभरता है। भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति विद्रोह की चेतना उभरती है। सदियों के संताप के प्रति आक्रोश उभरता है तथा धार्मिक पाखण्ड और शास्त्रों की जड़ताओं के विरुद्ध नकार का स्वर है। नयी सदी में हाशिए के लोगों की भूख, ग़रीबी, अशिक्षा, बेरोज़गारी जैसी ज्वलंत समस्याओं की ओर ध्यानाकर्षण हुआ है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता नयी सदी की यात्रा का महत्वपूर्ण दस्तावेज़ बन गई है।

सन्दर्भ

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, शब्द झूठ नहीं बोलते, पृ. 11
2. वही, पृ. 18
3. वही, पृ. 24
4. वही, पृ. 32
5. वही, पृ. 115
6. वही, पृ. 100
7. वही, पृ. 15
8. वही, पृ. 112
9. वही, पृ. 108
10. वही, पृ. 57
11. वही, पृ. 49
12. वही, पृ. 85
13. वही, पृ. 80
14. वही, पृ. 81
15. वही, पृ. 23
16. वही, पृ. 27
17. वही, पृ. 31
18. वही, पृ. 60
19. वही, पृ. 60
20. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सदियों का संताप, पृ. 31
21. ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स ! बहुत हो चुका, पृ. 53–54
22. वही, पृ. 47

हिन्दी

मोहन राकेश के साहित्य में जीवन-दर्शन

–डॉ.ग ीता सिंह*

मोहन राकेश ने जिस काल खण्ड में साहित्य सृजन किया, उस समय स्वाधीन भारत में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक ही नहीं सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संघर्ष का भी एक अलग स्वरूप दिखाई पड़ रहा था। साहित्य समाज का केवल प्रतिबिम्ब नहीं होता क्योंकि साहित्यकार कोई निर्जीव दर्पण नहीं है। वह एक संवेदनशील प्राणी है जो अपने सामाजिक सरोकार के बन्धन में बंधा है और जरूरत पड़ने पर उन सरोकारों का अतिक्रमण भी कर सकता है और नये विचारों को उसमें शामिल करता है। मोहन राकेश के जीवन–दर्शन का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे मानव समाज को जड़ नहीं मानते और यथास्थिति को भी नहीं, स्वीकार करते। अस्तित्व की चेतना सदैव उनकी रचनाओं में सामाजिक जीवन में स्वयं के लिए स्थान खोजती रहती हैं। आषाढ़ का एक दिन में कालिदास अपने अस्तित्व के संघर्ष में ही भटकते ही दिखाई पड़ते हैं– ''मैं अपने को सहारा देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूंगा और सामान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बांट दूंगा परन्तु मैं स्वयं ही परिस्थितियों के हाथों बनता और प्रेरित होता रहा। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे–धीरे खण्डित होता गया..... यह नहीं सोचा कि द्वन्द्वव्यक्ति तक सीमित नहीं होता, परिवर्तन एक ही दिशा को व्यक्त नहीं करता।''[1] मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए एक व्यक्ति का द्वन्द्वसमाज का द्वन्द्व भी होता है। यदि मोहन राकेश ने कालिदास के काल खण्ड को अपने नाटक का विषय चुना तो निश्चित ही रचनाकार के समक्ष कुछ ऐसी चुनौतियां रही होगीं जो प्रायः हर समय में उपस्थित रहती हैं।

मोहन राकेश के साहित्य में यथार्थ का जो स्वरूप है उसमें उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों को समग्रता के साथ विश्लेषित किया है। गिरते मानव मूल्य का यथार्थ चित्रण भी जन–जागरूकता का कारण होता है। मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक में मध्यवर्गीय समाज का वह यथार्थ रूप सामने आता है जो इस वर्ग की वास्तविक्ता से परिचित कराता है। जैसे– ''शायद अपने बारे में इतना कह देना काफी है कि सड़क के फुटपाथ पर चलते समय आप अचानक किसी आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं हूं। आप सिर्फ घूमकर मुझे देख लेते हैं– इसके अलावा मुझसे कोई मतलब नहीं रखते कि मैं कहां रहता हूं, क्या काम करता हूं, और किन–किन परिस्थितियों में जीता हूं। आप मतलब नहीं रखते क्योंकि मैं भी आपसे मतलब नहीं रखता और टकराने के क्षण में आप मेरे लिए वहीं होते है, जो मैं आपके लिए होता हूं।''[2] आदमी अपने में इतना संकुचित हो गया है कि किसी से किसी को मतलब नहीं है। यह

*एसो0 प्रोफेसर एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, आजमगढ़ (उ0प्र0)
सम्पादक : 'अखिल गीत शोध दृष्टि' (अन्तर्राष्ट्रीय शोध जर्नल) आजमगढ़ (उ0प्र0)

दृष्टान्त नाटककार के जीवन दर्शन के माध्यम से उनके समय की सच्चाई को अभिव्यक्त करता है।

मोहन राकेश ने अपने साहित्य में यथास्थितिवाद का प्रतिरोध करते हुए सामाजिक रूढ़ियों का रचनात्मक प्रतिवाद किया है। उनकी कहानियों में उनकी पक्षधरता वर्ग–संघर्ष की अवस्थाएं प्रचतिल अर्थो में नहीं हैं परन्तु 'मवाली' और 'क्लेम' जैसी कहानियों में उनकी पक्षधरता यथास्थिति का विरोध करते हुए दिखाई पड़ती हैं। 'मवाली' पर टिप्पणी करते हुए अर्जुन के0 तड़वी ने अपनी पुस्तक मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण में लिखा है–बाद में वह बच्चा ताबीज ढूंढता रहा....... वह दम्पति भी चला गया पर लेखक ने हमें यह दिखाया है कि अपने बच्चे को चाहने वाले भी कई पराये बच्चे को अच्छी नजर से नहीं देखते। अभिजात्य वर्ग के स्त्री–पुरुष के मन में यह पूर्वाग्रह बन चुका है कि मजदूरी करने वाले, माल ढोने वाले बच्चे और मवाली होते हैं। उन्हें पीटते भी जरा दया आती शायद ऐसे दम्पत्ति ऐसे गरीब लड़के को इन्सान मानने को तैयार नहीं हैं। गोद में कुत्ते को संभालने वाले मनुष्य के बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं।''[3] यथास्थिति के विरूद्ध यह क्रान्तिकारी प्रमाण नहीं है परन्तु जीवन की विसंगतियों के माध्यम से आक्रोश की अभिव्यक्ति उस परिववर्तन का संकेत अवश्य करती है जो पूंजीवादी–सामंतवादी व्यवस्था से संघर्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थ का संवदेनशीलता के साथ वर्णन भी यथास्थिति के विरोध का एक माध्यम है। इसका प्रमाण हमें 'अंधेरे बन्द कमरे' के ठकुराइन वाले प्रसंग से भी मिलता है मध्यवर्गीय संकीर्णता को तोड़कर ही कोई सार्थक विकल्प रखा जा सकता है 'न्यू हेराल्ड' के संपादक का कथन है– ''मुझे कई बार यह सोचकर बहुत अफसोस होता है, मधुसूदन, कि हम लोग जो काम करते है, उसमें ज्यादातर काम ऐसा होता है जिसका सम्बन्ध केवल आज और कल की घटनाओं के साथ होता है। अपने आस–पास की जिन्दगी की तह में उतरने का प्रयत्न हम लोग बहुत कम कर पाते हैं मगर हमें कभी–कभी ऐसा कुछ प्रयत्न करना जरूर चाहिए।''[4]

नाटक 'आषाण का एक दिन' मे ऐतिहासिकता समकालीनता में बदल जाती है। अम्बिका के चरित्र को देखने से क्या यह प्रतीत होता है कि यह किसी ऐतिहासिक नारी पात्र का चित्रण हैः ''तुम्हारी अपेक्षा में फिर भी स्वस्थ हूं। यह घर सदा से इस अवस्था में नहीं है राजवधू! जब मेरे हाथ चलते थे, मैं प्रतिदिन इसे लीपती–बुहारती थी। यहां की हर वस्तु इस प्रकार गिरी टूटी नहीं थी। परन्तु आज तो हम दोनों मां–बेटी भी यहां टूटी–सी पड़ी रहती हैं।''[5] इस प्रकार मोहन राकेश न तो इतिहास में बंधते हैं न ही आधुनिकता में फंसते हैं वे समकालीन जीवन–सन्दर्भो के साहित्यकार हैं, जिसमें उनका सामाजिक दर्शन पिरोया हुआ हैं।

राकेश मध्यवर्ग के रचनाकार हैं परन्तु मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों के कई रूप हैं। जिसका हर रूप अन्तविरोधों से ग्रस्त है जिसका कारण बदलता समाज एवं पूर्व निर्मित संस्कार है। साहित्यिक सराकारों से इनका संघर्ष स्वाभाविक है। इन्होंने अपनी कहानियों में मध्यवर्ग के सभी रूपों का कलात्मकता के साथ चित्रण किया है 'जख्म' उनकी छोटी कहानी है जो कथ्य की तुलना में कथ्य बिम्बो के कारण अधिक चर्चा में आयी है परन्तु ध्यान से पढ़ने पर इसमें व्यक्तिवादी मध्यवर्गीय चरित्र का विडम्बनापूर्ण चित्र दिखाई पड़ता है।

कथानायक के हाथ पर गहरी चोट है वह उसे लेकर भटकता रहता है। उसके व्यक्तित्व का एक रूप यहां देखा जा सकता है– ''हाथ पर खून का लोंदा......सूखे और चिपके हुए गुलाब की तरह। फुटपाथ पर औंधे पीपे से गिरा गाढ़ा कोलतार....... सर्दी से ठिठुरा और सहमा हुआ।........ मलवा झड़कर नाली से गिरता हुआ।........ बिजली के तारों से ढका आकाश......... रात के रंग में रेंगता हुआ। चिकने माथे पर ढाढ़ी, काली भौंहे....... उंगली और अंगूठे सहलायी जा रही है।''[6] इस कहानी

का दूसरा पक्ष यह है कि कथानायक दूसरों के दुख में दुःखी हो जाता है और कुछ कर नहीं पाता। इससे अत्याधिक परेशान भी हो जाता है अर्थात् ऐसी संवेदना किस काम की, जो स्वयं व्यक्ति के बिखराव का कारण बन जाये।

मध्यवर्गीय अन्तर्विरोध का सम्पूर्ण चित्रण उनके नाटक आधे अधूरे में हुआ है। पूरा परिवार अन्तविरोध में जीवन–यापन कर रहा है। जिसकी भयावहता से परिवार में संघर्ष हो सकता हैं। अशोक को अपने पिता से सहानुभूति है किन्तु वह कुछ कर नहीं सकता क्योंकि उसमें संघर्ष करने की चेतना नही है। एक संवाद में अन्तर्विरोध देखिए–

बड़ी लड़की : यह डिब्बा खोल देगा तूं ?

लड़का : मुझसे नहीं खुलेगा।

बड़ी लड़की : तो लाया किसलिए था ?

लड़का : तूने कहा था जो–जो उधार मिल सके, ले आ बनिये से, मैं उधार में एक फोन भी कर पाया।

बड़ी लड़की : कहां ?

लड़का : जुनेजा अंकल के यहां।'[7]

इस संवाद के समय लड़का ताश खेल रहा है। बड़ी लड़की घर की स्थिति एवं उधार लेने का बयान कर रही है। उधार लेकर लड़का गर्व महसूस कर रहा है और उसे बड़ी उपलब्धियां समझता है। यह मध्यमवर्ग का एक चित्रण है। जिससे लगातार संघर्ष करते हुए मोहन राकेश दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार 'आखरी चट्टान तक' में कपूर के चरित्र में मध्यवर्ग की दुष्प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं। नाटककार ने लिखा है : ''खुशकिस्मती इतनी ही थी चार–पांच रोज बाद वह चला गया। जाते हुए मेरी एक किताब मार ले गया। उसके जाने से दो–एक दिन पहले एक और चीज का भी पता चला। रूबी को जो चौदह रूपये उसने उधार दिये थे, वे भी उसके अपने नहीं थे। धनंजय नाम के एक युवक से अपने प्यार का रोना रोकर उसने पचास रूपये लिए थे, जिसका चौथा हिस्सा मुश्किल से रूबी तक पहुंच पाया था।''[8] राकेश जी ने यहां कपूर के माध्यम से मध्यवर्गीय पात्र का चित्रण किया है। जो उनका अवांछित पात्र है जिसके कृत्यों को समाज के सामने उपस्थित करके मध्यमवर्ग की चालाक भरी साजिशों को बेनकाब करने का पूरा प्रयत्न किया है।

अनेक आलोचकों ने राकेश के साहित्य संसार में अस्त्विवादी दर्शन की खोज की है। अभी तक उनके उपन्यासों एवं कुछ कहानियों को लेकर यह विमर्श में है 'आषाण का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' दोनों नाटकों में अस्तित्व चेतना एक प्रकार की है तथा 'आधे–अधूरे' एवं उनके तीनों उपन्यासों में अस्तित्व चेतना दूसरे प्रकार की है, परन्तु कोई भी कृति सामाजिक जीवन से पलायन की ओर नहीं जाती। वे व्यक्ति के अस्तित्व में ही समाज का अस्तित्व खोजते है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मानव–मुक्ति की समस्या को ही सही अर्थो में उपजीव्य बनाया गया है। ज्योतिष जोशी ने लिखा है कि ''इस नाटक की सबसे मुख्य विशेषता यह कि पाठ और प्रस्तुति के माध्यम से इसने आज की व्यक्ति की मूल समस्या को स्वर दिया है। आधुनिक विकास में निबद्ध होकर इसने व्यक्ति की मुक्ति का प्रश्न उठाया। इसने दिखाया कि जीवन की सार्थकता क्या है, यह ध्वनित करने में सफल सिद्ध हुआ कि अपने को पूर्णतः में पा लेना ही सार्थक जीवन है वर्ना भौतिक समृद्धि की प्राप्ति के बावजूद यदि आत्मबोध नहीं पाया जा सका तो सब व्यर्थ, अकारथ है।''[9] यह आत्मबोध न स्व को नकार पाया जा सकता है न समाज का विसर्जन करके।

मोहन राकेश के साहित्य में जनजीवन के संघर्षों की ऐसी अभिव्यक्ति मिलती हैं जैसी कई मान्य जनवादी रचनाकारों में भी नहीं मिलती। उनकी कहानियों में जहां अभाव एवं गरीबी का चित्रण मिलता है, वहां उनकी जनवादी दृष्टि ही दिखाई पड़ती है। 'आषाढ़ के एक

दिन' में मातुल का राजसत्ता के विषय में मन्तव्य अथवा दन्तुल को कालिदास का दिया गया उत्तर, जनवादी चेतना का ही परिचायक है। मोहन राकेश जहां स्त्री–चेतना की बात करते हैं, वहां भी उनकी जनदृष्टि ही प्रेक्षेपित होती है। ''राकेश जी की नारी चरित्रों को जो चीज विश्वसनीय और सजीव बनाती है,'' वह है उनका अन्तर्द्वन्द्व। नारियां प्रायः दो विकल्पों के बीच झूलती है, निर्णय नहीं ले पाती...... इसलिए निराश रहती हैं। उनके चरित्र की गहरी उदासी कहानी के रोयें–रेशों में समाये रहती है। इसलिए राकेश जी की कहानियां हैं विशेष क्षणों में भोगे गये यथार्थ की कहानियां। उनके नारियों के चरित्र को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह तो यथार्थ है।''[10] मोहन राकेश की जनवादी चेतना उनकी डायरी और वृतांत में अधिक स्पष्ट है। त्रिवेन्द्रम में स्नातक युवक के बातों को जनवादी उद्धरण में लिया जा सकजा है : ''अभी कुछ ही दिन पहले एक लड़की उस सामने की चट्टान से कूदकर आत्म हत्या करने आयी थी। वह कुंवारी थी और उसके बच्चा होने वाला था।''[11] क्या इसे पलायन कहा जायेगा। आत्महत्या सदैव पलायन का प्रतीक नहीं होती। आत्महत्या सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न भी उठाती है। उस स्नातक युवक के स्वर में समाज एवं व्यवस्था के प्रातः प्रतिरोध भाव है, जो जनवादी को उजागर करता है।

सन्दर्भ

1. रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक : मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ– 139–140
2. आधे–अधूरे : मोहन राकेश, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1969 पृष्ठ– 12
3. डॉ0 अर्जुन भाई के0 तड़वी : मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण, राजबुक इण्टर प्राइजेज, जयपुर 1990 पृष्ठ– 167
4. अंधेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश, राजकमल पेपर बैक, नयी दिल्ली 1984, पृष्ठ– 56
5. रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक : मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली, 1973, पृष्ठ– 128
6. मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियां : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1984 पृष्ठ– 440
7. आधे अधूरे : मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1969, पृष्ठ– 59
8. रात बीतने तक अन्य ध्वनि नाटक : मोहन राकेश, राजपाल प्रकाशन नई दिल्ली, 1973 पृष्ठ– 173–174
9. जोतिष जोशी : मोहन राकेश का नाट्य गौरव, सं0 कमलेश सिंह नरेन्द्र प्रकाशन इलाहाबाद 2007, पृष्ठ– 65
10. डॉ0 अर्जुन भाई के तड़वी : मोहन राकेश के साहित्य का सामाजिक चित्रण, राजबुक इण्टर प्राइजेज, जयपुर 1990 पृष्ठ– 113
11. रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक : मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1973, पृष्ठ– 183

हिन्दी

राहुल का साहित्य संसार

—जगदीशप्रसादब रनवाल' कुन्द'*

'बाईसवीं सदी' राहुल जी द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास है। इसकी रचना उन्होनें यद्यपि 1918 ई0 में ही कर ली थी किन्तु उक्त पाण्डुलिपि कहीं खो जाने के कारण पुनः स्मृति के आधार पर उन्होनें 1924 ई0 में हजारीबाग जेल में लिख कर पूरा किया।

1924 ई0 में लिखी गयी इस पुस्तक में दो सौ वर्ष बाद अर्थात् 2124 ई0 में घटित हुई घटनाओं को वर्तमान मानते हुए विवरणों को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसके माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि आने वाला दिन उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी है। इसमें कथा के नायक का नाम विश्वबन्धु है जो तीस वर्ष तक नालन्दा विद्यालय में अध्यापन करने के पश्चात् उत्तराखण्ड घूमने आये थे और उसी समय वहाँ की एक गुफा में उन्हें मूर्च्छा या नींद आ गयी। उस समय उनकी अवस्था साठ वर्ष की थी। उनकी मूर्च्छा दो सौ वर्ष बाद सन् 2124 ई0 में टूटी और उस समय उन्हें सर्वत्र, प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह सामाजिक हो, वैज्ञानिक या सांस्कृतिक हो विकास के लक्षण दिखायी दिये।

जीने के लिए

इस उपन्यास में एक निर्धन ग्रामीण बालक के बचपन से लेकर विविध नौकरियों के करने, पल्टन में भर्ती होकर युद्ध में घायल होने, स्वस्थ होने पर समाजसेवा से जुड़ने, मजदूरों किसानों के हक के लिए लड़ने और अन्त में सामन्ती ताकतों के प्रच्छन्न प्रहार से मृत्यु को प्राप्त होने तक की घटनाओं को निरूपित किया गया है। राहुल जी ने अछूतों के साथ हो रहे पशुवत व्यवहार, धर्म के दुरूपयोग, वर्तमान शासनतन्त्र में व्याप्त अनियमितता, सीधे सादे ग्रामीणों को अशिक्षित बनाये रखने की चाल आदि बातों पर भी इस उपन्यास के माध्यम से प्रकाश डाला है।

सिंह सेनापति

'सिंह सेनापति' राहुल के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रथम है। इसका कथानक बुद्ध काल का है। इसमें ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व के गणतन्त्रीय समाज की विषमताओं, राजतन्त्रीय प्रणाली, दासप्रथा, स्त्री पुरुष संबंध, धर्म संस्कृति आदि का जीवन्त और सजीव चित्रण किया गया है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास में वैशाली गणतन्त्र के सेनापति सिंह का अद्भुत पराक्रमपूर्ण जीवन चित्रित है तथा तक्षशिला एवं वैशाली के तत्कालीन गणतन्त्रीय व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। इसके विषय प्रवेश में उन्होंने व्यक्त किया है कि छपर जिले में एक खेत की खुदाई करते समय जमीन के अन्दर से बहुत सी ईटें निकलीं जिन पर ब्राह्मी लिपि में कुछ लिखा हुआ था। ये ईंटें नहीं थीं बल्कि पुस्तक के पन्ने थे। जिन्हें वैशाली प्रजातन्त्र के महान सेनापति सिंह द्वारा उकेरा गया था। मैंने उन्हें नागरी लिपि में बदल डाला जो 'सिंह सेनापति' पुस्तक के रूप में सामने है। प्राप्त समस्त सोलह सौं ईंटें पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिन्हें

*रेलवे स्टेशन बाजार, सर्फुद्दीनपुर, आजमगढ़ (उ0प्र0)

वहाँ जाकर देखा जा सकता है।

राहुल जी का यह कथन सच की तरह प्रतीत होता है तथा पाठक के कौतूहल को बढ़ाने वाला है। यह एक अनूठा तथा नवीन प्रयोग है। कुछ इसी प्रकार की शैली का प्रयोग आचार्य पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में दिखायी देता है। लेखक की इस नयी शैली के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए राहुल जी ने 'विस्मृत यात्री' के दो शब्द में लिखा है कि, 'सिंह सेनापति को पढ़कर कितने ही पाठक म्यूजियम में उन ईंटों को देखने जाते हैं, जिनके ऊपर उस ग्रन्थ के लिखे होने की बात उक्त उपन्यास के आरम्भ में कहीं गयी है। यदि वह वस्तुतः ईंटों पर उत्कीर्ण होता, तो वह उपन्यास नही होता। ईटों के दर्शनार्थी पाठकों को समझ लेना चाहिए था कि वह उपन्यास है, हाँ ऐतिहासिक है, अर्थात् उस देश काल के देश काल पात्र की परिधि से बाहर नहीं जा सकता।''

जय यौधेय

सिंह सेनापति की भाँति जय यौधेय भी एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें ई0 सन 350–400 (गुप्त संवत 30–80) के भारत की राजनीति, सामाजिक अवस्था का चित्रण किया गया है। राहुल जी ने इस उपन्यास के लेखन में कालिदास के ग्रन्थों और उसी समय के यात्री चीनी भिक्षु फाहियान के यात्रा विवरण का उपयोग करने के साथ ही डाक्टर अल्तेकर, प्रोफेसर राखाल दास बनर्जी और डा0 आर0 एन0 डण्डेकर के ग्रन्थों, गुप्तकालीन शिलालेखों और सिक्के से भी काफी सहायता ली है। उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में है तथा इसमें गुप्त सम्राटों के समकालीन गौरवशाली यौधेयगण के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को कथानक की पृष्ठभूमि बनाया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा अपनी अर्थलोलुप और राज्य विस्तार की नीति के कारण यौधेय गणराज्य पर आक्रमण तथा अपनी जन्मभूमि की रक्षा के लिए जय द्वारा अपने सहयोगियों की सहायता से गुप्तों से वीरतापूर्वक मुकाबला इस उपन्यास का मुख्य कथ्य हैं। इस युद्ध में यौधेय बच्चे बूढ़े सभी लाग लेते हैं फिर भी मौधेय पराजित हो जाते हैं और जय मृत्यु को प्राप्त होता है। इस उपन्यास में राजतन्त्रीय व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार, अत्याचार, वेश्यावृत्ति, धर्माडम्बर जैसी कुप्रवृत्तियों के विरूद्ध गणतन्त्रीय व्यवस्था के प्रति आस्था व्यक्त की गयी है। इसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य राजतन्त्रीय व्यवस्था का तथा जय का पराक्रम यौधेय की गणराज्य व्यवस्था का द्योतक है।

मधुर स्वप्न

'मधुर स्वप्न' ईरान मध्येशिया की पृष्ठभूमि पर लिखा गया एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका काल 500 ई0 के आसपास का है।

उपन्यास का नायक अन्दर्जगर है, जो बुद्ध से प्रभावित है तथा अपने उद्देश्यों से ईरानी जनता और तत्कालीन बादशाह क्वात को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उस समय एक ओर जहाँ वहाँ की अकाल पीड़ित जनता भूख से त्रस्त थी, वहीं सामन्ती प्रकृति वाले अपने भोग विलास के लिए नारियों की खरीद फरोख्त करने और उन्हें अपनी हवस का शिकार बनाने में लगे हुए थे। उदार शहँशाह क्वात को पीड़ित जनता की सहायता करने के कारण गद्दी से पदच्युत कर दिया जाता है किन्तु अन्दर्जगर इससे निराश नहीं होता है और सामाजिक आर्थिक वैशम्य को दूर कर समानता लाने का प्रयास करता है। वह एक गाँव दिहवगान, जो उसके मधुर स्वप्न का साकार रूप है, को अपना कार्यक्षेत्र बना कर उसे ऐसी व्यवस्था के अनुसार ढाल देता है, जहाँ सम्पत्ति पर सबका अधिकार है। नारी और पुरुष में कोई असमानता नहीं है। अन्दर्जगर का यह मानवतावादी विचार सामन्ती व्यवस्था के पक्षधरों को पसन्द नहीं आया और उससे उनके आक्रोश का शिकार होकर अपना बलिदान करना पड़ा। इस उपन्यास के माध्यम से राहुल जी ने समाजवादी व्यवस्था और मानवतावादी दृष्टिकोण को स्थापित करने का प्रयास किया इै।

राजस्थानी रनिवास

यह एक सामाजिक नायिका प्रधान उपन्यास है। घटनाक्रम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध वर्ष 1910 ई0 से 1952 ई0 के बीच से सम्बन्धित हैं। इसमें मुख्य पात्र गौरी है जिसकी आत्मकथा के माध्यम से सामाजिक विषमता, अंधविश्वास, आर्थिक पराधीनता, बंदिनी नारी तथा सामन्तवाद की अनेक विकृतियों का चित्र प्रस्तुत किया गया है। गौरी के जीवन में आयी अनेक परिचारिकाओं का भी उल्लेखनीय वर्णन है। कृति में राजस्थान के सम्पूर्ण जीवन को पूरी तत्परता के साथ चित्रित किया गया है।

विस्मृत यात्री

आत्मकथात्मक शैली में लिखा हुआ 'विस्मृत यात्री' उपन्यास छठी शताब्दी के एक ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित है। इसमें राहुल जी नें भारत भूमि पर वर्ष 518 ई0 में उत्पन्न एक बौद्धयात्री नरेन्द्रयश का चित्रण किया है जो प्रणय क्षेत्र में प्रेमिका भद्रा द्वारा तिरस्कृत होकर भारत, लंका, चीन आदि देशों में घूमता हुआ बौद्ध धर्म का प्रचार एवं विभिन्न जातियों और व्यवस्थाओं के लोगों के सम्पर्क में आकर नये अनुभवों को प्राप्त करता है। भारतीय समाज में व्याप्त उस वर्णव्यवस्था में जिसमें चाण्डालों और शूद्रों के साथ क्रूर व्यवहार किया जाता है, से उसको कष्ट पहुँचता है। बौद्धस्थलों में व्याप्त विलासिता और वैभव प्रदर्शन से भी वह दुखी होता है। जनसेवा के प्रति समर्पित चिकित्साशास्त्र से उसे अत्यधिक प्रेम है। इस प्रकार सरलता और सहजता की प्रतिमूर्ति वह अपनी प्रगतिशील चेतना के आधार पर अनेक समस्याओं का समाधान भी करता है। चूँकि भारतीय इतिहास का यह स्मरणीय घुमक्कड़ पात्र मस्तिष्क से विसर चुका था, अतः राहुल जी ने इसे 'विस्मृत यात्री' नाम दिया है।

दिवोदास

'दिवोदास' राहुल जी द्वारा लगभग बारह सौ ईश्वीपूर्व के कालखण्ड पर लिखा हुआ लघु एवं अन्तिम उपन्यास है जिसमें सप्तसिन्धु के आर्यों और दस्युओं का संघर्ष चित्रित है। इसमें ऋग्वेद की बारह ऋचाओं से शुरू बारह कथाओं के माध्यम से ऋग्वैदिक आर्यो के जीवन–संघर्ष, शौर्य, अपराजेय शक्ति और उनके प्रसार विस्तार आदि का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया गया है जिससे तत्कालीन सामाजिक जीवन की पूर्व झाँकी देखने को मिलती है। दिवोदास उपन्यास का नायक है। उसके द्वारा शम्बु और शम्बर पर विजय प्राप्त करने, पणियों को परास्त कर किरातों की सौ पुरियों को जीतने, महर्षि भारद्वाज की प्रेरणा से आर्यो का शौर्य परिपुष्ट होने आदि की घटनायें उपन्यास की विषयवस्तु हैं।

कहानी संग्रह

राहुल जी ने ग्रामीण, नगरीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर अतीत से लेकर वर्तमान तक की घटनाओं को कुछ यथार्थ कुछ कल्पना का पुट देते हुए बहुत सी कहानियों की रचना की है जो भिन्न भिन्न कहानी संग्रहों में संकलित हैं। ये कहानियाँ भी उनकी अन्य रचनाओं की भाँति चर्चित, प्रशंसित तथा विवादित है। राहुल जी द्वारा प्रस्तुत चार कहानी संग्रह हैं जिनके नाम सतमी के बच्चे, वोल्गा से गंगा, बहुरंगी मधुपुरी और कनैला की कथा है।

सतमी के बच्चे

'सतमी के बच्चे' कहानी संग्रह में राहुल जी ने अपने ननिहाल पन्दहा की बाल्यस्मृतियों को कई कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उस संकलन में सतमी के बच्चे, डीह बाबा, पाठक जी, पुजारी, स्मृतिज्ञान कीर्ति, जयसिरी, राजबली, रामगोपाल, धुरविन तथा दलसिंगार शीर्षक से कुल दस कहानियाँ दी गयी हैं। सतमी के बच्चे इस संग्रह की मुख्य कहानी है। इसमें निराश्रित सतमी अहीरिन अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण अपने बच्चों की यथोचित देखभाल नहीं कर पाती है और असमय उसके चार बच्चे काल कवलित हो जाते हैं। उसकी पुत्री सुखिया भी पति पक्ष से पीड़ित होकर माँ के ऊपर भार स्वरूप है। इसमें माँ बेटी दोनों का संघर्षमय जीवन अंकित है।

सभी कहानियाँ दयनीय ग्राम्य जीवन का वास्तविक दृश्य उपस्थित करती हैं। समस्त कहानियों के नायक राहुल जी के बचपन के परिचित हैं। इस संग्रह की एक कहानी स्मृतिज्ञान कीर्ति अकेली पुरानी ऐतिहासिक कहानी है, जिसकी सामग्री उन्हें तिब्बत में मिली थीं।

वोल्गा से गंगा

'वोल्गा से गंगा' राहुल जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कथा संग्रह है, जो प्राग्वैदिक काल से 1944 ई0 तक के भारतीय समाज को समेटता है, यद्यपि कहानियों का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक है। इस पुस्तक में कुल बीस कहानियाँ दी गयी हैं, जिनमें निशा, दिवा, अमृताश्व, पुरूहूत, पुरूधान, अंगिरा, सुदास, प्रवाहण, बन्धुल, मल्स, नागदत्त, प्रभा शीर्षक की ग्यारह कहानियाँ 6000 ई0 पूर्व से लेकर 50 ई0 पूर्व तक के काल पर आधारित हैं। सुपर्ण यौधेय, दुर्मुख, चक्रपाणि, बाबा नूरदीन, सुरैया, रेखा भगत, मंगल सिंह, सफदर, सुमेर शीर्षक नौ कहानियाँ 420 ई0 से लेकर 1942 ई0 तक के घटनाक्रम को प्रस्तुत करती हैं।

कल्पना और यथार्थ से समन्वित इन कहानियों के माध्यम से राहुल सांकृत्यायन ने हजारो वर्षों के इतिहास, सामाजिक विकास क्रम और सभ्यता संस्कृति के उत्थान पतन की कलात्मक प्रस्तुति की है। कहानियों में जिन विषयों पर चर्चा की गयी है, वे हिन्दी साहित्य में लगभग अछूते ही थे। कहानियों के परिदृश्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने 'वोल्गा से गंगा' के द्वितीय संस्करण में लिखा है कि, ''लेखक की एक एक कहानी के पीछे उस युग से सम्बन्ध की वह भारी सामग्री है जो दुनिया की कितनी ही भाषाओं, तुलनात्मक भाषा विज्ञान, मिट्टी, पत्थर, ताँबे, पीतल, लोहे पर सांकेतिक व लिखित साहित्य अथवा अलिखित गीतों, कहानियों, रीति रिवाजों, टोटके टोनों में पासयी जाती हैं।''

कनैला की कथा

.'कनैला की कथा' में राहुल जी ने अपने पितृग्राम कनैला का प्राग्ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक का इतिहास लिखा है। इसमें दी गयी कहानियों को कहानी कम संस्मरण या पुरातात्विक विवरण अधिक कहा जा सकता है। इसमें 'त्रिवेणी, काशीग्राम, बड़ी रानी, देवपुत्र, कलाकार, सैयद बाबा, नरमेध, सन् 57, स्वराज्य शीर्षक से नौ कहानियाँ जिनका घटनाकाल 1300 ई0 पूर्व से 1957 ई0 के मध्य का है, दी गयी हैं। कनैला में उनका बचपन बीता था किन्तु बाल्यावस्था में उस स्थान के ऐतिहासिक महत्त्व से वह अनभिज्ञ थे।

13 फरवरी 1957 को वह पुरातात्विक सामग्री देखने के लिए कनैला आये थे। उस दौरान उन्होंने जिन स्थानों, व्यक्तियों, गतिविधियों से परिचय प्राप्त किया, उन्हें ही उन्होंने अपनी कहानियों में उतारा है। वास्तव में कनैला की कथा के माध्यम से लेखक ने भारत के पूर्व ऐतिहासिक काल और कालानुक्रम में होने वाले सामाजिक रूपान्तरों का लेखा जोखा प्रस्तत किया है। पुस्तक का समर्पण उन्होनें अपनी प्रथम परिणीता को इन शब्दों में किया है। ''समर्पण– उसी प्रथम परिणीता को जिसका सारा जीवन मेरी महात्वाकांक्षाओं का शिकार हुआ।''

बहुरंगी मधुपुरी

क्मला पेरियार से विवाहोपरान्त राहुल सांकृत्यायन ने अपना निवास मसूरी को बनाया था। इसी मसूरी का नाम मधुपुरी रखते हुए उस नगरी के उतार चढ़ाव, पराधीन भारत में अंग्रेजी काल के इसके रूप और वैभव को लेकर स्वाधीन भारत तक के उत्थान पतन और आर्थिक सामाजिक जीवन स्तर का वर्णन, बूढ़े लाला, हाय बुढ़ापा, कुमार दुरंजय, मेम साहब, महाप्रभु, लिपष्टिक, ठाकुर जी, रामबहादुर, गुरू जी, मीनाक्षी, गोलू, रूपी, राउत, कमल सिंह, डोरा, विसुन, पेड़ बाबा, सुल्तान, मास्टर जी, चम्पो, काठ का साहब शीर्षक वाली इक्कीस कहानियों में किया गया है। कहानियों में गौरांग, स्त्री पुरुष, सामंत, रजवाड़ें, सेठ सेठानियाँ, दुकानदार, किसान, रूपजीवा स्त्रियाँ, भंगी, जमादार जैसे चरित्र है और ह्रासोन्मुख पूंजीवाद में समाज की

सडांध को दर्शाया गया है।

अनुवाद कार्य

1923—25 ई0 में राहुल जी दो वर्ष हजारीबाग जेल में थे। उसी अवधि में उन्होंने स्वान्तः सुखाय अंग्रेजी उपन्यासों का हिन्दी में 'शैतान की आँख', विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क और सोने की ढाल नाम से अनुवाद किया था। मूल उपन्यासकारों के नाम उन्हें याद नहीं रह गये थे। अनुवाद में बहुत अधिक स्वतन्त्रता से काम लिया गया है।'' इसके अतिरिक्त एक और उपन्यास का अंग्रेजी से अनुवाद 'निराले हीरे की खोज' के नाम से उन्होंने किया था।

'शैतान की आँख' उपन्यास के मुख्य पात्र हैं विजयशंकर, हीरामोहन, माधव। वे अपनी चुनौतीपूर्ण जलयात्राओं द्वारा दुर्लभ वज्रमणि का रहस्य उद्घाटित करते हैं, जिसे मुर्दों की गुफा वाली शैतान की आँख कहा जाता है। 'विस्मृति के गर्भ में' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है जो मिश्र और अफ्रीका के पुरातात्विक स्थलों की रहस्यात्मकता एवं उनके दृष्टान्तों पर आधारित है। उपोद्घाट से यह स्पष्ट होता है कि इसमें भी राहुल जी ने उत्सुकता जगाने वाली उसी प्रवृत्ति का अनुकरण किया है जैसा कि सिंह सेनापति में है।

'जादू का मुल्क' मध्य एशिया में स्थित एक रहस्य एवं रोमांच सें युक्त स्थान है जो तुंगाला जाति के निवास का पर्याय है। इसमें पालि नामक जादूगर तुंगाला जाति के मनुष्यों पर शासन करता है। तीन साहसी युवक इस क्षेत्र की सच्चाई उजागर करने को कृत संकल्प हैं। राहुल जी ने 'सोने की ढाल' के माध्यम से वैचारिक धरातल पर एकदम नया प्रयोग किया है। हिन्दी के प्रारिम्भक काल में बाबू देवकीनन्दन खत्री ने जिस प्रकार तिलस्मी उपन्यासों के पढ़ने के प्रति रूचि उत्पन्न की थी, कुछ ऐसा ही प्रभाव इस उपन्यास में दिखायी पड़ता है। इसमें सोने की ढाल प्राप्त करने के लिए किये गये संघर्ष की कहानी है। इसके पात्र कई देशों जैसे भारत, अरब रूस आदि देशों के हैं।

'निराले हीरे की खोज' राहुल जी द्वारा अनूदित उन बीस कहानियों का संग्रह है जो उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में किया था। इन सभी कहानियों पर राहुल जी की घुमक्कड़ी वृत्ति की छाप है। कहानियों का कलेवर अति मानवीय करूणा व रहस्यों से ओतप्रोत है।

राहुल जी ने 1947 से 1952 के बीच ताजिक भाषा के छः उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया था। इनमें से पाँच उपन्यास दाखुंदा, जो दास थे, अनाथ, अदीना और सूदखोर की मौत के लेखक सदरूद्दीन ऐनी तथा शादी के लेखक जलाल इकरामी है। ''दाखुंदा' उपन्यास ताजिक भाषा की बहुमूल्य निधि है। इसमें बुखारा और ताजिकिस्तान की सबसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं और वर्ग युद्ध का चित्र खींचा गया है। इसमें वर्णित घटनाओं का एक अपना राजनीतिक महत्त्व है। दाखुंदा में, पूर्वी बुखारा (ताजिकिस्तान) में 'बासमचियों का पैदा होना' अनवर पाशा का आकर उनसे मिल जाना तथा जदीदों से उनका एवं बासमचियों से संबंधों को बड़े विस्तार से बताया गया है। 'जो दास थे' उपन्यास में इतिहास के एक भाग का बहुत ही ज्ञानपूर्ण चित्रण है और शुरू से लेकर प्रजातन्त्र में कलाखोजों की स्थापना और नये जीवन के निर्माण तक पाठक को ले जाता है। इसमें विगत सौ वर्षों की घटनाओं को आधार बनाया गया है।

'अनाथ' एक छोटा उपन्यास है, जिसे ऐनी ने मुख्य रूप से ताजिक और उजबेक बालक बालिकाओं के लिए लिखा है जिनके प्रजातन्त्र अफगानिस्तान की सीमा पर पड़ते है। इसमें सीमान्त पार से होने वाले उपद्रवों का वर्णन है। यह पुस्तक मुख्यतया सीमान्त के तरूण तरूणियों को यह हृदयस्थ कराने के लिए लिखी गयी है कि मातृभूमि की सीमा रक्षा के लिए उन्हे कितना सजग रहने की आवश्यकता है। 'अदीना' में ऐनी ने क्रान्तिकारी ताजकिस्तान की एक भावपूर्ण कहानी तथा एक पहाड़ी लड़के के गरीबी से मजबूर होकर अपनी भूमि छोड़ काम

की खोज में भटकने के जीवन का वर्णन किया है। यह उपन्यास समरकन्द से निकलने वाले आवाजे ताजिक में 23 नवमबर 1924 ई0 से क्रमशः प्रकाशित हुआ था। 1927 ई0 में यह 'अदीना' नाम से पुस्तकाकार छपा।

'सूदखोर की मौत' उपन्यास में बुखारा के अमीरों का विशेष तौर से सविस्तार वर्णन किया गया है। इसमें बुखारा के कसाई की क्रूरतापूर्ण कहानी दी गयी है। वहाँ एक पुरानी पाठशाला में अनेक योग्य तरूणों का बचपन खराब किया जाता था। उसी स्थान पर एक दुष्ट सूदखोर और जनता के भारी शत्रु के जीवन का अवसान होता है। शादी उपन्यास भी तान्जिक भाषा का ही है। इसके लेखक का नाम जलाल इकरामी है। 1929 ई0 से 1939 ई0 के मध्य ताजिकस्तान में जो वैज्ञानिक, आर्थिक तथा औद्योगिक परिवर्तन हुए, उसका विश्वस्त चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। सहकारी कृषि व्यवस्था की भी इसमें प्रशंसा की गयी है।

राहुल जी की शिमला यात्रा के दौरान कबाड़ी की दुकान से उन्हें अंग्रेजी की एक पुरानी किताब फाउन्उर्स आफ इण्डिया इन ब्रिटिस रूल' मिली थी। इस पुस्तक का भी हिन्दी अनुवाद उन्होनें 'भारत में अंग्रेजी राज के संस्थापक' नाम से किया है।

राहुल जी ने अनुवादक के रूप में उल्लेखनीय कार्य किया है। वह चाहते थे कि विश्व की समस्त श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद हिन्दी भाषा में उपलब्ध हो। इसी उद्देश्य से उन्होंने अंग्रेजी और ताजिक भाषा की कई कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया था।

नाटक

राहुल सांकृत्यायन ने वर्ष 1942 ई0 में हजारीबाग जेल जीवन के दौरान छपरा की भाषा मल्लिका में आठ नाटकों की रचना की थी।

उन्होंने ग्राम्यबोली में नाटकों की रचना कर सामाजिक परिवर्तन के सारे अवयवों का सार्थक उपयोग किया और ये नाटक 'काव्येशु नाटकं रम्यं' के आधार पर राहुल जी का समर्थ कवि रूप भी हमारे सामने लाते हैं। अपने नाटकों में हृदय को छू लेने वाले अनेक प्रभावोत्पादक गीतों की सुन्दर सर्जना करने में भी वे पीछे नहीं रहे हैं। राहुल जी द्वारा लिखे गये आठो नाटक 'तीन नाटक' और 'पाँच नाटक' दो संग्रहों में सम्मिलित किये गये हैं। तीन नाटक संग्रह में 'मेहरारून के दुरदसा', 'नइकी दुनिया और जोंक' शामिल हैं। तीन नाटक के पहले नाटक 'मेहरारून क दुरदसा' की शुरूआत एक करूणापरक गीत से करते हुए एक ही माँ–बाप से उत्पन्न पुत्री में भेद भाव का मार्मिक चित्र खींच कर पुरुष प्रधान संस्कृति पर उन्होनें सीधे चोट की है–

एकै माई बपवा से एक ही उदरवा में,
दूनों के जनमनवा भइल, रे पुरूखवा।
पूत के जनमवा में नाच आ सोहर होला,
बेटी के जनम परे सोग रे पुरूखवा।
धनवा धरतिया पर बेटवा के हक होला
बिटिया का कुछु ओ ना हक, रे पुरूखवा।
मरदा के खइला कमइला के रहत बा,
तिरिया के लागेला केवाड़ रे पुरूखवा।।

इस नाटक के माध्यम से उन्होंने महिलाओं को रूढ़िवादिता से मुक्त होकर अपने हक की लड़ाई के लिए आगे आने का आह्वान किया है।

दूसरा नाटक 'नइकी दुनिया' है, जिसका प्रारम्भ इस गीत से होता है।

नइकी दुनिया के बसौले, ई कुलि दुखवा जाई ना।
जहॅवान के हुवे बड़ छोट लोगवा, सब्बै भाई भाई ना।
केहु केत गाजल बाड़े अन धन सोनवा,
केहू भुखिया तड़पै ना,
केहु त नहाला नित अतर गुललवा,
केहू पनिया तरसै ना,
चमवा के छाड़ि जब कमवा विचार होई,
तबे भुखिया भागी ना।।

इस नाटक में गंडा ताबीज, पूजा, उपासना एवं धार्मिक कर्मकाण्डों की खिल्ली उड़ायी गयी है।

अपने रूस प्रवास के दौरान राहुल जी ने वहाँ की साम्यवादी कार्यप्रणाली को नजदीक से देखा था, जिसमें शोषण का नाम नहीं था, अमीर–गरीब का भेद नहीं था, काम और अधिकार की समानता थी।

पारम्परिक प्रवृत्तियों से हट कर नवीनता के आग्रही राहुल का कहना था कि,

ढाहा भइल पुरनका घर ई
नइकी नेंव करा तइयार
नई हवेली सिरजा भाई
नयका होई अब संसार

नाटक 'जोंक' में दूसरों के श्रम और पैसे पर मौज उड़ाने वाले मठाधीशों को जोंक की संज्ञा देते हुए पात्र नोहर द्वारा इस कथन में परिभाषित कराया गया है।'' जेतना लोग दुसरा के कमाई पर, दुसरा के पसीना पर, दुसरा के खून पर जीयैला, ऊ सब जोंक हवैं। जब ले जोंक दुनिया में रहि हैं, जबले जोंकन के सरदारी रही, तब ले मजदूरन, किसानन, जांगरवालन के हॉड़ी पर ढकनी ना बइठी।'' इन जोंकों से मुक्ति दिला कर वह एक ऐसी दुनिया की कल्पना करते हैं, ''जौना में जोंक न रहें, जिमदार, मिल मालिक, सेठ साहूकार ना रहें, जौना में सब केहू के देह से काम करैके पड़े, सब केहू के खाये, कपड़ा रहे के पूरा इन्तजाम होखे। समुच्चा देश और दुनिया के एगो खानदान बनि जाय। हर करिया–गोर– बड़की–बड़की तनख्वाह वाली जोंक समाप्त हो जाय।

उनके सभी तीन नाटकों का अंत निम्नांकित गीत से होता है। प्रत्येक नाटक चार अंकों में विभक्त हैं तथा उनमें नाटक के पात्रों की संख्या क्रमशः आठ, बारह एवं उन्नीस है।

उठ उठ रे भुखबन्धुई उठु रे धरती के अभगिया।
बा न्याय बजर घेहरावत, जनमत बढ़िया संसरवा।
पुरूविज फिनु नाहीं बान्ही, उठु रे अब नहिं ते बन्हुई।
नइ नेंव उठत बा जगवा, ना रहली सब किछु होइवी।
आ जुटहुनु सखिया समुहें, ई आखिर बेरि लड़इया।

राहुल जी के दूसरे संग्रह 'पाँच नाटक' में ढुनमुन नेता, जरमनवा के हार निहचय, जपनिया राछछ, ई हमार लड़ाई और देसरच्छक नाटक संकलित हैं। टुनमुन नेता में एक ऐसे कांग्रेसी नेता का चित्रण है जो गिरगिट की तरह रंग बदलने में निपुण है तथा जिसका न कोई सिद्धान्त है न चरित्र। वह मंच से जमींदारों के विरूद्ध भाषण देकर कांग्रेस को वोट देने की बात करता है लेकिन जब जमींदारी उन्मूलन की बात आती है तो स्वयं जमींदार होने के नाते जमींदारों के पक्ष में हो जाता है। दुहरी भूमिका जीने वाले नेता ढुनमुन का परिचय इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

इनकर ढुनमुन हवे नॉव ई नेता हवें बड़भारी।
कबहूँ चरखवा खदरवा के गीत गावे मिलके कबहूँ मुँह तारी।
कबहूँ किसनवा, मजुरवा के रजवा, सेठन के कबहूँ पुछारी।
छिपि छिपि के गावे जपनवो के गितिया, इनकर रहे होशियारी।

शेष चारों नाटक द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। इनमें 'जरमनवा के हार निहचय' में जर्मनी की हार निश्चय होने की भविष्यवाणी की गयी है, जो सत्य भी हुआ। इस लड़ाई से किसान मजदूरों को होने वाले कष्ट का भी उल्लेख नाटक में किया गया है।

'जपनिया राछछ' नाटक में जापानियों द्वारा कोरिया एवं चीन में किये गये अत्याचारों तथा जापान में पनपती हुई वेश्यावृत्ति पर प्रकाश डाला गया है।

'ई हमार लड़ाई' में द्वितीय महायुद्ध को जनता की लड़ाई, 'पीपुल्स वार' का नाम देकर बिना किसी भेद भाव के उसमें खुलकर भाग लेने हेतु प्रोत्साहित किया गया है। 'देसरच्छक' नाटक में हिन्दुस्तानी सिपाहियों की बहादुरी का उल्लेख है। जब जापानियों की बम वर्षा से डर कर लोग बर्मा और बंगाल से भाग रहे थे, उस समय देशरक्षा की भावना से ओतप्रोत हो भारतीय सैनिकों द्वारा दर्शायी गयी, वीरता ही नाटक का मुख्य कथ्य है।

राहुल जी द्वारा ये सभी आठ नाटक जनजागृति के उद्देश्य से लोक भाषा मल्लिका में आजादी के पहले 1942 में लिखे गये। वे जानते थे कि लोक साहित्य और लोक भाषा के सही उपयोग के बिना लोक जागरण सम्भव नहीं है, क्योंकि वास्तविक लोकजीवन का यथार्थ लोकसाहित्य में प्रतिबिम्बित होता है।

राहुल जी ने अपने नाटकों का आरम्भ और अन्त गीतों से किया है, ये गीत लोकजीवन और लोकसंस्कृति के प्रति उनकी गहरी आस्था के प्रमाण हैं। विदेसिया, आल्हा, कहँरवा, सोहर आदि धुनों का उपयोग कर राहुल जी ने लोकसत्ता को स्वीकार ही नहीं किया है, मुक्तिकामी चेतना के प्रसार में उसे हथियार बनाया है। ग्रामीण क्षेत्रों में संघर्ष चेतना और यथार्थ चेतना जगाने के लिए राहुल जी ने इनका प्रणयन किया है। इनके पात्र ग्रामीण परिवेश के हैं जिन्हें खिलाड़ी कहा गया है। इनके सम्वाद तत्कालीन रूढ़िग्रस्त समाज पर कहीं व्यंग्यात्मक कटाक्ष करते हैं तो कहीं पूरी बौद्धिकता के साथ। नाटकों की अन्र्तवस्तु के अनुरूप शब्द संयोजन, संवाद संयोजन और भाषा शैली का निरूपण किया गया है। ये नाटक मंचन की दृष्टि से भी अति सफल हो सकते हैं क्योंकि दृश्यबन्ध भी कथ्यानुरूप है।

आत्मकथा

बचपन से ही जिज्ञासु राहुल के हृदय में दिनानुदिन ज्ञान का खजाना बढ़ता जा रहा था। उनके सम्पर्क सूत्रों की कड़ी लम्बी होती जा रही थी, दुनिया भी उनके कदमों के नीचे होने लगी थी। इस प्रकार स्वाभाविक ही है कि नित नये नये अनुभवों से पूरित उनका मन कुछ आप बीती कुछ जग बीती लिखने को उद्यत हो। उनके द्वारा लिखी गयी आत्मकथा, उनकी इसी सक्रियता का परिणाम है।

आत्मकथा यदि मात्र आत्मश्लाघा है तो इसका कोई मतलब नहीं, किन्तु आत्मकथा यदि जीवन के उन प्रसंगों से जुड़ी है, जिनमें जीवन के उतार चढ़ाव, संघर्ष के दिन, जो प्रेरणादायक हों, वर्णित हों, तो निश्चित ही उनका मूल्य होगा। राहुल जी द्वारा लिखी गयी आत्मकथा, जो 'मेरी जीवन यात्रा' के नाम से लिपिबद्ध है, 63 वर्षों के संस्मरणों को समेटे एक ऐसी ही ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी कृति है। हजार से अधिक पृष्ठों में समायी 'मेरी जीवन यात्रा' पाँच खण्डों में विभक्त है। यदि इस जीवन यात्रा को विश्वकोष कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें उनका सम्पूर्ण जीवन अंकित है। पहला खण्ड राहुल जी ने अपनी स्मृति के आधार पर हजारीबाग के जेल जीवन में 16 अप्रैल 1940 ई0 से 14 जून 1940 ई0 के बीच लिख लिया था। इसमें जन्म के 9 अप्रैल 1893 से अप्रैल 1927 तक के जीवन का लेखा जोखा वर्णित है। काल खण्ड के अनुसार इसको उन्होंने बाल्य (1893–1900 ई0), तारूण्य (1910–14 ई0), नवप्रकाश (1915–22 ई0), राजनीति प्रवेश (1921–27 ई0) शीर्षकों वाले चार अध्यायों एवं परिशिष्ट, जिसमें 1922 की डायरियों के अंश तथा सांकृत्यायन वंश का विवरण दिया गया है, में बांटा है।

दूसरे खण्ड में राहुल के पर्यटक जीवन का चित्रण है जिसमें श्रीलंका, तिब्बत, यूरोप, लद्दाख, जापान, सोवियत भूमि की यात्राओं का सांगोपांग वर्णन है, साथ ही किसान सत्याग्रह, कारावास जीवन, बौद्धधर्म के बाद साम्यवाद की ओर झुकाव आदि का भी विवरण दिया गया है। द्वितीय खण्ड का कालखण्ड मई 1927 से अक्टूबर 1944 ई0 तक से सम्बन्धित है।

तृतीय खण्ड में ईरान और रूस में बीते समय तथा वहाँ के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झाँकी दी गयी है। इसमें नवम्बर 1944 ई0 से 15 अगस्त 1947 ई0 तक की घटनायें प्रस्तुत की गयी है। यह तीसरा भाग 'रूस में पच्चीस मास' नाम से पूर्व में अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित है।

चौथा खण्डा 17 अगस्त 1947 से 31 दिसम्बर 1950 तक की अवधि में घटित घटनाओं का लेखा जोखा है। इसमें उनके 1947 ई0 में हुए बम्बई में अखिल भारतीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने जाने, परिभाषा निर्माण के काम में जुटने, वैशाली, किन्नर देश, शान्ति निकेतन, कलिम्यांग, नैनीताल, मसूरी आदि स्थानों पर जाने, रहने, हैदराबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लेने तथा परिवार बसा लेने की घटनायें प्रस्तुत की गयी है।

पाँचवें खण्ड में एक जनवरी 1951 से उनके जन्म के तिरसठ वर्ष पूरे होने के दिन अर्थात् नौ अप्रैल 1956 ई0 तक का विवरण अंकित है। नयी साहित्य योजना से जुड़ने, बद्रीनाथ, केदारनाथ, नेपाल, मसूरी, हिमाचल, छपरा कलकत्ता आदि स्थानों की यात्रा, बेटी जया एवं पुत्र जेता का जन्म आदि इस अवधि की मुख्य घटनायें हैं।

'मेरी जीवन यात्रा' के प्रथम तीन भाग राहुल जी के जीवन काल में ही प्रकाशित हो गये थे किन्तु चतुर्थ एवं पंचम भाग उनकी मृत्यु के चार साल बाद अर्थात् 1967 ई0 में प्रकाशित हुए। अन्तिम दोनों भागों को अपने जीवन काल में प्रकाशित देखने के प्रति उनकी उत्सुकता भी नहीं थी।

जीवनी एवं संस्मरण

राहुल जी के जिनसे सम्बन्ध थे, जिनकी देशहित, विश्वहित में मुख्य भूमिका थी, जिनके कार्य अनुकरणीय थे, राहुल जी चाहते थे कि लोग उनके चरित्र को पढ़कर स्वयं को ऊँचा उठायें, योगदान से परिचित होकर कर्तव्य क्षेत्र में आगे आयें। फलस्वरूप उनकी लेखनी से जीवनी परक, संस्मरणात्मक कई रचनायें निःसृत हुई।

नये भारत के नये नेता

'नये भारत के नये नेता' महत्त्वपूर्ण जीवनियों एवं रेखाचित्रों का संग्रह है। उसमें मुख्य रूप से राजनीति से जुड़े लोगों पर ही प्रकाश डाला गया है किन्तु कुछ साहित्यकारों के भी संस्मरण हैं। राहुल जी ने वर्णित चरित्रों को देश की तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा है। इन जीवनियों में भारत की उस समय (1942—43 ई0) की विविध समस्याओं एवं संघर्षों का साक्षात्कार रूप देखने को मिलता है। यह पुस्तक इस आशय का भी उदाहरण प्रस्तुत करती है कि राहुल जी को अपने देश एवं देशवासियों से कितना प्यार था। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राहुल जी ने जिन जीवनीनायकों पर लेखनी डुलाई है, उनसे स्वयं व्यक्तिगत सम्पर्क करके वांछित विवरण प्राप्त किया है। इसमें शेरे कश्मीर शेख अब्दुल्ला, कामरेड यूसूफ, पूरनचन्द जोशी, सज्जाद जहीद, सहजानन्द सरस्वती एस.जी. सर देसाई, भारद्वाज, एस.ए. डांगें लेजे ए अहमद, कल्पनादत्त जोशी, बंकिम मुखर्जी, पी. सुन्दरैया, के केरलिपन, आर.बी. मोरे, डा0 गंगाधर अधिकारी, डा0 के एम. अशरफ, एस.एस. वाटलीवाला, मुहम्मद शाहिद, सैयद जमालुददीन बुखारी, फजल इलाही कुरवान, मुबारकसागर, महमुदज्जफर, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त आदि कुल 42 उल्लेखनीय व्यक्तियों की जीवनियाँ, हर व्यक्ति से साक्षात्कार कर, उनकी पारिवारिक वंश परम्परा, बचपन, कार्य, सामाजिक, राजनैतिक संघर्ष और घटनाओं का विषद विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत में समाजवादी, साम्यवादी विचारों के इतिहास पर शोध कार्य करने वालों के लिए यह उपयोगी ग्रन्थ है।

बचपन की स्मृतियाँ

'बचपन की स्मृतियाँ' आत्मकथा शैली में लिखी गयी एक संस्मरण पुस्तक है। इसमें स्मृतियों के आधार पर अपने बाल्यजीवन की घटनाओं का वर्णन राहुल जी ने किया है। यह पुस्तक उनके जन्म जनपद में घटी एक उपकार घटना का प्रतिफल है। उ0प्र0 सरकार ने राहुल जी को आजमगढ़ जनपद का गजेटियर तैयार करने के लिए अधिकृत किया था। इसी सन्दर्भ में फरवरी 1957 ई0 में वह एक सप्ताह के लिए आजमगढ़ आये थे और आजमगढ़ के एक पत्रकार ज्योतिस्वरूप सिंह, जो एक साप्ताहिक पत्र 'कर्मयोगी' के सम्पादक भी थे, के आवास पर ठहरे हुए थे। उन्होनें ज्योतिस्वरूप सिंह से जब पत्रिका के प्रसार के संबंध में पूछा तो श्री सिंह ने बताया

कि ग्राहक संख्या कम होने के कारण अब इसे चला पाना कठिन हो रहा है। सिंह ने आग्रह किया कि यदि आपके लेख इस पत्र के लिए प्राप्त हो तो ग्राहक संख्या बढ़ सकती है। राहुल जी ने उन्हें अपने लेख देना स्वीकार कर लिया। मसूरी लौटकर उन्होंने 'जन्मभूमि मम परम सुहावन' श्रृंखला के अन्तर्गत जन्मग्राम, निवास, जनपद, सम्पर्क, पर्व, इतिहास आदि पर केन्द्रित लगभग तीन दर्जन लेखों की रचना की और उन्हें ज्योतिस्वरूप सिंह को प्रकाशनार्थ भेज दिया जो 'कर्मयोगी' में धारावाहिक प्रकाशित हुए। उन्हीं लेखों का संग्रह 'बचपन की स्मृतियाँ' शीर्षक पुस्तक है।

अतीत से वर्तमान

'अतीत से वर्तमान' पुस्तक के लेखों को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड चरित्र विषयक है जिसमें महन्त बोधानन्द महास्थविर जिनकी प्रेरणा से राहुल जी के मन में बौद्ध धर्म के प्रति रूचि बढ़ी थी, मौलवी महेश प्रसाद, जिन्हें वह गुरू समान मानते थे तथा आगरा आर्यसमाज से जुड़ने के समय उनसे अरबी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, अकादमीशियन वारात्तिकोव जिन्होंने रूसी भाषा में रामचरित मानस का अनुवाद किया था, नेपाली महाकवि देवकोटा जिनसे वह अधिक प्रभावित थे तथा कुछ अन्य महापुरुषों के संस्मरण दिये गये हैं। ये चरित्र अतीत से वर्तमान के विस्तृत कालखण्ड से जुड़े हुए हैं। इन जीवन चरित्रों में ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने देश विदेश में घुमक्कड़ी एवं, बौद्धधर्म के प्रचार प्रसार में योगदान दिया है। इनमें कुछ इतिहासकार है तो कुछ समाजसेवी एवं साहित्यकार हैं। द्वितीय खण्ड में कला, इतिहास और धर्म विषयक बुद्ध का दर्शन, जय लुम्बिनी आदि लेख है। तृतीय खण्ड देश दर्शन के अन्तर्गत पहाड़ी दीवाली, प्रथम हिमपात, गढ़वाल प्रदेश मसूरी आदि लेख प्रस्तुत हैं। कुल लेखों की संख्या 27 है, इसमें उन्होंने सांस्कृतिक निधियों की हो रही उपेक्षा पर दुःख भी व्यक्त किया है।

मेरे असहयोग के साथी

'मेरे असहयोग के साथी' पुस्तक में महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन के साथियों मथुरा बाबू, नगनारायण तिवारी, बाबू मधुसूदन सिंह, बाबू रामउदार राय, बाबू रामबहादुर लाल, पं0 गिरीश तिवारी, गोस्वामी फूलनदेव गिरि, बाबू महेन्द्र प्रसाद, बाबा झाड़ू दास, हक साहब, सन्त कृपाल दास, बाबू जलेसर प्रसाद आदि अड़तीस महानुभावों के संस्मरण हैं। इन संस्मरणों के पात्र मुख्य रूप से बिहार प्रदेश के छपरा, एकमा, सिसवन, रघुनाथपुर आदि थानों से संबंधित है। इनके माध्यम से छपरा के ग्रामीण जीवन का, उन साथियों में विद्यमान राष्ट्रीय भावनाओं का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया गया है। यह पुस्तक राहुल जी की एक संस्मरण रचना के साथ साथ अपने देशवासियों को उनकी स्वतन्त्रता तथा अपने अपने आत्म सम्मान की रक्षा करने का भी संदेश देती है, जो व्यर्थ नहीं जाती। इसमें अपने समय के सामान्य नेता से लेकर सामान्य जनसेवक तक की सेवाओं का अत्यन्त मार्मिक रूप से चित्रण किया गया है।

जिनका मैं कृतज्ञ

जिन सामान्य या विशिष्ट जनों से राहुल जी के सम्पर्क थे तथा उन्होंने समय समय पर राहुल जी का साथ दिया था, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन को वह अपना धर्म समझते थे। उन्हें ही स्मरण करते हुए राहुल जी ने 'जिनका मैं कृतज्ञ' पुस्तक में स्थान दिया है। पुस्तक में जिनके संस्मरण है, उनसे राहुल जी के घनिष्ठ सम्बन्ध थे अतः उनके चरित्र से संबंधित वर्णित घटनाओं, स्थितियों एवं मनोदशाओं को व्यक्त करने में वह पूर्णतः सफल हो सके हैं। पुस्तक में 53 व्यक्तियों जिनमें रामदीन मामा, योगेश, परमहंस बाबा, मौलवी महेश प्रसाद, सत्यनारायण कविरत्न, पं0 सन्तराम, बलदेव चौबे, काशी प्रसाद जायसवाल, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, आचार्य्र नरेन्द्र देव, सिल्वा लेवी, श्चेर्वातस्की, बद्रीनाथ प्रसाद, गया प्रसाद शुक्ल, महादेव पंडित, मौलवी गुलाम गौस, ब्रह्मचारी चक्रपाणि और

साथी महमूद आदि मुख्य हैं, के संस्मरण सरल शैली में प्रस्तुत किये गये हैं।

घुमक्कड़ स्वामी

1890 ई0 के आसपास कानपुर में जन्में हरिशरणानन्द की राहुल जी से पहली विस्तृत भेंट 7 अगस्त 1950 ई0 को मसूरी में हुई थी। हरिशरणानन्द जी भी राहुल की ही भॉति घुमक्कड़ी के शौकीन थे। उन्होनें मानसरोवर और हिमालय के अन्य कठिन स्थानों की यात्रायें की थी। उन्होंने योग साधना की थी। उन्हें आयुर्वेद का अच्छा ज्ञान था। राहुल जी की हरिशरणानन्द से दिनानुदिन घनिष्ठता बढ़ती गयी थी। वह उन्हें प्यार से भैया कहते थे। देश की राजनीति में भी उनकी अच्छी पैठ थी। दोनों लोगों का प्रायः एक दूसरे के घर आना जाना होता था। भैया के प्रेरक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर राहुल जी ने वर्ष 1956 ई0 में उनकी जीवनी लिख डाली जो 'घुमक्कड़ स्वामी' के नाम से छपी। बारह अध्यायों में विभक्त इस कृति में यात्रा और जीवनी दोनों विधाओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण है।

सरदार पृथ्वी सिंह

सरदार पृथ्वी सिंह बड़े साहसी पुरुष थे। राहुल जी की उनसे बड़ी घनिष्ठता थी और वह उनकी क्रान्तिकारी विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। अमेरिका निवास के समय सरदार पृथ्वी सिंह गदर पार्टी की गतिविधियों से जुड़े हुए थे। तीस वर्ष की उम्र में अमेरिका के सुखमय जीवन को ठुकरा कर वह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के लिए भारत आ गये। यहाँ उन्हें काला पानी की सजा हुई। सरदार पृथ्वी सिंह के मन में बचपन से ही देशप्रेम की भावना घर कर गयी थी। जब वह बर्मा में कक्षा चार के छात्र थे, उन्होंने स्काट की एक कविता पढ़ी थी जिसने उनके हृदय में देश प्रेम की भावना जगा दी। भारत लौटने पर उन्होनें स्वयं के प्रति सोचा कि ''यह आदमी मृतात्मा सा सांस ले रहा है, जिसने कभी अपने से नहीं कहा कि यह मेरी मातृभूमि है।'' विद्यार्थी जीवन में ही भारत प्रेम की भावना उनके मन में बलवती हो उठी थी। जापान के सम्बन्ध में लिखे गये एक निबंध में उन्होनें लिखा था कि, ''अगर जापान जैसा छोटा देश रूस को हरा सकता है तो हिन्दुस्तान जैसे बड़े मुल्क का इंग्लैण्ड जैसे छोटे देश को हराना दायें बायें हाथ का खेल हैं।''

राहुल जी सरदार पृथ्वी सिंह के रोमांचिक कार्यों से प्रेरित थे। उन्होनें उनकी टाइप की हुई आत्मकथा और उनसे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त जानकारी के आधार पर उनकी जीवनी लिखी। यह पुस्तक निरन्तर संघर्षशील जीवन तथा क्रान्तिकारी देशभक्त की उमंगों एवं निर्भीकता की दास्तान है। इसकी सभी घटनायें यथार्थपरक होने के साथ ही रोचकता से भी भरी हैं।

वीरचन्द्र सिंह गढ़वाली

'वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली (1891—1979) एक बहादुर सैनिक थे। 23 अप्रैल 1930 का दिन था। खान अब्दुल गफ्फार खान को गिरफ्तार किये जाने के विरोध में उनके अनुयायी और बहुत से निहत्थे सत्याग्रही पेशावर के किस्साखानी बाजार और सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे थे। इस प्रदर्शन से नाराज ब्रिटिस अधिकारियों ने अधीनस्थ गढ़वाली कंपनी जिसके मुख्य चन्द्रसिंह गढ़वाली थे, को सत्याग्रहियों के ऊपर गोली चलाने का आदेश दिया। चन्द्रसिंह गढ़वाली ने उस आदेश का विरोध किया और कहा कि सत्याग्रही निहत्थे हैं, उनके ऊपर गोली नहीं चलेगी। परिणाम यह हुआ की उस कम्पनी के अधिकांश सैनिक बर्खास्त कर दिये गये। चन्द्रसिंह गढ़वाली को आजीवन कारावास की सजा हुई। उनकी चल अचल सम्पत्ति नीलाम कर दी गयी। परिवार को अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ा। राहुल जी के उनसे व्यक्तिगत सम्बन्ध थे। वह उन्हें प्यार से बड़े भाई कहते थे।

गढ़वाली जी के मुकदमें की पैरवी बैरिस्टर मुकुन्दलाल ने की थी। उन्होनें वह पत्रावली राहुल जी को उपलब्ध करा दी थी। 1933 ई0 तक लिखी गयी उनकी आत्मकथा भी राहुल जी को मिल गयी थी।

उनके जीवन के संबंध में उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क करके भी राहुल जी ने अनेक जानकारियां प्राप्त की थीं। इस प्राप्त सामग्री के आधार पर राहुल जी ने 7 सितम्बर 1955 को गढ़वाली जी की जीवनी को लिखना शुरू किया। इस पुस्तक में उन्होंने गढ़वाली जी का सम्पूर्ण जीवन लिया है साथ ही इस चरित्रनायक के जीवन सूत्र का विकास, संघर्ष, घात प्रतिघात और मनोवैज्ञानिक उतार चढ़ाव का कलापूर्ण ढंग से वर्णन किया है।

कप्तान लाल

दार्जीलिंग स्थित राहुल निवास के समीप ही एक फौजी अफसर कुँवर जसवन्त चन्द लाल रहते थे, जिन्हें सब लोग लाल साहब के सम्बोधन से पुकारते थे। वह द्वितीय महायुद्ध में इम्फाल और बर्मा में तथा इसके पहले पेशावर की तरफ ब्रिटिस फौज में कप्तान थे। पड़ोस में रहने के कारण प्रायः प्रतिदिन राहुल जी की उनसे भेंट हुआ करती थीं। उनसे जानकारी लेकर राहुल जी ने उनकी जीवनी वर्ष 1961 में 'कप्तानलाल' शीर्षक से लिखी। इस जीवनी में, जहाँ जहाँ कप्तानलाल रहे, उस भूभाग का भौगोलिक परिचय देते हुए, वहाँ के लोगों के रहन सहन एवं रीतिरिवाजों का वर्णन करने के साथ ही नागाओं और नागा प्रदेशों का भी बहुत सजीव चित्रण किया गया है। इम्फाल और बर्मा की पहाड़ियों में हुई लड़ाइयों के आकर्षक और मनोरंजक उल्लेख के कारण यह केवल जीवनी न रहकर रोचक उपन्यास सा लगने लगता है। यह उनक लेखकीय जीवन की अन्तिम कृति है।

सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन

'सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन' एक विस्मृत साहसी यात्री जयवर्धन, जिनका बौद्ध नाम इन्दसुमन है, की जीवनी है। वह जन्मजात घुमक्कड़ थे। उन्होनें तिब्बत और नेपाल के ग्रामों और जनपदों की पैदल यात्रा की थी। बौद्ध भिक्षु होने के नाते उनकी अन्य किसी प्रकार की अभिलाषायें नहीं थी, न उन्हें रूपये पैसे का ही कोई मोह था। आवश्यकतानुसार उनके श्रद्धालु भक्त उनकी सहायता कर दिया करते थे। राहुल जी से उनकी प्रथम भेंट तिब्बत में हुई थी। कई वर्ष बाद पुनः वर्ष 1961 ई0 में दार्जीलिंग में जब उनकी राहुल जी से दुबारा भेंट हुई तो उनकी साहसिक गतिविधियों से प्रेरित होकर राहुंल जी ने उनकी जीवनी लिखने का निश्चय किया। उन्हें अपने घर रखा और उनसे पूछ पूछ कर नोट्स लेकर उनकी जीवनी लिखी। राहुल जी इस जीवनी को विस्तार से लिखना चाहते थे किन्तु अस्वस्थता के कारण अपनी इच्छा के अनुरूप जीवनी तैयार न कर सके। जयवर्धन जी का स्वभाव बड़ा विचित्र था। राहुल जी के अनुसार, ''उनका हृदय बहुत साफ है, लेकिन कड़वा सत्य बोले बिना बात नहीं करते। किसी जगह ज्यादा टिकने पर उनके शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है, विशेषकर ऐसे शत्रुओं की जो उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।''

सिंहल के वीर

'सिंहल के वीर' पुस्तक में श्रीलंका के चरितनायकों, जिनकी संख्या सात है, का जीवन परिचय प्रस्तुत किया गया है। लेखों के शीर्षक सिंहल के प्रथम वीर विजय, प्रथम बौद्ध धर्म प्रचारक महेन्द्र, अजेय वीर दुष्ट ग्रामणी, सिंहल के त्राणकर्ता विजय बाहू, पोर्तुगीज दलन कर्ता टिकरी मण्डार आदि हैं।

स्तालिन

स्तालिन रूस के प्रमुख राजनेता थे। उन्होंने साम्यवादी व्यवस्था को आर्थिक रूप से मजबूत करने और उसे कास्तिवाद के घातक संकट से पार कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उनका जीवन पुराने युग के विनास और नये युग के विकास की कहानी है। उन्होंने पूँजीवादी शोषण, साम्राज्यवादी गुलामी और युद्ध के विरूद्ध मेहनतकस इंसानों की ओर से संघर्ष किया था तथा इसमें सफलता प्राप्त की थी। वह चाहते थे कि एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो, राष्ट्रों को आजादी मिले और विश्व में शान्ति की स्थापना हो। स्तालिन की इन्हीं

सब विशेषताओं से राहुल प्रभावित थे। उनके समय में ही उन्होनें दो वर्ष रूस में बिताये थे और उनके नेतृत्व में हुई प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति को अपनी आँखों से देखा था। अतः उन्होनें उनकी जीवनगाथा को एक पुस्तक के रूप में उतार दिया। यह कृति 'स्तालिन' जैसे साम्यवादी नेता के जीवन एवं कृत्यों, जारशाही एवं साम्यवादियों के संघर्ष के विषद चित्रण के साथ ही रूसी जनजीवन का सजीव आकलन है। उनके निजी जीवन के बारे में भिन्न भिन्न पुस्तकों, पत्रपत्रिकाओं में उपलब्ध सामग्री तथा उनके मित्रों से प्राप्त जानकारी के आधार पर उनका जीवन दृश्य इस पुस्तक में उकेरा गया है। स्टालिन का योगदान उन्हें प्रेरणादायी लगा था किन्तु उन्हें उनकी व्यक्तिपूजा खटकती थी। राहुल के अनुसार व्यक्तिपूजा साम्यवाद के खिलाफ है।

लेनिन

रूस में आतंक का पर्याय बने जारशाही को समाप्त करने में लेनिन का बहुत बड़ा योगदान है। लेनिन बोलशेविक पार्टी के अगुवा और मजदूर वर्ग के नेता थे। लेनिन का क्रान्तिकारी जीवन अत्यन्त प्रभावशाली एवं साहस से भरा था। बोलशेविक आन्दोलन के लिए वह किसी भी खतरे में सीधे उतरने से नहीं डरते थे। इन्हीं विशिष्टताओं ने राहुल को प्रभावित किया था, और उन्होनें लेनिन के जीवन एवं उनकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालने वाली महत्त्वपूर्ण पुस्तक लेनिन की रचना की। इस पुस्तक में राहुल जी ने लेनिन को दुनिया के श्रमजीवियों, गरीबों की दशा में सुखद परिवर्तन लाने वाले एक महामानव के रूप में चित्रित किया है तथा उनके विचारों एवं सिद्धान्तों को बहुत सशक्त शैली में प्रस्तुत किया है।

कार्लमार्क्स

कार्लमार्क्स की गणना विश्व के जाने माने विचारकों में की जाती है। उन्होनें न केवल मानव इतिहास की नयी आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की बल्कि जनमानस को भी आन्दोलित कर क्रान्ति उत्पन्न कर दी। यहाँ तक कि उनके समर्थक या अनुयायी ही नहीं, उनके विरोधी तथा प्रतिद्वन्द्वी तक उनकी उपेक्षा न कर सके। राहुल सांकृत्यायन उन कार्लमाक्स की विचारधारा से बेहद प्रभावित थे और उनकी रचनाओं में अधिकांश स्थलों पर कार्लमार्क्स की चिन्तनदृष्टि की छाप स्थान स्थान पर दिखायी देती है। राहुल जी ने 'कार्लमार्क्स' पुस्तक के माध्यम से कार्लमार्क्स के जीवनवृत्त, उनके कृतित्व एवं उनकी चिन्तक, दार्शनिक दृष्टि पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

माओ चे तुंग

राहुल सांकृत्यायन पर साम्यवाद की गहरी छाप थी और थी मार्क्सवाद के प्रति अटूट निष्ठा। इसी निष्ठा के कारण उन्होंने कार्लमार्क्स की जीवनी लिखी और उन नेताओं पर भी अपनी लेखनी चलायी जिन्होंने कार्लमार्क्स को अपना ध्येय बनाया। उन्हीं नेताओं में चीन के लोकप्रिय नेता माओ चे तुंग का भी नाम है। चीन भारत एक दूसरे के पड़ोसी देश हैं और पूर्व में दोनों के घनिष्ठ संबंध भी थे। माओ की चारित्रिक विशेषताओं से राहुल जी अप्रभावित नहीं थे। अतः उन्होनें माओ चे तुंग के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने वाली लगभग चार सौ पृष्ठों की पुस्तक 'माओ चे तुंग' की रचना वर्ष 1954 ई0 में की।

अम्बेडकर

'अम्बेडकर' शीर्षक से लिखी गयी इस पुस्तिका में नेपाल में दिये गये बाबा साहब अम्बेडकर से संबंधित भाषण संकलित हैं।

यात्रा साहित्य

मेरी लद्दाख यात्रा–

राहुल सांकृत्यायन का यात्रा साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है। उन्होंने वर्ष 1926 ई0 में लद्दाख की यात्रा की थी। सम्भव है यह यात्रा वर्णन उन्होंने 1926 ई0 में ही कर डाला हो किन्तु 'मेरी लद्दाख यात्रा' शीर्षक से इसका पुस्तकाकार प्रकाशन इन्डियन प्रेस इलाहाबाद से 1939 ई0 में हुआ है। मेरठ से प्रारम्भ इस यात्रा में वह

पंजाब, मुलतान, डेरागाजी खाँ, फ्रन्टियर, पुंछ रियासत आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए कश्मीर, जोजिला दर्रा पार करते हुए लद्दाख पहुँचे थे। इस पुस्तक में उन्होंने कुल्लू का भी वर्णन किया है। यात्रा में आये भिन्न–भिन्न स्थानों की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जलवायु, भाषा, परम्परा,,वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य, वहाँ के निवासियों के रीति रिवाज, संस्कार, उनकी वेषभूषा आदि पर उन्होंने सम्यक ढंग से प्रकाश डाला है। लद्दाखियों का तिब्बती समुदाय से किस प्रकार का सम्बन्ध है? लद्दाखियों के विवाह संस्कार, रीति रिवाज कैसे है? आदि को भी उन्होंने रोचक शैली में प्रस्तुत किया है।

लंका–

राहुल जी ने लंका की पहली यात्रा 1927–28 ई0 में की थी। वह वहाँ दिसम्बर 1928 ई0 तक लगभग उन्नीस मास रहे। वहाँ निवास के समय उन्होंने लंकावासियों के रीति रिवाजों, रहन–सहन का अध्ययन करने के साथ ही वहाँ के नगरों के पुराने इतिहास की भी जानकारी प्राप्त की। जऩसामान्य को लंका की स्थिति से परिचित कराने हेतु उन्होंने लंका पर केन्द्रित 'लंका' शीर्षक से एक पुस्तक की रचना की।

तिब्बत में सवा वर्ष–

उनके द्वारा पहली बार 1929–30 में तिब्बत की यात्रा की गयी थी, जों तिब्बत में 'सवा वर्ष' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में तिब्बत यात्रा एवं बौद्ध धर्म संबंधी ग्रन्थों की खोज का विवरण देने के साथ ही भारत के बौद्ध खण्डहरों, कन्नौज, कौशाम्बी, सारनाथ, वैशाली, लुम्बिनी से लेकर नेपाल, शीगर्ची, यांची, ल्हासा तक की यात्रा का वर्णन किया गया है। इसी यात्रा के दौरान राहुल जी ने 22 खच्चरों पर पुस्तकों एवं अन्य सामग्रियों को भारत भेजा था। इसका खर्च श्रीलंका के आचार्य श्री धर्मानन्द महास्यविर ने वहन किया था।

मेरी यूरोप यात्रा–

राहुल जी वर्ष 1932 ई0 में भदन्त आनन्द कौशल्यायन के साथ कोलम्बों से यूरोप की यात्रा पर गये थे। इस यात्रा का वर्णन उन्होंने 'मेरी यूरोप यात्रा' पुस्तक में किया है। यूरोप की झाँकी, लन्दन टावर, कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, पेरिस तथा जर्मनी के रोचक वर्णन इस पुस्तिका में प्रस्तुत किये गये हैं।

मेरी तिब्बत यात्रा–

राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत की की गयी तीसरी यात्रा का वर्णन 'मेरी तिब्बत यात्रा' के अन्तर्गत किया गया है। यह पुस्तक डायरी शैली में लिखी गयी है तथा इसमें ल्हासा, चंग, साक्या, ग्नेनाम, नेपाल आदि की यात्राओं का सुन्दर वर्णन है। तत्कालीन तिब्बती समाज की विवाह प्रथायें, लोक उत्सवों, अन्य रीति रिवाजों पर राहुल जी ने अच्छी तरह से प्रकाश डाला है।

जापान–

राहुल जी ने 1935 ई0 में जापान की यात्रा की थी। इस पुस्तक में लेखक ने सिंगापुर, हांगकांग, शंघाई, कोबें, टोकियों कोपासान आदि स्थानों की की गयी यात्राओं के अन्तर्गत देखे गये स्थानों, वहाँ की सामाजिकता, उनके रीति रिवाज आदि का वर्णन किया है।

ओरान–

1935–36 ई0 में लिखी गयी यह पुस्तक 'ओरान' प्राचीन ईरान एवं नवीन ईरान नाम से दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग प्राचीन ईरान में फारस एवं वहाँ के राजवंश का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। तथा द्वितीय भाग नवीन ईरान में आधुनिक ईरान की उस यात्रा का वर्णन है जो सोवियत रूस से भारत लौटते समय की गयी थीं। इसमें वाकू, तेहरान, एस्फहान और शीराज का वर्णन किया गया है तथा बताया गया है कि ईरान भारत का बड़ा पुरान संबंध रहा है और भारतीय कला कुछ रूपों में ईरान कला से भी प्रभावित है।

किन्नर देश में–

राहुल सांकृत्यायन ने मई से अगस्त 1948 के बीच चार माह तक हिमालय के एक उपेक्षित भाग, जिसे उन्होंने किन्नर देश कहा है, की यात्रा की थी। यही

यात्रा विवरण उनके द्वारा 'किन्नर देश में' पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। इसमें उन्होंने किन्नर लोगों के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला है। पुस्तक में किन्नर या कनौरी लोगों के सामाजिक जीवन, रहन–सहन, परम्परा, रीति रिवाज, धार्मिक अन्धविश्वास और उनकी मान्यताओं पर लघु वृत्तान्तों के माध्यम से विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसमें वहाँ की भाषा के कुछ उद्धरण और लोकगीत भी संग्रहीत हैं तथा किन्नरियों के सौन्दर्य एवं वहाँ के नृत्य का भी रोचक ढंग से वर्णन किया गया है।

दार्जीलिंग परिचय–

राहुल जी ने देश दर्शन से संबंधित कुछ पुस्तकों की रचना की थी। दार्जीलिंग परिचय उन्हीं पुस्तकों में से एक है। इसमें इस क्षेत्र के प्राकृतिक आकार प्रकार, इतिहास, जनजीवन, कृषि, उद्योग, व्यवसाय, यातायात, शिक्षा, पद्धति नगरों तथा यात्रा स्थानों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

कुमाऊँ –

कुमाऊँ पुस्तक में क्षेत्र के इतिहास, भूगोल, लोकसाहित्य और पुरातत्व आदि विषयों की चर्चा की गयी हैं।

गढ़वाल–

बारह अध्यायों में विभक्त पुस्तक गढ़वाल में क्षेत्र का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें केदारनाथ यात्रा, बद्रीनाथ यात्रा का भी लेखक ने रोचक ढंग से वर्णन किया है। पुरातत्व की दृष्टि से ये यात्रायें महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही यात्रा साहित्य में भी प्रमुख स्थान रखती हैं। पुस्तक में गढ़वाल के जनसाहित्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

RNI. No. : UPBIL 03942/2010 ISSN : 2229-7308

आषाढ़ का एक दिन और आधुनिक संदर्भ

–निधि सिंह*

आधुनिकता क्या है? इसकी उत्पत्ति कहां हुई? इसके सम्बन्ध में डॉ0 दूधनाथ सिंह का मत है कि– ''आधुनिकता युग सन्दर्भ की भावना नहीं है।'' इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक होने का मतलब आज का या इस दशक या शताब्दी का होना नहीं है, असल में आधुनिक होना शाश्वत होना है। आधुनिकता की समस्या काल सापेक्ष कम व्यक्ति सापेक्ष ज्यादा है'' हमारे मस्तिष्क में समाज में हो रहे परिवर्तन के कारण जो नवीनता आ रही है वही आधुनिकता आधुनिकरण एवं आधुनिकताबोध है। आधुनिकता से आशय सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन से है।''[1] हमारे समाज में नित–नये सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों से जो नवीनता आती है उसे ही आधुनिकता कहा जाता है।

आधुनिकता जब सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करती है तो निश्चित ही साहित्य भी अछूता नहीं रहेगा। कहते हैं साहित्य समाज का दर्पण होता है तो जो नवीनता समाज में आयेगी वह साहित्य में भी परिलक्षित होगी। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में मोहन राकेश एक ऐसा नाम है जिसे हिन्दी–नाटक के आधुनिक युग का प्रथम नाटककार कहा जाता है। राकेश जी का प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' सन् 1958 में प्रकाशित हुआ और उसे सर्वश्रेष्ठ नाटक होने के लिए 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' मिला। इनका यह नाटक हिन्दी में लिखा अवश्य गया, किन्तु वह समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृतियों का उद्योतक है। राकेश जी ने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया वरन् उसके सदियों के अलग–अलग प्रवाह को भी विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर अग्रसर किया। उनके नाटक की लोकप्रियता का आभास इसी से लगाया जा सकता है कि इब्राहिम अलकाजी, ओम शिवपुरी, अरविन्द गौड़, राम गापोल बाजाज आदि जैसे प्रमुख निर्देशको ने 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का निर्देशन कर उनका बहुत ही मनोहर ढंग से मंचन किया है। 1971 में निर्देशक मणि कौल ने 'आषाढ़ का एक दिन' पर आधारित एक फ़िल्म बनाई, जिसको साल की सर्वश्रेष्ठ 'फिल्म फेयर पुरस्कार' दिया गया।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक ऐतिहासिक वृत्त पर लिखा गया एक ऐतिहासिक नाटक है। ''आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य में इसकी गणना श्रेष्ठ नाटकों में की जाती है, इसका एकमात्र कारण है कि नाटककार ने ऐतिहासिक वृत्त को युगीन परिवेश में चित्रित किया है। इस नाटक का बाह्य परिवेश ऐतिहासिक है, इसके मुख्य पात्र भी ऐतिहासिक है, किन्तु नाटक का कथानक जितना ऐतिहासिक है, उससे अधिक वह युगीन भी है इसमें नाटककार ने ऐतिहासिक वृत्त को नवीनता प्रदान की है।''[2] नाटक की पृष्ठभूमि भले ही ऐतिहासिक है पर इसमें आधुनिक मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व की गाथा कही गयी है। 'आषाढ़ का एक दिन' में सफलता और प्रेम में एक

*एम0ए0 हिन्दी प्रथम वर्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ0प्र0)

को चुनने के द्वन्द्व से जूझते कालिदास, एक रचनाकार और आधुनिक मनुष्य के मन की पहेलियों को सामने रखा है। ''राकेश जी ने मूलतः आधुनिक संवेदनाओं को, आधुनिक मानव के द्वन्द्व और जटिलता को ही उद्‌घाटित करने की कोशिश की है।[3]

नाटक की प्रत्यक्ष विषय–वस्तु कालिदास कवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित है। नाटक का कालिदास व्यक्ति न होकर सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है। ''नाटककार का प्रयास यही रहा है कि कालिदास का चरित्र किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द को संकेतित करे।''[4] नाटक की नायिका मल्लिका के रूप में इस नाटक में एक सीधी–सादी समर्पित लड़की का चित्र है जो कवि कालिदास से प्रेम ही नहीं करती बल्कि उसे महान् होता हुआ भी देखना चाहती है। महान् तो कालिदास अवश्य बनता है पर इसका मूल्य मल्लिका अपना सर्वस्व देकर चुकाती है।

मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में व्यक्ति स्वातन्त्रय और राजश्रय के बीच भटकती हुयी सृजानात्मकता की तलाश का नाट्य बिम्ब है। आज के माहौल में साहित्यकारों का दोमुहांपन समस्या को और गम्भीर बना देता है। आज की स्थिति में रचनाकार एक ओर व्यक्ति स्वातन्त्रय की बात करता है वहीं दूसरी ओर राजकीय व्यवस्था के सुखद प्रलोभन के लिये भी लालायित रहता है। एक ओर उसी व्यवस्था का विरोध करता है और दूसरी ओर राजकीय सम्मान की अपेक्षा भी करता है। मोहन राकेश ने इस नाटक के प्रकाशन के बाद उसकी की गयी आलोचनाओं के उत्तर में अपने नाट्य–चिन्तन को गंभीरता से प्रक्षेपित किया। उनके अनुसार ''एक साहित्यकार के जीवन की मूल समस्या है, साहित्यकार के रूप मे अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने की ओर शेष समस्याएं इस एक समस्या के साथ जुड़ी है।....लेखक का व्यक्तित्व निस्सन्देह उन सब सुविधाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो राज्य उसे दे सकता है।''[5] कालिदास के लिये जो बातें सही हैं, वही राकेश जी के लिये भी, क्योंकि मूलतः दानों साहित्यकार ही हैं।

कालिदास एक सृजनशील कलाकार का प्रतीक है जो व्यवस्था द्वारा कुचले गये, तोड़ दिये जाने का प्रतीक है। आज के मूल्यबोध से युक्त असाधारण कवि या साहित्यकार न व्यवस्था को एकदम छोड़ पाता है और न उससे समझौता करते हुये चल पाता है कालिदास का अन्तर्द्वन्द और टूटन आज के साहित्यकार का अन्तर्द्वन्द्व और पीड़ा है। कालिदास स्वयं कहते है– 'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिये नहीं हूँ।' सुप्रसिद्ध नाट्य समालोचक नेमिचन्द जैन ने कहा है–''हिन्दी में यह यथार्थवादी नाटक है। इसमें बाहय ब्यौरे के अपेक्षा आन्तरिक यथार्थ के अन्तर्द्वन्द्व को संवेदनशीलता के साथ देखता है।''[6]

कालिदास ना चाहते हुये ग्राम–प्रदेश छोड़कर उज्जयिनी चले जाते हैं, इसकी प्रेरणा भले ही मल्लिका उन्हें देती है, लेकिन वे अवश्य भी वहां जाना चाहते है। मातुल को राजश्राय महत्त्वपूर्ण लगता है क्योंकि यह हमेशा से महत्त्वपूर्ण रहा है आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक अधिकाधिक रचनायें राज्याश्रय पाने के लिये ही की गयीं है, फिर ऐशों–आराम की जिन्दगी किसे पसन्द नहीं है? कालिदास ग्राम–प्रदेश से उज्जयिनी जाने के लिए तैयार न होने के विषय में बताता है– ''तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं कश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूं? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परन्तु मुझे कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी, जिन्होंने जब–तक मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।''[7] यह सामाजिक समस्या है एक संवेदनशील रचनाकार अभाव में जीता रहे और लोक उसका उपहास उड़ाये, इससे कष्टप्रद बात आखिर उसके लिये क्या हो

सकती है? ''अपने परिवेश से कटने के बाद कालिदास में जो परिवर्तन आता है, वह असहज लगता है, किन्तु कालिदास की सामाजिक परिस्थियों को देखते हुए स्वाभाविक लगने लगता है।''[8] कालिदास ने जो किया वह आज के समय में स्वाभाविक लगता है, व्यक्ति परिस्थियों से या तो समझौता कर लेता है या सोचता है कि वह एक दिन सब ठीक कर लेगा, पर ऐसा होता कहां है? समय किसी के लिये नहीं ठहरता है।

कथावस्तु के चित्रण के माध्यम से एक और कथ्य का उभार स्पष्ट होता है। इसके सूत्र मिलते हैं कालिदास की अन्तिम दृश्य की उस उक्ति में जब वह मल्लिका के समक्ष स्वीकार करता है कि– 'मैंने कहा था कि मैं अथ से आरम्भ करना चाहता हूं। यह सम्भवतः इच्छा और समय के साथ द्वन्द्व था। परन्तु देख रहा हूं कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि... क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता है।'' कालिदास की इच्छा थी वह गांव में ही रहे, प्रकृति और मल्लिका के उन्मुक्त सम्पर्क में रहे और सहज भाव से कविता लिखे। समय का चक्र चलता है और उसे उज्जयिनी जाना पड़ता है। प्रियंगु से विवाह भी करना पड़ता है। वे चाहते थे कि कश्मीर का शासक बनकर लोगों से प्रतिशोध ले जिन्होंने कभी उनकी भर्त्सना की थी पर राजनीतिक षड्यन्त्र का ऐसा वातावरण बनता है कि वे वहां भी नहीं रह पाते। विरक्त होकर कालिदास नये सिरे से मल्लिका के साथ नयी जिन्दगी शुरू करने की इच्छा से गांव लौटते है तो पाते है कि समय ने उसे और उसकी इच्छा को एक बार फिर पीछे छोड़ दिया है, मल्लिका किसी और की हो चुकी है, ऐसा लगता है जैसे अब कुछ और ही हो चुकी है।'' इच्छा और समय के इसी द्वन्द का चित्रण पूरे नाटक की घटनाओं के माध्यम से किया गया लगता है कम से कम नाटक की घटनाओं की व्याख्या इस ढंग से की जा सकती है जिससे कथ्य को समर्थन मिले''।[8]

यह द्वन्द मल्लिका की स्थिति में भी दिखाई पड़ता है उसकी इच्छा थी कि कालिदास उज्ययिनी जाये, यशस्वी बने और गांव में प्रचलित अपवाद को खण्डित कर एक दिन वापस आये, तो वह भी सिर उठाकर जी सके। कालिदास आते हैं, पर बिना मिले ही चले जाते हैं। जब वे फिर आते हैं तो परिस्थितियां बदली हुयी होती हैं, कालिदास उसके साथ फिर से नयी जिन्दगी शुरू करने की बात का अन्त तक पहुंचाये बिना चुपचाप चले जाते है। जिस आषाढ़ के दिन की प्रतीक्षा में मल्लिका बैठी होती है वह दिन उसके जीवन में कभी नहीं आता। आषाढ़ का दिन तो हर साल लौटकर आता है एक सा– ''लेकिन आदमी की जिन्दगी में आने वाले आषाढ़ के दिन कैस–कैसे बदले–बदले होते हैं, यह देखना हो तो देखा जा सकता है कालिदास, मल्लिका, विलोम और मातुल, इन सबकी जिन्दगी में। उनकी जिन्दगी में आने वाला हर आषाढ़ एक नया मोड़ लेकर आता हैं और अपनी मूसलाधार वर्षा में उनकी व्यर्थ होती आ रही जिन्दगी को बहाये चला जाता है।''[9] आषाढ़ की तरह ही कालिदास और मल्लिका की जिन्दगी में घनघोर काले बादल घिर आते हैं।

समय के साथ मनुष्य रिश्तों के प्रति कितना संवेदनशील रह गया है ये भी इस नाटक का एक पक्ष है। किस तरह प्रेम और सत्ता में से कालिदास स्वार्थी होकर सत्ता का दामन पकड़ता है और मल्लिका अपनी भावना वरण करके आजीवन अपने लिये 'विशेषण' बने रहना ही चुनती है, आज का ही संदर्भ है। कालिदास चाहते तो वापस आ सकते थे लेकिन सत्ता के मोह ने उन्हें वही बांध के रखा और वे उस प्रेरणा से ही विमुख हो गये, जिसने बिना किसी की परवाह किये सदैव उनका ही साथ दिया। कालिदास एक आत्म केन्द्रित और स्वार्थी मनुष्य का चरित्र प्रतीक है, जिनसे हम अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में टकराते हैं। वहीं मल्लिका एक आदर्श नारी है पर आधुनिक समय में कहीं–न–कहीं कमजोर दिखाई पड़ती है।

मोहन राकेश एक प्रगतिशील नाटककार हैं उनके नाटकों में आधुनिकता का जो बिम्ब दिखलाई पड़ता है

वह यथार्थ लिये हुये अपने मुखर रूप में परिलक्षित होता है। नाटक केवल कालिदास और मल्लिका का नहीं, आधुनिक मानव की विवशता उसके अन्तर्द्वन्द, छटपटाहट, उसकी जटिलता एवं सवेंदनशील मन के ऊहापोह का है। ''आषाढ़ के एक दिन में आज का समाज सीधे चित्रित नहीं है, किन्तु आज के समाज की ध्वनियां उसमें बराबर गूंजती रहती हैं।''[10] व्यक्ति के विकास और टूटने से सामाजिक विकास और टूटन का गहरा सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति को छोड़कर समाज को समझना हवा में बातें करना है इस नाटक में बदलते हुये यथार्थ की अभिव्यक्ति है। मल्लिका की त्याग भावना और कालिदास की राजसत्ता के प्रति मोह की जो स्थिति है वह आधुानिकता के बीच मनुष्यों के संत्रास को उजागर करती है।

सन्दर्भ

1. सं0 डॉ0 गीता सिंह, अखिल गीत शोध–दृष्टि, अमृता राय का लेख 'आधुनिकता एवं आधुनिकीकरण', वर्ष 5, अंक 5, पृष्ठ– 87
2. डॉ0 बी0 एन0 सिंह, आषाढ़ का एक दिन, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ पृष्ठ– 53
3. सं0 डॉ0 गीता सिंह, अखिल गीत शोध–दृष्टि, आनन्द कुमार का लेख– 'मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता बोध', वर्ष 7 अंक 7 पृष्ठ– 67
4. डॉ0 कृष्णदेव शर्मा एवं डॉ0 माया अग्रवाल, आषाढ़ का एक दिन एक विवेचन, अनीता प्रकाशन, दिल्ली संस्करण–1989, पृष्ठ–193
5. मोहन राकेश : लहरों के राजहंस, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली, 1963, भूमिका, पृष्ठ–8
6. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरीगेट नई दिल्ली 110000, संस्करण 2005, पृष्ठ–117
7. मोहन राकेश, रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973, पृष्ठ–135
8. डॉ0 नरनारायण राय, रंगशिल्पी मोहन राकेश, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991, पृष्ठ–46
9. वहीं, पृष्ठ– 36
10. फूलचन्द कन्नौजिया, मोहन राकेश के साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन (अप्रकाशित शोध–प्रबन्ध), वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर 2009, पृष्ठ–149

हिन्दी

हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंधों का मूल्यांकन

–नितीनक ुमार सिंह*
–डॉ०ग ीता सिंह**

निबंध एक ऐसी विधा है, जो साहित्य के समस्त विषयों को अपने में समाहित किए हुए है। निबंध विधा में ही लेखक का आंतरिक व्यक्तित्व सर्वाधिक व्यंजित होता है। द्विवेदी जी का गहन चिंतन और स्वयं का विराट व्यक्तित्व उनके निबन्धों में ही प्रकट होता है। भारतीय संस्कृति, साहित्य, प्रकृति, लोक, राजनीति आदि विभिन्न विषयों पर उनके विचार समाज को एक नयी दिशा प्रदान करते हैं। निबंध विधा में द्विवेदी जी को ललित शैली ही सर्वाधिक प्रिय है। पन्द्रह दिन फूलकर खंखड़ हो जाने वाले पलाश को उतना मान नहीं देते, जितना सुंदरियों के असिंजनकारी नूपुर वाले चरणों के मृदु आघात से फूलने वाले अशोक को। साहित्य में भी वे लालित्य के समर्थक हैं। 'साहित्यकारों का दायित्व' निबंध में वे लिखते हैं

'हमारी राजनीति हमारी अर्थनीति और हमारी नवनिर्माण की योजनाएँ तभी सर्वमंगलमयी–विधायिनी बन सकेंगी जब कि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी और संकल्प महान और शुभ होगा। काम केवल उपयोगी और व्यवहारिक साहित्य के निर्माण से ही नहीं हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अंगों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी जो मनुष्य को मनुष्य के सुख–दुःख के प्रति संवदेनशील बनाते हैं।'[1]

द्विवेदी जी के ललित निबन्ध सामाजिक मंगल का विधान करते हैं। उनके लिए वही साहित्य आदरणीय है, जिसमें समाज की मंगल कामना निहित है। 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' निबंध में वे लिखते हैं–

'साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से ही वह रचित होता है, किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है।'[2]

इसलिए द्विवेदी जी अपने निबंधों में भारतीय संस्कृति, साहित्य, समाज और प्रकृति को केन्द्र में रखते हैं और लोकोन्मुख साहित्य का सृजन करते हैं। द्विवेदी जी अपने निबंधों में भारतीय संस्कृति के लोक कल्याणकारी पक्ष को उद्‌घाटित करते है। उनके लिए संस्कृति आंतरिक भावात्मक सत्ता है। संस्कृति को व्याख्यायित करते हुए 'स्वागत' निबंध में द्विवेदी जी लिखते हैं–

'संस्कृति क्या है? मनुष्य का जो कुछ उत्तम है; धर्म में, आचरण में, भावना में, सौंदर्य बोध में उसका पूर्ण रुप ही संस्कृति है। यह हमारे साहित्य में, धर्माचरण में,

*शोधछात्र, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय,जौनपुर (उ0प्र0)
**एसो. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, आजमगढ़ (उ0प्र0)

नैतिक व्यवहारों में, वास्तु में, नृत्य में, अभिनय में, गान में, काव्य में मूर्त होती है।'[3]

द्विवेदी जी आर्य, द्रविड़ और यक्ष–नाग सभ्यता की त्रिवेणी से भारतीय संस्कृति की महाधारा का आरम्भ मानते हैं। वैदिक युग से लेकर ईसा की 19 वीं शताब्दी तक नाना जातियाँ भारत आईं, जिनमें कुछ सभ्य, कुछ अर्ध सभ्य और कुछ असभ्य थीं। इनसे टकराव स्वाभाविक था। अनेक वर्ग बन गए थे, लेकिन भारत ने भेद की इस समस्या को अमेरिका की तरह नहीं सुलझाया। उसने इनका दमन नहीं किया वरन् प्रेम और सौहार्द के रास्ते अपना बनाने की सफल कोशिश की। 'सभ्यता और संस्कृति' निबंध में द्विवेदी जी लिखते हैं–

'भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं समेत जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा–सर्वदा समन्वय के रुप में समस्या का समाधान किया है।'[4]

भारतीय संस्कृति उन्नतिशील संस्कृति है। परिवर्तनशीलता और गुणग्राहकता इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। भारत ने किसी का तिरस्कार नहीं किया और न ही हठात्–बलात् किसी पर अपना अधिकार जमाया। यहाँ की संस्कृति शिव की तरह सभी को अपने में धारण करने वाली है। शिवत्व के भाव से ओत–प्रोत सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् की साधना करने वाली है। कर्म को सर्वोपरि रखते हुए और कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा रखने का सन्देश देती है–

'कुर्वन्नेहेव कर्मारिति जिजीविषेच्छतं श्रृंतंसमाः।'

भारतीय संस्कृति 'कुटज' की तरह नाम और रुप दोनों में अपनी 'अपराजेय जीवनी शक्ति' की घोषणा करते हुए प्रवाहमान है। जन–कल्याण ही इसका लक्ष्य है। 'वर्षा : धनपति से घनश्याम तक' निबंध में द्विवेदी जी लिखते हैं–

'वैदिक ऋषि ने सदा भय और आतंक के अंधकार में कल्याण की ज्योति देखी है। पर्जन्य देवता के भीम गर्जन में इसी कल्याण का सन्देश है।'[5]

द्विवेदी जी 20 वर्षो तक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिगोहन सेन के सानिध्य में 'शान्तिनिकेतन' में रहे। प्रकृति के सामीप्य और अनुराग ने उनमें लालित्य का भाव जागृत किया जिससे प्रकृति का सुकुमार और लोकरंजनकारी रुप उनके निबंधों में प्रकट हुआ। अशोक के फूल, कुटज, देवदारु, शिरीष के फूल, आम फिर बौरा गए, बसन्त आ गया आदि सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय निबंध हैं। द्विवेदी जी के यहाँ प्रकृति तरंगायित अशोक–पत्र की तरह आदि से वर्तमान तक होने वाले उतार–चढ़ावों को व्याख्ययित करती है। प्रकृति से ही लालित्य और सौंदर्य लेकर द्विवेदी जी साहित्य और समाज की कुरूपता से मुक्त होने के मार्ग तलाशते हैं। वे सिर्फ रूप की कुरूपता की बात नहीं करते वरन् कुरुपता मन की, भावों की विचार की साहित्य की, जाति–धर्म की भी होती है। शिरीष आदि के बहाने कालिदास से लेकर वर्तमान तक की साहित्यिक पड़ताल करते हैं। समय–समय पर होने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और 'घुन खाए शहतीरों पर की बारह खड़ी ' बाँचने के बाद वो निष्कर्ष का नवनीत प्रस्तुत कर देते हैं। द्विवेदी जी की शैली निराला की 'झाड़–फटकार वाली शैली नहीं है– 'अबे सुन बे गुलाब उनकी शैली में लालित्य है, लेकिन लालित्य और सौंदर्य के फेर में वे सत्य को नहीं भूलते। ' अशोक के फूल' निबंध में वे लिखते हैं–

'अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु वह उस

विशाल सामंत सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है, जो साधारण प्रजा के परीश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के संसार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों करोड़ों की उपेक्षा से जो समृद्ध हुई थी।'[6]

लेकिन द्विवेदी जी निराश नहीं होते। वो इसी निबंध में आगे कहते हैं–

'मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज के दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है। कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति।'[7]

भारतीय संस्कृति कभी भी किसी की पिछलग्गू नहीं रही। उसने अन्य संस्कृतियों से अच्छे गुणों को आत्मसात किया, लेकिन अपनी मूल संवेदना को कभी नहीं छोड़ा। किसी को अपना नियंता नहीं बनने दिया। अनेक घातों–व्याघातों को सहते हुए आज भी प्रवाहमान है। 'कुटज' की तरह–

'कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता...।'[8]

द्विवेदी जी का लोक से प्रेम किसी से छिपा नहीं है। लोक के प्रति उनकी सहानुभूति ही नहीं है वरन् साहित्य समाज और संस्कृति के निर्माण में लोक की महत्वपूर्ण भूमिका को वे रेखांकित करते हैं। उनका साहित्य लोकोन्मुख हैं। द्विवेदी जी लोक में गहरी पैठ रखते हैं। भारतीय समाज जाति–धर्म और ऊँच–नीच के द्वन्द्व से हमेशा गुजरता रहा है और उसमें भी सबसे अधिक प्रभावित लोक हुआ है। द्विवेदी जी अपनी इतिहास दृष्टि से देख रहे थे कि ऊँच–नीच, जाति–पाति के भेदभाव को मिटाने के लिए चलाए गए धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलन सफल नहीं हुए। वे जानते थे जब तक उनकी आर्थिक और राजनैतिक स्थिति नहीं सुधरेगी, तब तक समाज उनका आदर नहीं करेगा। 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' निबंध में वो लिखते हैं–

'भारतवर्ष की शताधिक जातियों को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करने का एक मात्र तरीका यह है कि उनकी राजनीतिक और आर्थिक मर्यादा ऊँची की जाए। जिस दिन इस अकारण दलित जनसमूह में राजनैतिक गरिमा और आर्थिक स्वाधीनता का संचार होगा, उसी दिन वास्तव में वह मुक्त हो सकेगा।'[9]

लोक में गहरी पैठ होने के कारण द्विवेदी जी लोक–जीवन में प्रचलित कथाओं, आख्यायिकाओं, अन्धविश्वासों आदि का अपनी कल्पना शक्ति से वर्तमान समाज और परिस्थितियों से ऐसा रुपक बाँधते थे कि वह सजीव हो उठता था। मुड़ कट्टे (सिर कटे) भूत की एक ऐसी ही कथा से वर्तमान मनुष्य की सभ्यता को 'देवदारु' निबंध में देखिए कैसे स्थापित करते हैं–

'भूतों में जैसे मुड़कट्टे होते हैं, आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की कोई चीज आज तक होती ही नहीं, मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ.....?'[10]

साहित्य लेखक के व्यक्तित्व और अनुभूतियों का विस्तार होता है। साहित्य में लेखक का व्यक्तित्व दूध में घी की तरह समाया रहता है। द्विवेदी जी का निबंध साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। उनके ललित निबंधों में उनका विराट व्यक्तित्व पुष्प में सुगन्ध की तरह व्याप्त है। वह व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनके गाँव ओझवलिया (जनपद–बलिया), शान्ति निकेतन, बनारस और पंजाब का विशेष योगदान रहा। वे अपने निबंधों में जगह–जगह इन स्थानों की चर्चा भी करते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की आध्यात्मिकता, कालिदास का लालित्य और सौंदर्य, वैदिक ऋषियों की मंगल–वाणी और भारतीय संस्कृति की समाहार की शक्ति इन सबसे मिलकर द्विवेदी जी का व्यक्तित्व निखर उठता है।

सौंदर्य पारखी उनकी दृष्टि साहित्य की मनोहरता और सर्जक की उदारता उद्घाटित करती है। 'शिरीष के फूल' निबंध में एक बानगी देखिए–

'शकुन्तला बहुत सुन्दर थी। सुन्दर क्या होने से कोई हो जाता है। देखना चाहिए कि कितने सुन्दर हृदय से वह सौंदर्य डुबकी लगाकर निकला है। शकुन्लता कालिदास के हृदय से निकली थी। विधाता की ओर से कोइ कार्पण्य नहीं था, कवि की ओर से भी नहीं।'[11]

द्विवेदी जी जीवन को समग्रता में देखते थे। जीवन और साहित्य को वे साधना से सँवारने की बात करते थे। वो कुरुपता में भी सौंदर्य देखने वाले थे। संसार को वो एक कलाकृति मानते थे। जिसमें सातों रंगों के सामंजस्य के वो हिमायती थे। 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य' निबंध में वो लिखते हैं–

यह संसार भी एक महत्वपूर्ण विशाल कलाकृति है। इसको इस ढ़ंग से सजाना कि उसकी कुरुपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक प्रकार के उपादान उचित मात्रा में, उचित स्थान पर ठीक से बैठा दिए जायँ–यही सबसे बड़ी कला है। सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम साहित्य है।'[12]

द्विवेदी जी समाज में होने वाली उथल–पुथल, साहित्यिक खींचतान और सांस्कृतिक परिवर्तनों से विचलित नहीं होते थे। वो निराशा में भी आशा देखते थे। उनका मानना था कि लक्ष्य की प्राप्ति में आने वाली विघ्न–बाधाओं को देखकर घबराना या लक्ष्य–भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। जब रात्रि का अन्धकार घना होने लगे तो समझना सबेरा होने वाला है। कविवर रवीन्द्रनाथ की काव्यात्मक भाषा में वो कहते हैं–

'यह जो लुहार की दुकान की खटखटाहट और धूल–धक्कड़ है, इनसे घबराने की जरुरत नहीं है। वहाँ वीणा के तार तैयार हो रहे हैं। जब ये तार बन जाएंगे तो एक दिन इनकी मधुर संगीत ध्वनि से निश्चय ही मन और प्राण तृप्त हो जाएँगे।'[13]

द्विवेदी जी अतीत से सीखते हुए आगे बढ़ते थे। उनका चिंतन वर्तमान को सुन्दर बनाने के लिए था। अपने निबंधों में द्विवेदी जी ने समकालीन परिवेश और प्रवृत्तियों पर भी स्थान–स्थान पर विचार–विमर्श किया है। साहित्य, साहित्यकार और आलोचना तीनों द्विवेदी जी के चिन्तन के केन्द्र में रहे हैं। सौंदर्य की साधना करने वाले कवि अब थोड़े ही रह गए हैं और जो हैं भी तो आलोचक उन्हें कहीं का नहीं छोड़ते। इसी बात को द्विवेदी जी अपनी शैली में कहते हैं–

'मेरे सामने जो अल्हड़ कवि हैं इनका क्या होगा। वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नहीं, फिर भी डर तो लगता ही है। हाथी न सही गधों और खच्चरों से तो शहर भरा पड़ा है।'[14]

इसी तरह समाज के वैचारिक चिन्तन और मूल्यों में जो गिरावट आई है, और उससे जो क्षति इस देश को हो रही है, उसका भी उन्हें कोई मलाल नहीं है। देवदारु निबंध में ही द्विवेदी जी लिखते है–

'इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ जाति देखते आ रहे हैं। व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परवा है।'[15]

सिर्फ समाज पर ही द्विवेदी जी नजर नहीं रखते थे वरन् समाज से प्रस्फुटित और उसको ही प्रभावित करने वाले साहित्य पर भी सूक्ष्मता से विचार करते थे। साहित्य में कौन से विचार, विचारधारा और विषय वस्तु समयानुकूल और प्रासंगिक है, जिसका चित्रण साहित्य में होना चाहिए। इस विषय पर भी उन्होंने बड़ी बेबाकी से अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'सावधानी' की आवश्यकता' निबंध में वे लिखते हैं–

'इन दिनों हमारी प्रधान समस्या व्यक्तिगत यौन भावनामूलक मानसिक विपथगामिता नहीं है। हमारे देश

में कुछ रीति–रस्म ऐसे हैं, जो मनुष्य को सामाजिक रुप में अस्वस्थ चेता बनाए हुए हैं। इनमें कुछ नितांत सामयिक हैं, कुछ दीर्घकाल की जमी हुई मिट्टी की तरह हमारे मन पर सवार हैं। दोनों का अध्ययन और नियमन होना चाहिए।'[16]

द्विवेदी जी जिस समय साहित्य साधना में रत थे, उस समय समस्या पूर्ति और तुक–बन्दी का भी साहित्य में प्रचलन था। लेकिन द्विवेदी जी झगरे–डगरे–रगरे– बगरे वाली तुक–बन्दी के समर्थक नहीं थे। वे अर्थ में तुक के शोधकर्ता थे। 'देवदारु' निबंध में द्विवेदी जी लिखते है–

'तुक वह है जो देवदारु की गगन चुम्बी शिखा और समाधिस्थ महादेव की निवात्–निष्कम्प–प्रदीप की ऊर्ध्वगामिनी ज्योती में है। अर्थात तुक अर्थ में रहता है।'[17]

इसी तरह बिना पढ़े आलोचना करने वाले आलोचकों और लेखकों पर भी द्विवेदी जी ने अपने निबंधों में बेबाक टिप्पणी की है। उनका मानना था कि साहित्य–सृजन और आलोचना के कार्य को बड़ी ईमानदारी और लगन से करना चाहिए, क्योंकि यह एक जिम्मेदारी का कार्य है। 'आपने मेरी रचना पढ़ी' निबंध में वे लिखते हैं–

'रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपित।'[18]

द्विवेदी जी युवा साहित्यकारों को सदैव प्रोत्साहित करते थे। साथ ही प्राप्त अवसरों से लाभ उठाने के लिए सदैव सचेत किया करते थे। उनका मानना था कि युवा वह कार्य कर सकते हैं जिसे लोग असम्भव मानते हैं। द्विवेदी जी युवाओं के समक्ष उच्च आदर्श रखते थे और उसका अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। उनके निबंधों में जगह–जगह इस विषय पर चर्चा मिलती है। 'सावधानी की आवश्यकता' निबंध में वे लिखते हैं–

'तरुण साहित्यकार के लिए आज स्वर्ण संयोग प्राप्त है। ऐसे ही स्वर्ण अवसर पर रुस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था, जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रुप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया।'[19]

द्विवेदी जी के निबंध अपनी विषय वस्तु के साथ–साथ अपनी भाषा के लालित्य के लिए भी जाने जाते हैं। कठिन से कठिन और कटु से कटु बात को द्विवेदी जी अपनी गल्प शैली और भाषा के लालित्य से रुचिकर बना देते हैं। उनकी कल्पना की शक्ति अद्वितीय थी। वे कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहते थे, लेकिन वो स्वयं वाणी के डिक्टेटर थे। अपने गाँव ओझवलिया के एक पंडित जी और उनकी विद्वता का चित्रण देखिए। भाषा का लालित्य और कल्पना का उत्कृष्ट रुप है–

'हमारे गाँव में एक पंडित जी थे विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के जोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था.....। गायत्री का मन्त्र (उनके मुँह से आल्हा जैसा सुनाई देता था) और देवदारु की लकड़ी उनके अस्त्र थे।'[20]

द्विवेदी जी भाषा को साधना मानते थे। सहज भाषा के वो समर्थक थे। उनके निबंधों में भाषा की सहजता तो है ही, भाषा की सहजता पर गंभीर चिंतन भी है। वो सहजता जिसमें बनावटी पन न होकर ह्रदय के भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य हो। वह सहजता जो कठोर परिश्रम और तप से प्राप्त होती है। 'सहज भाषा का प्रश्न' निबंध में वो लिखते हैं–

'सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान बना देने वाली भाषा। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध संस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके

किसी काम की नहीं...... । तपस्या त्याग और आत्मबलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है।'[21]

लेकिन सहज भाषा सीखने से ही नहीं आती। क्योंकि भाषा हमारे अन्तः करण की अभिव्यक्ति है। भाषा हमारे अन्तः करण के भावों की सूचना देने वाली है। द्विवेदी जी लिखते है–'जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं, उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा।'[22]

द्विवेदी जी के निबंधों की सहज भाषा और उसके लालित्य की एक बनगी देखिए–

'पुराने कवि बकुल के पेड़ में ऐसी दोलाओं को लगा देखना चाहते थे, पर शिरीष भी क्या बुरा है। डाल उसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरुर होती है, पर उसमें झूलने वालियों का वजन भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता। कवियों की यही तो बुरी आदत है कि वजन का एकदम ख्याल नहीं करते। मैं तुन्दिल नरपतियों की बात नहीं कह रहा हूँ, वे चाहें तो लोहे का पेड़ बनवा लें।'[23]

इस विवेचन और विश्लेषण के उपरान्त हम पाते हैं कि द्विवेदी जी के ललित निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। भाषा, भाव, विचार और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अद्वितीय है। द्विवेदी जी का विराट व्यक्तित्व इनमें निखर उठता है। कल्पना और सौंदर्य के समन्वय से निबंधों में रोचकता आ गयी है।

सन्दर्भ

1. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, अट्ठाइसवां संस्करण–2007, पृष्ठ–132–133।
2. खंडेलवाल, रामेश्वरलाल, गुप्त सुरेशचन्द्र, हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1, संस्करण–2010, पृष्ठ–179।
3. द्विवेदी जगदीश नारायण, द्विवेदी मुकुन्द, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग–9 राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण अगस्त–1981, पृष्ठ–227।
4. वही, पृष्ठ–199
5. वही, पृष्ठ–65
6. वही, पृष्ठ–23
7. वही, पृष्ठ–25
8. वही, पृष्ठ–34
9. वही, पृष्ठ–298
10. वही, पृष्ठ–39
11. वही, पृष्ठ–28
12. ग्रन्थावली, भाग–10, पृष्ठ–20
13. ग्रन्थावली, भाग–9, पृष्ठ–200
14. वही, पृष्ठ–41
15. वही, पृष्ठ–41
16. द्विवेदी हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, संस्करण–2007, पृष्ठ–45
17. ग्रन्थावली, भाग–9, पृष्ठ–36
18. द्विवेदी हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, संस्करण–2007, पृष्ठ–50
19. वही, पृष्ठ–46
20. ग्रन्थावली, भाग–9, पृष्ठ–39
21. ग्रन्थावली, भाग–10, पृष्ठ–273–274
22. वही, पृष्ठ–273–274
23. वही, पृष्ठ–26

हिन्दी

रीति परम्परा और रसलीन

–डॉ०अ ालमगीरअ लीअ हमद*

रीतिकाल में श्रृंगार वर्णन की जो बाढ़ आ गयी थी वह अनहोनी घटना नहीं थी वह एक परम्परा का प्रतिफल था। परम्परा के महत्व को यूरोपीय और भारतीय परम्परा के महान रचनाकारों की रचनाओं के प्रकाश में समझा जा सकता है। शेक्सपियर और तुलसीदास दोनों अपनी परंपरा से जुड़े हुए कवि हैं। परंपरा की भिन्नता के कारण दोनों की रचनाधर्मिता भिन्न–भिन्न हैं। एक भौतिकता में मनुष्य के प्रतिभा विकास को दिखाता है, दूसरा आध्यात्मिकता के परिपार्श्व में आत्मा की उदात्तता का निदर्शन करता है। इस प्रकार परम्परा एक संस्कारित पथ है, जिसको त्याग कर कोई अपने विकास के मंजिल तक नहीं पहुँच सकता।

साहित्य की धारा की भी अपनी विकासात्मक परम्परा है। रीति परम्परा जो श्रृंगारिक परम्परा है, इसका बीजवपन आदिकाल में हो चुका था। भक्तिकाल के काव्यों का उद्गम भी आदिकाल में विद्यमान है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य में धार्मिक कथाओं और ऐतिहासिक चरित्रों की उन प्रवृत्तियों का विकास होता दिखाई देता है, जो भक्तिकाल में रामचरित मानस एवं 'पद्मावत' जैसे महाकाव्यों के नये रूपों में व्यक्त हुआ। आदिकालीन जैन साहित्य, रासो साहित्य तथा लोक काव्यों की प्रवृत्तियाँ जो नारी और युद्ध पर आधारित थीं। भक्ति का आवरण ओढ़कर आगे बढ़ीं। प्राकृत और अपभ्रंश से 'राउलवेल' तक श्रृंगार की जो परम्परा थी वह भक्तिकाल को प्रभावित करती हुई रीतिकाल तक चली गयी। नारी के सहज श्रृंगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य तक पहुँचने की प्रवृत्ति आदिकाल में बेगवती धारा बन गई थी। नखशिख वर्णन, विरह के विभिन्न रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास संदेश–प्रेषण, स्वकीया और परकीया की प्रेम की सीमाएँ इन सबके दर्शन आदिकाल के साहित्य में होते हैं[1]।

ऐतिहासिक प्रेक्षण के क्रम में ऊपर की बातों का जिक्र किया गया है। वस्तुतः श्रृंगार प्रवृत्ति के उत्स आदिकाल में ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु 'रीति' परम्परा के सम्यक अध्ययन के लिए इसके विशेषज्ञ के निर्देशन का अध्ययन आवश्यक है।

डॉ0 नगेन्द्र की निम्नांकित पंक्तियाँ इस विषय विचारणी है– हिन्दी का आदिम युग वीर गीतों और गाथाओं से मुखरित था। वीर गीतों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, परन्तु वीरगाथा के कवियों में कुछ कवि विशेषकर चन्द्रवरदायी–काव्य रीति के प्रति सावधान थे, पृथ्वीराज रासो के श्रृंगार चित्रों में ऐसे चित्र मिल जाते हैं, जिनमें रूप के उपमानों का रीति से जकड़ कर रखा गया है।

डॉ0 नगेन्द्र के प्रेक्षण के प्रमाण हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में आसानी से ढूंढ़ सकते हैं, क्योंकि आचार्य द्विवेदी सतर्क दृष्टि के इतिहासकार आलोचक दोनों हैं।[2]

*एसोसिएट प्रोफेसर, शिब्ली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़ (उ0प्र0)

कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दो पब्बय।
पब्बय उप्पर भृंग, भृंग उप्पर ससि सुभ्मय
मृग उप्पर कोदंड संघ कंद्रप्प बयट्ठौ।
अहिमयूर महि उप्परह ही रसरस हेमन जर्यो।
सुर भुवन छंडि कवि चन्द कहि तिहि घोषै राजन।।

इस क्रम में सूर का एक उदाहरण देखकर श्रृंगार परम्परा पर्यो का प्रतिमान अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। ललिता राधा के सौन्दर्य को एक अनुपम बाग के रूप में प्रस्तुत करती हैं[3]–

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगुल कमल पर गजबर क्रीड़त,
तापर सिंह करत अनुराग।।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग।।
रूचिर कपोत बसे ता ऊपर,
ता ऊपर अम्रित फल लाग।।

डा0 नगेन्द्र ने रीतिकाव्य की भूमिका में विद्यापति का भी एक उदाहरण प्रस्तुत किया हैं[4]–

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल।।
अब सब खन रह ऑचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात।।
कि कहबि माधव वयसि क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बधि।।

इन पंक्तियों में राधा के किशोरावस्था का वर्णन है जो श्रृंगारिक परम्परा के अन्तर्गत आता है। श्रृंगार रस के बारे में डॉ0 नगेन्द्र कहते हैं–रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों और कवियों ने आग्रह के साथ इसका रस राजत्व घोषित किया है। परन्तु कोई नवीन कल्पना नहीं थी। शताब्दियों पूर्व 'अग्नि–पुराण', 'श्रृंगार तिलक' और श्रृंगार प्रकाश, श्रृंगार को एक मात्र रस मानते हैं। इस प्रकार श्रृंगार रस जिसकी परम्परा संस्कृत–प्राकृत तथा अपभ्रंश से होती हुई आदिकाल से रीतिकाल तक आते–आते कविता की मुख्यधारा बन गयी। श्रृंगार काल में श्रृंगार रस की धारा अनेक वर्गों में प्रवह्मान हुई।

रीतिकाव्य की परम्परा उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर दो वर्गों में विभक्त की जा सकती है– मुख्य प्रवृत्तियाँ – क. रीति निरूपण ख. श्रृंगारिकता

गौण प्रवृत्तियाँ – क. राज प्रशस्ति (वीर काव्य) ख. भक्ति और ग. नीति।

हम इनका विश्लेषण ग्रंथकार की दृष्टि से काव्य–विवेचन तथा निरूपण शैली की दृष्टि से कर सकते हैं। ग्रंथकार की दृष्टि से तीन प्रवृत्तियाँ हैं–पहले दृष्टि से रीतिकर्म के ग्रंथकार हैं। इनका लक्ष्य कवित्व प्रदर्शन है। इस दृष्टि से, जसवंत सिंह, याकूब खां तथा गोविन्द का नाम लिया जा सकता है। दूसरी दृष्टि रीतिकर्म तथा कविकर्म को महत्व देने वाले ग्रंथकार है। इसके अन्तर्गत चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति आदि आते हैं। तीसरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाले ग्रंथकार लक्षणों का वर्णन न कर सभी छंदों में नखशिख वर्णन करते हैं। इन कवियों में बिहारी मतिराम आदि आते हैं। इनके ग्रंथ श्रृंगारी हैं।

काव्यांग विवेचन की प्रवृत्ति के आधार पर दो वर्गों में बांटा जा सकता है– 1. सर्वांग विवेचन 2. विशिष्टांग विवेचन।

सर्वांग विवेचन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वालों ग्रंथों में सामान्य रूप से काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, शब्द–शक्ति, काव्य की आत्मा (रस ध्वनि), काव्य गुण, काव्य दोष, काव्य रीति, अलंकार तथा छंद का निरूपण किया गया है। कुछ लोगों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रंथ में किया है। चिन्तामणि का 'कविकल्पतरू' देव का 'शब्द रसायन', कुलपति का 'रस रहस्य' दास का 'काव्य निर्णय' इसी प्रकार के काव्य ग्रंथ हैं। विशिष्टांग विवेचन के अन्तर्गत वे ग्रंथ हैं एक से अधिक काव्यांगों का विवेचन किया गया है। रस,

अलंकार, छंद में से कभी दो या तीन का वर्णन एक ग्रंथ में किया गया है।

इसमें रसलीन सर्व रस निरूपक कवि के अन्तर्गत आते हैं। ये व्यवस्थित विवेचन तथा कवित्व का सामान्य रूप से निर्वाह करते हैं। सैयद गुलाब नबी 'रसलीन' (1699–1750), का स्थान अपने वर्ग में महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने दो ग्रंथों, रस प्रबोध (1742) और 'अंगदर्पण' (1737) की रचना की है, ये दोनों रीतिग्रंथ हैं।

'रस प्रबोध' यद्यपि सभी रसों का वर्णन हुआ है, तथापि इस वर्ग के अन्य ग्रंथों के समान ही मूल विषय श्रृंगार रस तथा नायिका भेद का विवेचन है। अन्य रसों का वर्णन भी इस ग्रंथ में संक्षेप में हुआ है। रसलीन रीति परम्परा का पालन करते हुए भी अपनी विशिष्टता प्रकट करते हैं।

वे अपने ग्रंथ में सबसे पहले भाव का वर्णन करते हैं। वे इस ग्रंथ की रचना के पहले वे कहते हैं[5]–

स्रवन सुनत रस शब्द को, ग्रंथन देख्यो जाइ।
रस लक्षन तिनके मते, समुझि पर्‌यो यह आइ।।

रस प्रबोध की रचना के काल का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है[6]–

सत्रह सै अट्ठानबे, मधु सुदिछठ बुधवार।
बिलग्राम में आइके भयो ग्रंथ अवतार।।

रस प्रबोध काव्य–शास्त्रीय दृष्टि से मधुकलश है। रसलीन का विचार है कि भाव से ही रस होता है। इसलिए इस ग्रंथ में भाव का विवेचन पहले करते हैं[7]–

भावहिं ते रस होत है समुझ लेहु मन मॉहि।
यातें पहिले भाव कवि बरनत हैं ठहराहि।।

भरतमुनि अपने नाट्यशास्त्र में रस के विधायक सूत्र में भाव की चर्चा करते हुए कहते हैं[8]– 'तत्र विभानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः' में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति की व्याख्या करते हैं। भरत इस सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख नहीं करते हैं। संभवतः भाव यहॉ स्वतः आक्षिप्त हो जाता है किन्तु रसलीन स्थायी भाव की भी बात करते हैं[9]–

रत्यादिक थिर भाव को कारन जान विभाव।
कारज है, अनुभाव अरू सहकारी चरभाव।।

भरतमुनि भी स्थायी भाव के महत्व को प्रतिपादित करते हैं[10]–

तथा नरांणा नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरूः।
एवं हि सर्वभावनां भाव स्थायी महानिह।। (7/8)

जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरू मुख्य होते हैं, वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ होते हैं। भरत मुनि स्थायी भावों की संख्या 8 बताते हैं क्योंकि नाटक में शान्त रस को स्थान नहीं दिया गया है। रसलीन भावों की संख्या नौ बताते हैं[11]–

रति हॉसी अरू सोक पुनि कोप उछाह सु आनि।
भय घृण अजरज समुझि पुनि निरवेदहिं थिर जानि।।

धनंजय तथा दशरूपक के टीकाकार धनिक ने आठ ही भाव माने हैं।

आलम्बन के विवेचन में भी रसलीन भरतमुनि तथा धनंजय से भिन्न हैं, इसका कारण है रीतिकालीन कवि आलंबन विभाव को चित्तवृत्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।

रसलीन विभाव, अनुभाव को परंपरा के अनुसार परिभाषित करते हैं[12]–

थाई कारन को सुकवि कहत विभाव विशेषि
सो द्वै विधि आलंबन अरू उद्दीपन अवरेषि।।
उपजै थाई जाहि लै सो अनिभावनि जानि।।
अधिक जाहि ते होइ सो उद्दीपन पहिचानि।।

इसी प्रकार वे अनुभाव को भी निरूपित करते हैं[13]–

कहि विभाव को कहत हौं अब अनुभाव प्रकास,
जो हिय ते रतिभाव को प्रकट करे अनयास।।

रसलीन अनुभावों के प्रसंग में रसलीन आचार्य

विश्वनाथ से प्रभावित प्रतीत हैं। विश्वनाथ कायिक, मानसिक, आहारिज (आहार्य) सात्विक चार प्रकार के अनुभावों को साहित्य दर्पण में बताते हैं[14]–

कायिक इक सौं जानिये मानसु दूजो होइ।
आहारिज है तीसरो चौथी सातुक जोइ।।

स्पष्ट है रसलीन का यह निरूपण परम्परागत है। सात्विक भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, ये स्थायी भावों को प्रकट करने के कारण ये अनुभाव कहलाते हैं[15]–

तन व्यभिचारी विदित हैं ये सब सातिक भाव।
थाई परगट करन हित गने जात अनुभाव।।

रसलीन ने तैंतीस व्यभिचारी भावों का वर्णन रस प्रबोध में किया है। रस प्रबोध में उन्होंने दोहा संख्या 833 से 924 तक संचारियों का वर्णन किया है। रसलीन ने लक्षण तथा उदाहरण विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। उन्होंने तैंतीस भावों के नाम दिये हैं–निर्वेद, ग्लानि, दीनता, शंका, त्रास, आवेग गर्व ऑसू, अमर्ष, उत्सुकता, स्मृति, चिन्ता तर्क, गति, धृति, हर्ष, क्रीड़ा, अवहित्था, चपलता, श्रम, निन्दा, स्वप्न, वैपथ, आलस, मद, मोह, उन्माद, अपस्मार, जड़ता, विषाद, व्याधि मरण।

भरत मुनि के तैंतीस भाव इस प्रकार हैं– निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, घृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निन्दा, अपरस्मार, स्वप्न विवोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, मास तथा वितर्क।

समग्रतः रसलीन ऐसे आचार्य हैं जो परम्परा का पालन करते हुए अपने विवेक का प्रयोग करते हैं। रीतिकालीन आचार्य कवि रसलीन केशव की मान्यता को अपने अनुकरण का विषय नहीं बनाते। उन्होंने अपने उदाहरणों में सरलता तथा तरलता दोनों को प्रस्तुत किया है। आचार्य दास से प्रभावित होते हुए भी वे अपनी विशिष्टता बनाये हुए हैं।

सन्दर्भ

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र व डा0 हरदयाल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 76, सं0 2012ई0, मयूर पेपर वैक्स, नोएडा–201301
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 34, सं0 1961ई0, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद–6
3. वही, सूर साहित्य, पृ0 140, सं0 1980ई0 राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नई दिल्ली
4. डॉ0 नगेन्द्र : रीतिकावय की भूमिका, पृ0 182, सं0 1969ई0 नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली–6
5. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 37, सं0 2044वि0, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
6. वही, रस प्रबोध, दोहा 25
7. वही, रस प्रबोध, दोहा 35
8. भरतमुनिः नाट्यशास्त्र–षष्ठ अध्याय, श्लोक 32, सं0 2067वि0, चौखम्भा संस्कृत, वाराणसी
9. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 52
10. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, अध्याय सात, श्लोक 8
11. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 48
12. वही, रस प्रबोध, दोहा 49–50
13. वही, रस प्रबोध, दोहा 51
14. वही : रस प्रबोध, दोहा 699
15. वही, दोहा 703

हिन्दी

कबीर की प्रासंगिकता

–डॉ०म ुकुन्दभाईए च.प टेल*

हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य भारत देश के हृदय की धड़कन का, यहाँ के जनजीवन की आशा–आकांक्षा, हर्ष–विषाद और हास्य–रूदन का साहित्य हैं। भारतीय जनता की आशा–निराशा, प्रेम–घृणा तथा उल्लास– उदासी के मूर्तिमान प्रतिबिम्ब संत साहित्य में दर्शनीय हैं। भारत के अन्तःकरण की मानवीय संवेदनशीलता, लोक जीवन की दृढ आस्था और उज्जवल भविष्य की मांगलिकता की मीठास संत साहित्य में मिलती है। भावों की सच्ची अभिव्यक्ति हीं संतों का लक्ष्य था। प्रतिपाद्य विषय की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर संतों की वाग्धारा इतनी गतिशील हुई कि वे सच्ची सौंदर्यपूर्ण कविता का रूप धारण कर सकी।

निर्गुण काव्य धारा के संत कवि सामन्यतया समाज के निम्न वर्गो में उत्पन्न हुए थे। वे साधन विहीन वातावरण में पले–बढ़े और बड़े हुए थे। संत कबीर भी इन्हीं में से एक थे। संत कबीर एक सफल साधक, प्रभावशाली उपदेशक, महान समाज सुधारक और क्रान्त युगद्रष्टा थे। उन्होंने कविता के सहारे अपने विचारों को युग युगान्तर के लिए अमरता प्रदान की। कविता उनके विचारों, उपदेशों, तथ्यों तथा आध्यात्मिक अनुभवों को प्रकट करने का माध्यम थीं। अपने जीवन में भोगी गई विषमताओं, कुत्साओं और प्रताड़नाओं से प्रभावित होकर कबीर ने युगों–युगों की जनभावना को प्रभावित करने वाली वाणी कहीं! उन्होंने स्वयं भोगी हुई वेदनाओं को आक्रोश पूर्ण समाज में फैले हुए ढ़ोंग और ढकोसलों, कुत्सित विचारधाराओं के प्रति दो–टूक शब्दों में जो बातें कहीं, उससे समाज की आँखें फटी की फटी रह गई और साधारण जनता उनकी वाणियों से चेतना प्राप्त कर उनकी अनुगामिनी बनने को बाध्य हो उठी।

देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान वैयक्तिक जीवन के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न संत कबीर ने किया। उन्होंने बाँह उठाकर बलपूर्वक कहा–

"कबीरा खड़ा–बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूके आपनो, चले हमारे साथ।।"

धार्मिक आडंबरों एवं विषमताओं का उन्होंने खुलकर विरोध किया। बाह्याडंबरों का त्याग तथा सदाचारी सत्यजीवन उनके पथ का सम्बल था।

वर्तमान साम्प्रदायिक संकीर्णता के विषम वातावरण में कबीर के काव्य की अत्यन्त उपयोगीता है। कबीर ने धर्म को मानव धर्म को रूप में देखा था। आज से लगभग 600 साल पूर्व संत कबीर ने साम्प्रदायिकता की विश्व समस्या की और ध्यान दिलाया था, वह आज भी ज्वालामुखी की भाँति भयंकर बनकर देश के वातावरण को विदग्ध करती रहती है। भारत देश का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि जहाँ जाति, धर्म, भाषागत ईश्या, द्वेष, वैर–विरोध की भावना, समय–असमय भयंकर ज्वालामुखी के रूप में भड़क उठती हैं। दस–बीस

*एसोसिएट प्रोफेसर, बी.डी.कॉलेज, अहमदाबाद (गुजरात)

हताहत भी होते हैं, करोड़ों लोगों की संपत्ति नष्ट हो जाती है और विकास की गति मंद पड जाती है।

कबीर के समय हिन्दू–मुस्लिम जनता आपस में मन्दिर–मस्जिद के प्रश्न पर संघर्षरत रहती थी। धर्म के ठेकेदार धार्मिक उन्माद के चूल्हे पर स्वार्थ की रोटियाँ सेकते थे, जैसा ही वर्तमान समय में हो रहा है। वोटों की कलुषित राजनीति ने इसे और भी गंदा कर लिया है। मन्दिर–मस्जिद के नाम पर साम्प्रदायिक दंगें तब भी होते थे और अभी हो रहे हैं। अयोध्या की बाबरी मस्जिद को ढ़ाँचा बताते हुए तोड़ दिया गया और सारे देश में उथल–पुथल मच गई। इसलिए निश्चित रूप से कबीर की वाणी आज के इस माहोल में अधिक प्रासंगिक है। वैज्ञानिक उपकरणों एवं सुख–सुविधा के साधनों को जुटाकर भले हीं हम प्रगति का दावा करें किन्तु मानवता के संदर्भ में हम रंजमात्र भी प्रगति नहीं कर सके हैं। आज भी समाज में धार्मिक विद्रोह व्याप्त है, जाति प्रथा ने अपनी जड़ों को मजबूत किया है, समाज में विषमता बढ़ती रही है, असहिष्णुता दीन–प्रतिदिन व्याप्त होती रहती है, समरसता कहीं दिखाई नहीं देती। इसलिए कबीर की प्रासंगिकता वर्तमान संदर्भों में और भी बढ़ गई है। कबीर ने पाखंड, बाह्याचार, अँधविश्वास, एवं रूढ़ियों पर कुठाराघात किया। कबीर ने सर्वधर्म समभाव का संदेश दिया। हिन्दुओं और मुसलमानों के दोषों को पूरी निर्भिकता से उजागर किया, जिनके आधार पर वे एक–दूसरे के शत्रु बन गये थे। क्या आज हिन्दू–मुस्लिम समस्या सुलझ गई है? यदि नहीं सुलझ गई तो कबीर आज भी प्रासंगिक हैं।

संत कबीर जाति जाति में, हिन्दू–मुसलमान में शारीरिक दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते। भेद केवल विचारों और भावों का हैं। इन विचारों एवं भावों के भेद को बल धार्मिक कट्टरता और रूढिवादिता से मिलता है। हृदय की चरमानुभूति की दशा में राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल उन माध्यमों में है जिनके द्वारा वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है।इसलिए कबीर साहब ने उन माध्यमों–पूजा–नमाज, व्रत–रोजा, मन्दिर–मस्जिद, अल्लाह, कृष्ण, करीम, खुदा, भगवान, राम आदि जन प्रचलित ईश्वर वाचक शब्दों का अपनी वाणियों में प्रयोग करके सबका ईश्वर एक है यह दिखाने का प्रयत्न किया दृ

"कहैं कबीर मैं हरि गुन गाऊँ,
हिन्दू तुरक दोऊ समझाऊँ।
हिन्दू तुरक का करता एकै,
ता गति लखी न जाहे।।"

कबीर ने समाज में एकता एवं समानता की भावनाओं का प्रचार–प्रसार किया। उन्होंने जातीयता के नाम पर होने वाले व्यर्थ के झगड़ों और हिन्दू–मुसलमानों की परस्पर विरोधी भावनाओं का खुलकर विरोध किया देखिए–

"हिन्दू कहैं मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोऊ लरि मूये, मरम न काहू जाना।।"

हिन्दू मुसलमान अपने अपने अहम में डूबकर एक–दूसरे को बुरा बताते थे। कबीर साहब ने स्पष्ट शब्दों में कहा–

"अव्वल अलह नूर उपाया, कुदरत के सब बंदे।
डाक नूर तें सब जगा उपज्या, कौन थलै को मंदे।।"

कर्मों के प्रति निष्ठा और संम्पूर्ण मानव जाति के प्रति आदर और प्रेमभाव देखकर हीं व्यक्ति, समाज एवं देश का कल्याण हो सकता है। हम सभी मानव मूलतः एक हैं। मानव की केवल एक जाति है और परिश्रम ही उन्नति का पथ है। यह महामंत्र सद्गुरु कबीर साहब ने मानव समाज में फूँका। तत्कालिन उपेक्षित, शोषित–दलित जनमानस के दुःख को अपने काव्य का आलम्बन बनाया। मनुष्य मात्र एक है, सबको बनाने वाला एक है–

"एकै त्वचा, हाड मल मूत्रा, एक रूधिर एक गूदा।
एक बूँद से सृष्टि रची है, को बाह्मण को शूद्रा।।"

(संचारिका–पृ.35)

जाति–पाँति को छोड़कर हरिभक्त को ही समाज में श्रेष्ठता प्रदान करते हुए उन्होंने कहा–

'हरि जन चारि वरन ते ऊँचे।'

कबीर से पूर्व संत नामदेव भी इसी तथ्य को बता चुके हैं–

'जाति पाँति पूछे नहीं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई।।'

संत कबीर के इस प्रकार के प्रयास से दो स्वतः सम्भव लाभ हुआ। एक अभिजात वर्ग का अहंकार दमित हुआ, दूसरे पतित समाज में सांस्कृतिक चेतना और क्रांति उपस्थित हुई। कबीर साहब ने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस संक्रामक युग में दृढता के साथ मनुष्य–मनुष्य के बीच समानता की घोषणा करके एकता और भ्रातृत्व भावना का प्रसार किया।

इस काल में भीख मांगनेवालों की बहुत बड़ी संख्या ईधर–उधर साधुओं के नाम पर भीख माँगती फिरती थी। संत कबीर ने इसका घोर विरोध करते हुए कहा कि–

"माँगन मरने समान है, मत कोई माँगो भीख।
माँगने ते मरना भला, ये सतगुरू की सीख।।"

वस्तुतः संत कबीर ने भिक्षावृत्ति का घोर विरोध किया। हमारी धन संग्रह करने की प्रवृत्ति सदैव से रही है। एक और धन–दौलत के भण्डार भरे रहते हैं, दूसरी ओर भुखमरी फैलती रहती है। आज समाज में धनी अधिक धनी और दरिद्र अधिक दरिद्र होता जा रहा है। संग्रह करने वाला व्यक्ति कभी दीन–दुखियों की कठिनाईयों पर ध्यान नहीं देता। यदि समाज में धन का संचरण ठीक ढ़ंग से होता रहे तो आर्थिक विषमता की खाई शीघ्र ही दूर की जा सकती है। आज सरकार इस विषमताओं को पूरा करने के लिए उत्सुकतापूर्वक प्रयत्नशील है। कबीर साहब ने भी अपने काल में फैली हुई इस पिशाचिनी प्रवृत्ति का कड़े शब्दों में विरोध किया–

"सौ पापन को मूल है, एक रुपैया रोक।
साधू है संग्रह करैं, हारे हरि सो थोक।।"

कबीर साहब ने इस प्रवृत्ति को थोक के दाता भगवान के विरूद्ध बताया। वैसे प्रत्येक धर्म में ही इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ का विरोध किया गया है। कबीर साहब ने संतोष की प्रवृत्ति पर हीं बल दिया था। प्रमाण स्वरूप में पंक्तियाँ–

"संत ने बांधे गाँढरी, पेट समाता लेह।
आगे–पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देह।।
आधी औ सुखी भली, सारी सोग संताप।
जो चाहेगा चूपडी, बहुत करेगा पाप।।"

सूद खानेवाले शाहुकारों की प्रवृत्ति आजकल ज्यादा विकराल बन गई है उसके बारे में कबीर ने कहा था–

"कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बढ़ाय।
लेह पईसा व्याज का, लेखा करता जाय।।"

आज समाज में कथनी और करनी में कोई साम्य नहीं। लोग कहते है कुछ तथा करते कुछ और हैं, 'मनसि अन्यत् वचसि अन्यत' का प्रकोप हैं। संत कथनी और करनी में, अन्दर और बाहर में सामंजस्य चाहते हैं। कबीर कहते हैं–

"जैसी मुख तैं नीकसे, तैसी चाले चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहे, पल में कई निहाल।।"

कबीर साहब ने उन मानवीय जीवन आदर्शों पर बल दिया जो समाज को सुखी बना सकते हैं। समाज को सुखी बनाने के लिए दुर्गुणों को त्याग देना अत्यंत आवश्यक है। भारत जैसे कृषिप्रधान देश में भूमि आय का मुख्य साधन रही है। भारत में आर्थिक विषमता का एक मुख्य कारण भूमि का असमान वितरण भी रहा है। बड़े किसान छोटे किसानों को हड़पने में मत्स्य न्याय चलाते रहे। भूमि वितरण की इस असमान पद्धति और उससे उत्पन्न समस्याओं की ओर संत विनोबा भावे का ध्यान गया था। उन्होंने सशक्त शब्दों में कहा कि भूमि वितरण व्यक्तियों की संख्या और आवश्यकता के आधार

पर होना चाहिए।

'जैते जिव होती बुई दीजै।'

इस प्रकार काल मार्क्स से लगभग चार सौ साल पहले संत कबीर ने सच्चे समाजवाद की बुनियाद डालने का प्रयत्न किया था। उनका समाजवाद धार्मिक भावना से परिपूर्ण था। जिसमें ईश्वर में आस्था, शांति, सत्य और सरलता का सहसामृत भरा हुआ था। उनके द्वारा बताए गए कुछ आदर्श आज भारत में हीं नहीं बल्कि विश्व में अपनाये जा रहे हैं।

संत कबीर के द्वारा स्थापित किए गए आदर्शो की बुनियाद पर भारत का भव्य निर्माण कार्य हो रहा है। डॉक्टर अंबेडकर ने छूत–अछूत के भेदभाव को मिटाकर सबको समान स्थान दिलाने का प्रयत्न किया था। आज समाज में स्पृश्य–अस्पृश्य, ऊँच–नीच की भावना दिन–प्रतिदिन कम होती रही है। महात्मा गांधी ने हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था, लेकिन यह एकता कायम न हो सकी। बुद्धिजीवियों का यह परम कर्तव्य है कि एकता, समानता और भ्रातृत्व भावना का समाज में अधिकाधिक प्रचार–प्रसार करें। मौलाना रूमीने सच ही कहा था–

"तू वराहा वस्ल करदन आमदी।
न वराहा फस्द करदन आमदी।।"

हा इन्सान! तू संसार में प्रेम, मुहब्बत का प्रसार करने के लिए आया है, झगड़ा और फिसाद फैलाने के लिए नहीं।

कबीर के दर्शन एवं साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है। केन्द्र से वर्गीय स्वार्थो को हटाकर मनुष्य की प्रतिष्ठा करने के लिए कबीर ने बहुमुखी क्रांति की। कबीर की वाणी में एक रस धारा है जिसके सहारे मानवतावादी जीवन मूल्यों की जड़े मानवमन की गहराईयों में भेदती चली जाती हैं।

इस प्रकार कबीर साहब का साहित्य जन–जीवन को जगानेवाला साहित्य है। वह अहिंसा, स्नेह, शांति और सत्य की भावना से परिपूर्ण है। इसके प्रचार–प्रसार से 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना जाग्रत हो सकती है। कबीर के ह्रदय में अमृत प्रेम का सागर हिलारें लेने लगता है। वे हाथ फैलाकर जीव मात्र की भलाई के लिए दुआ करते हैं–

"कबीरा खड़ा बजार में, माँगे सबकी खैर।
ना काहू से दोसती, ना काहू से वैर।।"

आज हमारे समाज में जो विश्रृंखलता दिखाई दे रही है, तथा हम लोग जिस धार्मिक विद्वेष के माहोल में जीवन यापन कर रहे हैं, उसमे कबीर की शिक्षा अधिक प्रभावी भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं। नैतिक मूल्यों का क्षरण आज जिस तीव्रता से हो रहा है तथा मानवीय मूल्यों का जो विघटन समाज में दिखाई दे रहे है उसके विषात्त प्रभाव को कम करने के लिए कबीर की अमृतवाणी की आवश्यकता बराबर अनुभव की जा रही है। ऐसी स्थिति में कबीर की प्रासंगकिता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। वे कल भी प्रासंगिक थे, आज भी प्रासंगिक हैं और आनेवाले कल में भी प्रासंगिक रहेंगे।

संदर्भ

1. कबीर की प्रासंगिकता संपादक–डॉ.सुनील जोगी, प्रेम प्रकाशन मंदिर–दिल्ली, पृष्ठ–10–17, 71–89
2. कबीर विशेष– संपा. गोविंद भक्त प्रकाशक, राम कबीर मंदिर ट्रस्ट, सुरत, पृष्ठ– 239, 303
3. अखंड आनंद, जुलाई– अगस्त–1999
4. कबीरवाणी– फरवरी–1983
5. बयान (मासिक पत्रिका)– संपा. मोहनदास नैमिशराय– दिल्ली–सितं–अक्टूबर–2014, पृ.14
6. संचारिका (त्रैमासिक) संपा. डॉ. माधव सोनटक्के– औरंगाबाद, अक्टूबर–दिसंबर–2011, पृ.35

हिन्दी

कामकाजी महिलाएँ : साहित्य और समाज से उनका सरोकार

–सदानन्द तिवारी*

साहित्य भाव व विचार की अभिव्यक्ति का साधन मात्र नहीं अपितु यह लेखक की समग्र जीवन दृष्टि का भी प्रतिफलन है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह अपनी अन्तिम परिणति में जीवन का सृजन भी है। हर रचनाकार अपने युग की उपज होता है। अतः युग में प्रचलित विमर्शों एवं सरोकारों का उनकी संवेदना, कल्पना एवं दृष्टि पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। बीसवीं सदी में समाज में स्त्री की अवस्थिति पर गहन तथा व्यापक विचार–विमर्श का वातावरण बना। इसी दौरान हिन्दी साहित्य में नारी जागृति की आवाज व्यापक धरातल पर उठने लगी। हिन्दी आत्मकथाओं में लेखिकाओं की बढ़ती तादाद ने अनायास नारी मुद्दों के स्तर को बदल दिया। ममता कालिया, प्रभा खेतान रमणिका गुप्ता एवं निर्मला जैन ने पहली बार स्त्री को स्त्री की नजर से देखकर उसके निजी मन के कोनों को खोला, परिणामस्वरूप नैतिकता की परम्परागत अवधारणा चरमराने लगी और स्त्री–पुरुष सम्बन्धों से लेकर स्त्री की अस्मिता की विविध आयामों की पड़ताल तीव्रतर होने लगी। बीसवीं शताब्दी में हमारी सामाजिक व्यवस्था में नारी के प्रति चिन्तन में गुणात्मक बदलाव आया है। आंकड़े यह भी कहते हैं कि वर्तमान में स्त्री, समाज की दृढ़ आधारशिला बनकर उभरी है। आज प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। शिक्षा आज स्त्री को स्वावलम्बी बनाया है परन्तु अपने बौद्धिक विकास की सामान्य – सी चाह में वह एक साथ कितने संघर्षों से दो चार होती है इसकी कल्पना तक पुरुष समाज नहीं कर सकता। स्त्री चाहे कामकाजी हो या घर को संभाल रही हो दमन व घुटन वह हर कदम पर महसूस करती है। सृजन लोक की अधिष्ठात्री स्त्री आज भी अपेक्षित बदलाव के लिए निरन्तर जूझ रही है।

'कामकाजी' शब्द 'कामकाज' में 'ई' प्रत्यय लगने से बना है। कामकाज में दो शब्द है– काम+काज। 'काम' शब्द संस्कृत के कर्म से तथा 'काज' शब्द संस्कृत के कार्य से व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार वस्तुतः दोनों शब्दों की ध्वनि एक ही है परन्तु अर्थ पर बल देने के कारण उसका प्रयोग दो बार हुआ है। अंग्रेजी में 'कामकाजी' के लिए 'working' शब्द मिलता है, 'working' के मूल में 'work' जिसका अर्थ है ''बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमताओं का उपयोग करके जीवकोपार्जन के लिए किया जाने वाला कोई काम।''[1]

कामकाजी– 'काम' अर्थात् कर्म, कार्य, धंधा, इच्छा, कामना, नौकरी, रोजगार आदि। 'काजी' अर्थात् काम में लगा रहने वाला उद्यमी। कामकाजी महिला आज दफ्तरों, घरों, अस्पतालों, विद्यालयों, बैंकों आदि में कार्यरत अर्द्धशिक्षित अथवा सुशिक्षित महिलाओं को कामकाजी स्त्रियाँ कहा जाता है।

एक कामकाजी महिला सामान्य स्त्री से अलग होती है। इसके पीछे ठोस कारण यह है कि सामान्य स्त्री की तुलना में उसकी दृष्टि ज्यादा प्रखर, अनुभवी एवं संवेदनशील होती है। वह बाहरी कार्य क्षेत्र के साथ

सहायक अध्यापक, राम सहाय इण्टर कालेज, गढ़ रोड़ मेरठ (उ0प्र0)

जुड़कर उसके माध्यम से अपने समाज की नब्ज को पकड़ती है और दोहरे दायित्वों के साथ विकसित/विघटित होते अपने व्यक्तित्व को एक खास आयाम देने का प्रयास करती है। ठीक यही बात कामकाजी महिला रचनाकार के संदर्भ में भी कही जा सकती हैं। औसत महिला रचनाकार की अपेक्षा उसके सरोकारों एवं संघर्ष का दायरा अनायास व्यापक हो जाता है। फलतः आर्थिक स्वावलम्बन के लिए जूझती कामकाजी महिला रचनाकारों की रचनाओं में संघर्ष के मुख्यतः तीन स्तर सामने उभर कर आते हैं–

1. उसके भीतर छिपे हुए रचनाकार की प्रखरतर संवेदना।
2. बाहरी दुनिया में आहत और विकसित होती संवेदना।
3. घरेलू दायित्वों को पूरा करती कामकाजी महिला रचनाकार।

घर की सीमित परिधि में रहने के कारण स्त्री का मानसिक एवं बौद्धिक विकास अवरुद्ध हो गया। इसके उपरान्त सामाजिक व्यवस्था ने इस बिन्दु पर जोर दिया कि कोमलांगी और कार्य क्षमता की अनुभव की कमी के कारण स्त्री को घर के कार्य तक ही सीमित रहना चाहिए। परिणामस्वरूप स्त्री ने अथक परिश्रम किया, घरेलू उत्पादन में सहयोग देकर पुरुष के लिए बाहर नये–नये रास्ते खोजने में मदद की लेकिन स्त्री के श्रम को पुरुष ने बराबरी का दर्जा नहीं दिया। फलतः आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दृष्टि से स्त्री की स्थिति कमजोर होती गयी। लम्बी मानसिक गुलामी के कारण स्त्री को लगने लगा कि बन्धनों में कैद रहना ही उसकी नियति बन चुकी है। परन्तु परिवर्तन सृष्टि का नियम है जो एक शाश्वत प्रक्रिया है। इसी के परिणामस्वरूप आज कामकाजी महिला के सन्दर्भ में प्राचीन अवधारणाएं और परम्पराएं दम तोड़ चुकी हैं। आज की कामकाजी महिला यह सच भली–भांति जान चुकी है कि वह किसी भी क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं है। डॉ0 रोहिणी अग्रवाल ने इस सत्य को उद्घाटित किया है– ''ज्यों–ज्यों पुरुष सभ्य होता चला गया, परिवार व समाज की प्रमुख शक्ति बनता गया, त्यों–त्यों नारी गौण होकर उस पर आश्रित होती गयी और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह न स्वतन्त्र रही, न समान और न शेष रही उसकी अस्मिता। वह पुरुष की मुठ्ठी में बन्द एक वस्तु बनकर रह गयी।''[2]

आज भी पुरुष भले ही वह उच्च शिक्षा प्राप्त क्यों न हो, परम्परा से मिले अहं भाव को पूरी तरह से छोड़ने में असफल रहा है। व्यवसायी शिक्षित स्त्री को वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखने लगता है। उसके पुरुषार्थ को आघात पहुँचता है कि उसी के घर में रहने वाली पत्नी, बहन, दोस्त को व्यावसायिक जगत में उससे अधिक सम्मान मिल रहा है। व्यावसायिक क्षेत्र में दक्ष अपने निर्णय स्वयं लेती महिलाएं भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आंखों में चुभ रही है क्योंकि आज शिक्षित स्त्री अर्थोपार्जन में स्वतन्त्र एवं सजग है। इसलिए वह अपनी राह में आने वाली बाधाओं को डटकर सामना कर रही है अर्थात् उसमें आत्मबल का विकास हो रहा है। इसी स्थल पर मौजूदा व्यवस्था को अपना सिंहासन खतरे में नजर आने लगता है। प्रभा खेतान, डॉ सर्राफ के माध्यम से पौरुषीय अहम् को उजागर कर रही है– ''तुम्हारे पास बुद्धि नाम की चीज भी है? गुस्से में उनका चेहरा लाल होता जा रहा था। तुम अपने आप को समझती क्या हो, तुम्हारा यह मालिकाना तेवर मैं नहीं सहन कर सकता।''[3]

घर से बाहर नौकरी करने वाली शिक्षित महिलाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। स्कूलों, अस्पतालों दफ्तरों, बैंकों, निजी शिक्षा संस्थाओं, राजनीतिक कार्यालयों आदि क्षेत्रों में नौकरी करके अर्थोपार्जन कर रही हैं। ये महिलाएँ परिवार में अर्जक की भूमिका निभाकर परिवार का भरण–पोषण कर रही हैं। अनेक शिक्षित महिलाएँ अपने पति और परिवार के व्यवसाय से अलग अपना मुकाम हासिल करके आत्म–निर्भर व स्वाभिमान से अपने स्वतन्त्र निर्णय ले रही हैं। इसी के माध्यम से

शिक्षित स्त्रियाँ अपनी कार्य कुशलता साबित कर रही हैं। अब वे दिन लद गये कि हर संस्था, उद्योग का सर्वेसर्वा पुरुष ही होगा। आज व्यावसायिक क्षेत्र में महिलाएँ अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है। उन्हें स्वावलम्बी संघर्षशील भी बनना है तथा घर परिवार के साथ–साथ सामाजिक रिश्ते भी निभाने हैं। आज शिक्षित स्त्रियॉ एकाधिक स्थलों पर संघर्ष कर रही है तथा अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। यहाँ अन्य पारिवारिक सदस्यों का भी दायित्व बनता है कि नौकरी पेशा वाली स्त्रियों के प्रति प्रगतिशील नजरिया बनायें। स्त्रियों के लिए नौकरी को वर्जित समझे जाने वाली दूषित एवं सामन्ती मानसिकता से उभरकर पुरुष वर्ग को उनका यथासम्भव सहयोग करना चाहिए। 'दुक्खम–सुक्खम' उपन्यास में भगवती ने दसवीं की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर स्कूल का कीर्तिमान तोड़ा तथा उसी वर्ष में उसे कस्तूरबा विद्यालय में अध्यापिका की नौकरी मिल गयी। लाला नत्थीमल खबर से हक्का–बक्का रह गये क्योंकि उन्होंने कभी कल्पना नहीं की थी कि ऐसा जमाना आयेगा जब लड़की भी कमाई करने लगेगी। आदत के मुताबिक पहले उन्होंने विरोध किया– ''भग्गो काम पर नहीं जायेगी। लोग क्या कहेंगे! (लड़की की कमाई खाओगी) बनिया बिरादरी में तो नाक कट जायेगी।''[4]

बाद में बड़े बेमन से पिता ने भगवती को काम पर भेजने को राजी हुए और उन्होंने उसे हिदायत देते हुए कहा कि ''टीचर बन गयी है इसका मतलब यह नहीं है कि सड़कों पर फक्का मारती घूम। घर से स्कूल, स्कूल से घर सीधे से आना–जाना है। सड़क पर कभी किसी से बोलना नहीं और कान खोलकर सुन ले, फैशन करने की कोई जरूरत नहीं।''[5] इसमें कुछ हद तक वर्षों से जड़ जमाये बैठे पुरुषोचित संस्कारों की संकीर्ण मानसिकता भी दोषी है क्योंकि शिक्षित महिलाओं के नौकरी पेशा होने से घर में पुरुषों की भूमिका बदल रही है।

नवजागरण के समय में स्त्री–शिक्षा को सर्वाधिक प्रधानता दी गयी। शिक्षा ने स्त्री को अपने पैरों पर खड़ा किया है। कामकाजी बनकर उसने अपने व्यक्तित्व को सुदृढ़ बना दिया है। शिक्षित होने के उपरान्त महिलाओं के लिए सर्वाधिक सुलभ एवं सुविधाजनक पद शिक्षिका का होता है। स्त्री–जागरण के प्रारम्भिक काल में अध्यापन कार्य ही एक मात्र व्यवसाय माना जाता था जो स्त्री के हित के लिए उपयुक्त था। धीरे–धीरे समय के बदलाव के साथ स्त्री व्यवसायों में भी बदलाव परिलक्षित होने लगा। इससे आज स्त्री डॉक्टर, नर्स, क्लासवन अफसर, क्लर्क जैसे व्यवसायों के अलावा अन्य अनेक सम्माननीय एवं व्यवसायिक कार्यों को अपना रही है।

'ममता कालिया' कृत 'नरक–दर–नरक' उपन्यास की सीता एक कर्मठ अध्यापिका है। मूलतः वह संस्कृत की अध्यापिका है। स्कूल में जब उसे हिन्दी विषय पढ़ाने को दिया जाता है तब भी वह अपना कार्य बखूबी निभाती है। वह पढ़ाने के लिए खूब मेहनत करती है; एक–एक कवि को पढ़ाने के लिए अहर्निष परिश्रम करती है– ''इतना अध्ययन शायद कोई शोध–छात्र भी न करते होंगे, जितना वह व्याख्यान तैयार करने में करती है।[6] वह एक अध्ययनशील, उत्साही एवं परिश्रमी महिला है। वह अपनी अध्यापन कौशल के कारण विद्यार्थियों में प्रिय है और छात्रगण भी उसकी इज्जत करते हैं। सीता गृहस्थी वाली है, उसके तीन बच्चे हैं। अपनी पारिवारिक व्यवस्थाओं के बावजूद भी वह अपना कार्य मेहनत एवं लगन के साथ करती है।

'नासिरा शर्मा' कृत 'शाल्मली' की शाल्मली आई0ए0एस0 के लिए प्रतियोगी परीक्षा देती है। परीक्षा के बाद उसका विवाह नरेश से हो जाता है। दोनों का प्रारम्भिक वैवाहिक जीवन बहुत सुखी रहा। शैक्षिक योग्यताओं के साथ–साथ शाल्मली एक सुशील पत्नी भी रही। वह प्रतियोगी परीक्षा में पास हो जाती है। इण्टरव्यूह की डेट आती है तो नरेश उसके नौकरी करने के पक्ष में न होते हुए भी उसे इण्टरव्यू देने के लिए भेज देता है। शाल्मली उसमें नियुक्त हो जाती है और उसे

आई0ए0एस0 की ट्रेनिंग के लिए मसूरी जाना पड़ता है। नरेश उसे मसूरी जाने की अनुमति दे देता है। पत्नी की नियुक्ति के कारण मित्र–मण्डली में उसका सम्मान बढ़ जाता है। ट्रेनिंग के बाद उसकी नियुक्ति दिल्ली में हो जाती है। शाल्मली को दोहरी जिम्मेदारी का निर्वाह करना पड़ता है। वह घर और दफ्तर दोनों स्थानों पर पूरी तन्मयता एवं कुशलता से कार्य करती है। पत्नी की सफलता के कारण पति में हीन–भावना जागने लगती है। कई बार वह स्वयं पूछती है कि उसके द्वारा पत्नी का कर्तव्य निभाए जाने में कहाँ कमी रह गयी है। नौकरी के कुछ दिनों बाद ही वह अनुभव करती है कि– ''नरेश मित्रों के बीच बैठकर शाल्मली के जिस व्यवहार पर गर्व से भर उठता है, वहीं वह घर में सहन नहीं करता था और बेमतलब खीजकर लड़ बैठता था। कभी शाल्मली टाल जाती, कभी चिढ़कर सोचती, बाहर में एक सुशिक्षित, चतुर–चुस्त जीवन संगिनी बनूँ, मगर घर में केवल एक गूँगी पत्नी जो गूँगी तो हो ही, साथ–ही–साथ समय पड़ने पर अंधी और बहरी भी बन सकती हो।''[7] पति अपने हर कृत्य से वह दुनिया को दिखा देना चाहता है कि शाल्मली उसकी पत्नी है और कहे अनुसार चलती है। शाल्मली बहुत प्रयास करके भी नरेश की मानसिकता को बदल नहीं पाती है। हीनता की ग्रंथि से पीड़ित नरेश स्वयं को शराब के नशे में डुबोने लगता है, पराई औरतों से सम्बन्ध बनाता है। उसके इस रवैये से तंग आकर शाल्मली उससे तलाक लेने की बात सोचती है, परन्तु तलाक लेने में समर्थ होते हुए भी वह तलाक नहीं लेती क्योंकि उसकी दृष्टि में तलाक समस्या का समाधान न होकर पलायन है। वह अपनी इसी दुविधामयी जीवन में से विकास का रास्ता खोजती है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज में भारतीय स्त्री को समझने के लिए आधुनिकता का स्वरूप विवेचन आवश्यक है। आधुनिकता का सम्बन्ध मनुष्य के भौतिक विकास से उतना नहीं, जितना उसके दृष्टिकोण से है। आधुनिक कामकाजी महिला अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्थापना के लिए कटिबद्ध हो गयी है। इसी लिए उसे बाहर–भीतर एवं शारीरिक–मानसिक स्तर पर संघर्ष करना पड़ता है। जब तक महिलाओं को पुरुष के समान अधिकार नहीं दिया जायेगा तब तक समाज में स्थायित्व नहीं आ सकता। महादेवी वर्मा के शब्दों में– ''समाज की दो आधार शिलाएँ है, अर्थ का विभाजन और स्त्री–पुरुष का सम्बन्ध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।''[8]

संदर्भ

1. आक्सफोर्ड एडवास्ड डिक्शनरी ऑफ करंट इंग्लिश पृष्ठ– 992
2. डॉ0 रोहिणी अग्रवाल : 'हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला' पृष्ठ– 20
3. प्रभा खेतान : 'अन्या से अनन्या' पृष्ठ– 6–7
4. ममता कालिया : 'दुक्खम–सुक्खम' पृष्ठ– 162
5. वही, पृष्ठ– 163
6. ममता कालिया : 'नरक–दर–नरक' पृष्ठ– 187
7. नासिरा शर्मा : 'शाल्मली' पृष्ठ– 152
8. महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियाँ पृष्ठ– 134

हिन्दी

प्रेमचन्द का सामाजिक व साहित्यिक विमर्श

–कृष्णक ुमारय ादव*

1920 का दौर... गाँधी जी के रूप में देश ने एक ऐसा नेतृत्व पा लिया था, जो सत्य के आग्रह पर जोर देकर स्वतन्त्रता हासिल करना चाहता था। ऐसे ही समय में गोरखपुर में एक अंग्रेज स्कूल इंस्पेक्टर जब जीप से गुजर रहा था तो अकस्मात एक घर के सामने आराम कुर्सी पर लेटे, अखबार पढ़ रहे एक अध्यापक को देखकर जीप रूकवा ली और बड़े रौब से अपने अर्दली से उस अध्यापक को बुलाने को कहा। पास आने पर उसी रौब से उसने पूछा– ''तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर तुम्हारे दरवाजे के सामने से निकल जाता है और तुम उसे सलाम भी नहीं करते।'' उस अध्यापक ने जवाब दिया–''मैं जब स्कूल में रहता हूँ तब मैं नौकर हूँ, बाद में अपने घर का बादशाह हूँ।''

अपने घर का बादशाह यह शख्सियत कोई और नहीं, वरन् उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द थे, जो उस समय गोरखपुर में गवर्नमेन्ट नॉर्मल स्कूल में सहायक अध्यापक के पद पर कार्यरत थे। 31 जुलाई 1880 को बनारस के पास लमही में जन्मे प्रेमचन्द का असली नाम धनपत राय था। उनकी माता का नाम आनंदी देवी तथा पिता का नाम अजायब राय था। बचपन में ही उन्होंने संघर्ष की जो दास्ताँ देखी थी वो कालांतर में उनके साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुयी। मात्र आठ वर्ष की अल्पायु में मातृ–वियोग एवं तत्पश्चात पिता द्वारा दूसरा विवाह व पुनश्च चौदह वर्ष की आयु तक आते–आते पितृ–वियोग ने प्रेमचन्द को जीवन के मंझधार में अकेले छोड़ दिया। ऐसे में सौतेली माँ एवं उसके दो बच्चों का भार भी उनके कंधों पर आ पड़ा। सौतेली माँ का व्यवहार उनके प्रति कठोर रहा परन्तु उन्होंने अपने व्यवहार में किसी भी प्रकार की कटुता नहीं उत्पन्न होने दी। पत्नी पक्ष से भी प्रेमचन्द को कोई सुखद अनुभूति नहीं प्राप्त हुयी। पिताजी अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व ही प्रेमचन्द की शादी उनसे उम्र में बड़ी लड़की से कर गये थे जो बद्सूरत होने के साथ–साथ जुबान की भी कड़वी थी। अंततः प्रेमचन्द ने गृह कलह से तंग आकर पत्नी को उसके मायके छोड़ दिया। इन परिस्थितियों में घर वालों ने उन्हें दूसरी शादी करने पर जोर दिया, अंततः ना–ना करते वह शादी के लिए तैयार तो हुए पर एक शर्त के साथ कि विवाह वह किसी विधवा के साथ ही करेंगे। इस शर्त पर घर वालों की नापसंदगी के बावजूद उन्होंने समाज के बँधे–बँधाये नियमों को ठुकराकर और बिना घर वालों को बताये शिवरानी नामक एक महिला के साथ शादी कर ली, जो कि विवाह के मात्र तीन–चार माह पश्चात ही विधवा हो गयी थी। यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख समाचीन होगा कि दूसरे विवाह के समय उन्होंने इस तथ्य को छुपाये रखा कि प्रथम पत्नी को उन्होंने त्याग दिया है। अपनी

*निदेशक डाक सेवाएँ, राजस्थान पश्चिमी क्षेत्र, जोधपुर (राजस्थान)

दूसरी पत्नी को यह कहकर उन्होंने लम्बे समय तक भ्रम में रखा कि उनकी प्रथम पत्नी की मौत हो चुकी है। एक लम्बे अन्तराल पश्चात जब उनकी पहली पत्नी के भाई उनसे मिलने आये और शिवरानी जी ने अचानक उनकी बातें सुन लीं तो उन्हें प्रथम बार मालूम हुआ कि उनकी सौत दुनिया में ही है। शिवरानी इस सच्चाई को जानने के बाद रह न सकीं और उन्होंने अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए प्रेमचन्द से प्रथम पत्नी को लाने पर जोर दिया। पर अपनी प्रथम पत्नी के व्यवहार से वाकिफ प्रेमचन्द इस हेतु तैयार न हुए। यहाँ तक कि शिवरानी ने स्वयं अपनी ओर से उनकी प्रथम पत्नी को पत्र लिखकर आने का आमंत्रण दिया, पर जवाब में आया, "जब वे खुद लेने आयेंगे तभी मैं चलूँगी।" खैर वह दिन कभी न आया। कालांतर में शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद एक किताब 'प्रेमचन्द घर में' लिखी।

इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचन्द का जीवन दुखों और संघर्षों से भरा रहा। अपनी जिन्दगी में भोगे गये यथार्थ को ही पन्नों पर वे विभिन्न रूपों में ढालकर अभिव्यक्त करते रहे। "उपन्यास सम्राट" की उपाधि से प्रसिद्ध प्रेमचन्द का जीवन खुद एक जीता–जागता उपन्यास था, जिसमें जिंदगी के अंतर्द्वन्दों के बीच एक कृषकाय व्यक्ति कभी मजबूती से खड़ा नजर आता तो अगले ही पल टूटता नजर आता। माता–पिता के असमय वियोग के चलते प्रेमचन्द को शिक्षा पाने में भी काफी संघर्षों का सामना करना पड़ा। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा एक मौलवी की देख–रेख में एक मदरसे में हुई, जहाँ उन्होंने उर्दू सीखी। पिता की मृत्यु के समय वे बनारस में नवीं कक्षा में अध्ययनरत थे। उनकी मौत के बाद तो रहा–सहा आर्थिक संबल भी टूट गया। ट्यूशन पढ़ाकर और रात में कुप्पी के सामने बैठकर पढ़ने वाले प्रेमचन्द ने किसी प्रकार बी.ए. तक की शिक्षा ग्रहण की। मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करके जीविकोपार्जन की खातिर उन्होंने स्कूल मास्टर की नौकरी ज्वाइन कर ली एवं फिर बी.ए. पास करने के बाद सब डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स हुए।

प्रेमचन्द एक लम्बे समय तक सरकारी नौकर भी नहीं रह सके। फरवरी 1921 में उन्होंने इससे इस्तीफा दे दिया। यह वह दौर था जब गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन अपने चरम पर था। उनके आह्वान पर तमाम लोगों ने सरकारी नौकरियाँ और उपाधियाँ त्याग दी थीं। 12 फरवरी 1921 को गोरखपुर में घटित चौरी–चौरा काण्ड, जिसमें आंदोलनकारियों ने उत्तेजित होकर 21 पुलिस वालों सहित समूचे थाने को जला दिया एवं प्रतिक्रियास्वरूप गाँधी जी ने हिंसा की निन्दा करते हुए असहयोग आन्दोलन वापस लेने की घोषणा कर दी। उस समय प्रेमचन्द गोरखपुर में ही गवर्मेन्ट नॉर्मल स्कूल में सहायक मास्टर के पद पर कार्यरत थे। चौरी–चौरा काण्ड के ठीक चार दिन बाद 16 फरवरी 1921 को प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। अब अपना पूरा ध्यान उन्होंने साहित्य रचना पर केन्द्रित किया। इसी प्रकार 11 अगस्त 1908 को जब 15 वर्षीय क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को अंग्रेज सरकार ने निर्ममता से फाँसी पर लटका दिया तो प्रेमचन्द के अन्दर का देशप्रेम हिलोरें मारने लगा था और वे खुदीराम बोस की एक तस्वीर बाजार से खरीदकर अपने घर लाए और कमरे की दीवार पर टाँग दिया।

प्रेमचन्द स्वभाव से अन्तर्मुखी थे, सभा–सम्मेलनों में मुश्किल से ही जाते थे पर उनकी ठहाका लगाने की आदत मशहूर थी। प्रेमचन्द का दौर स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने का था, लेकिन उनकी कलम समाज की आन्तरिक विसंगतियों और बुराईयों पर ही ज्यादा नहीं चली, स्वतंत्रता संग्राम पर भी उन्होंने खूब लिखा। वे स्वतंत्रता संग्राम के पहले महाकाव्यात्मक कथाकार थे।

1903 के करीब प्रेमचन्द ने लिखना शुरू किया। उनकी पहली रचना 'ओलिवर क्रामवेल' शीर्षक से एक लेख था, जोकि 1 मई, 1903 को 'आवाज ए खल्क' उर्दू साप्ताहिक, बनारस में छपा था। इस लेख की यह पहली किस्त थी। इसी प्रकार उनके पहले उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ़ देवस्थान रहस्य' की पहली किस्त 8 अक्टूबर, 1903 को छपी। उनकी पहली उर्दू कहानी 'इश्के दुनिया हुब्बे वतन' (हिन्दी रूप 'सांसारिक प्रेम और देश–प्रेम') 'ज़माना' में अप्रैल, 1908 में प्रकाशित हुई थी तो पहली हिन्दी कहानी 'परीक्षा' विजयदशमी, 1914 को 'प्रताप' में छपी थी। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास 'प्रेमा', 1907 में ही आ चुका था। उर्दू में वे नवाब राय के नाम से लिखते थे पर 1910 में अपने कहानी संग्रह 'सोज़े–ए–वतन' की जब्ती के बाद उन्होंने अपने मित्र 'ज़माना' उर्दू के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम के प्रस्ताव पर 'प्रेमचन्द' नाम से लिखना आरम्भ कर दिया।

प्रेमचन्द ने जिस दौर में सक्रिय रूप से लिखना शुरू किया, वह द्विवेदी युग का दौर था। प्रेमचन्द ने अपने को किसी वाद से जोड़ने की बजाय तत्कालीन समाज में व्याप्त छुआछूत, साम्प्रदायिकता, हिंदू–मुस्लिम एकता, दलितों के प्रति सामाजिक समरसता जैसे ज्वलंत मुद्दों से जोड़ा। एक लेखक से परे भी उनकी चिन्ताएँ थीं और उनकी रचनाओं में इसकी मुखर अभिव्यक्ति हुई है। उनकी कहानियों और उपन्यासों के पात्र सामाजिक व्यवस्थाओं से जूझते हैं और अपनी नियति के साथ–साथ भविष्य की इबारत भी गढ़ते हैं। नियति में उन्हें यातना, दरिद्रता व नाउम्मीदी भले ही मिलती हो पर अंततः वे हार नहीं मानते हैं और संघर्षों की जिजीवषा के बीच भविष्य की नींव रखते हैं। अपने वैयक्तिक जीवन के संघर्षों से प्रेमचन्द ने जाना था कि संघर्ष का रास्ता बेहद पथरीला है और मात्र संवेदनाओं से इसे नहीं पार किया जा सकता। यही कारण था कि प्रेमचन्द ऊपर से जितने उद्विग्न थे, अन्दर से उतने ही विचलित। प्रेमचन्द की रचनाओं में वैयक्तिक्ता नहीं वरन् सामाजिकता प्रतिबिंबित होती थी।

प्रेमचन्द एक ऐसे राष्ट्र–राज्य की कल्पना करते थे जिसमें किसी भी तरह का भेदभाव न हो– न वर्ण का, न जाति का, न रंग का और न धर्म का। प्रेमचन्द का सपना हर तरह की विषमता, सामाजिक कुरीतियों और साम्प्रदायिक–वैमनस्य से परे एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण था जिसमें समता सर्वोपरि हो। प्रेमचन्द इस तथ्य को भली–भाँति जानते थे कि भारतीय समाज में विद्यमान पृथकता ही उपनिवेशवाद की जड़ रहा है। अंग्रेजों ने इस पृथकता व विषमता की खाई को और भी गहरा करने का प्रयास किया और भारत को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक सभी मोर्चों पर क्षति पहुँचायी। यही कारण है कि सन् 1933 में जब संयुक्त प्रान्त के गर्वनर मालकम हेली ने कहा, ''जहाँ तक भारत की मनोवृत्ति का हमें परिचय है, यह कहना युक्तिसंगत है कि वह आज से 50 वर्ष बाद भी अपने लिये कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बना पाएगा, जो स्पष्ट रूप से बहुमत के लिये जवाबदेह हो।'' प्रेमचन्द ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया और लिखा, ''जिनका सारा जीवन ही भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करते गुजरा है, उनका यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता।''

सन् 1923 में 'सरस्वती प्रेस' की स्थापना और मार्च 1930 में 'हंस' पत्रिका के प्रकाशन पश्चात 1936 में वे 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष भी बने। इस बीच जीवकोपार्जन की खातिर सन् 1931 में प्रेमचन्द ने कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में अध्यापक की नौकरी कर ली पर विद्यालय के प्रबंधकों से मतभेद होने के कारण यहाँ से भी त्यागपत्र दे दिया। हंस के अलावा वे मर्यादा, माधुरी और जागरण नामक पत्र–पत्रिकाओं के

संपादन से भी जुड़े रहे। प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद की आपस में काफी बनती थी और 'हंस' पत्रिका का नामकरण जयशंकर प्रसाद ने ही किया था। अपनी लेखनी के माध्यम से विभिन्न सामाजिक समस्याओं और विसंगतियों पर उपन्यासों, नाटकों व कहानियों के माध्यम से प्रकाश डाला।

हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द को उपन्यास सम्राट की उपाधि दी गयी। उनके उपन्यासों में 'प्रेमा', 'सेवा सदन' गोदान, गबन, निर्मला, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, वरदान, प्रतिज्ञा, कर्मभूमि, इत्यादि प्रमुख हैं। उनका अन्तिम उपन्यास 'मंगलसूत्र', पूरा नहीं हो सका था।

उपन्यास के अलावा प्रेमचन्द ने लगभग 300 कहानियाँ लिखीं जिनमें– कफन, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा, शतरंज के खिलाड़ी, परीक्षा, शंखनाद, बड़े भाई साहब, मंत्र, दो बैलों की जोड़ी, पूस की एक रात इत्यादि प्रमुख हैं। इन कहानियों के लगभग 24 संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्रमुख हैं– मानसरोवर (आठ भाग), ग्राम जीवन की कहानियाँ, प्रेम पचीसी, प्रेम प्रसून, प्रेम चतुर्थी, सप्तसुमन, सप्तसरोज, अग्नि समाधि, नवनिधि, मनमोदक, कुत्ते की कहानी, समर यात्रा। उपन्यास और कहानियों के अलावा उन्होंने कर्बला, संग्राम, प्रेम की वेदी, रूठी रानी इत्यादि नाटक भी लिखे। इसके अलावा 'विविध प्रसंग' नाम से तीन भागों में प्रकाशित उनके निबंध भी महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द ने जवाहर लाल नेहरू की किताब 'लेटर्स फ्रॉम ए फादर टु हिज डाटर' का हिन्दी में 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से अनुवाद भी किया। यहाँ पर उल्लेख करना जरूरी है कि हिन्दी के प्रकाशकों से उबकर प्रेमचन्द एक बार सिनेमा की दुनिया में भी गए थे पर बम्बई से वे खाली हाथ लौट आये और उस मायावी दुनियां के अनुभवों को सुनाकर लोगों का मनोरंजन करते। यह अलग बात है कि बॉलीवुड प्रेमचन्द को विस्मृत नहीं कर सका एवं कालांतर में 'गबन' व 'गोदान' जैसे उपन्यास तथा 'सद्गति' व 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों पर फिल्में एवं 'निर्मला' व 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों पर धारावाहिकों का निर्माण किया। यही नहीं उनकी कहानी 'कफन' पर फीचर फिल्म का भी निर्माण हो रहा है। प्रेमचन्द जी के पौत्र आलोक राय का कथन दृष्टव्य है, ''मैंने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से पढ़ाई की, संचार माध्यमों में लिखता रहा, अनुवाद किए, सांस्कृतिक विषयों पर अपनी कलम चलाई– मगर हर कोई प्रेमचन्द नहीं हो जाता।''

प्रेमचन्द ने 19वीं सदी के अन्तिम दशक से लेकर 20वीं सदी के लगभग तीसरे दशक तक, भारत में फैली हुई तमाम सामाजिक समस्याओं पर लेखनी चलायी। चाहे वह किसानों–मजदूरों एवं जमींदारों की समस्या हो, चाहे छुआछूत अथवा नारी–मुक्ति का सवाल हो, चाहे 'नमक का दरोगा' के माध्यम से समाज में फैले इंस्पेक्टर–राज का जिक्र हो, कोई भी अध्याय उनकी निगाहों से बच नहीं सका। प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा साहित्य को एक नया मोड़ दिया। जहाँ पहले साहित्य मायावी भूल–भुलैयों में पड़ा स्वप्नलोक और विलासिता की सैर कर रहा था, वहाँ प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में जनमानस की पीड़ा को उभारा। ब्रिटिश सरकार भी मुंशी प्रेमचन्द की रचनाओं से भय खाती थी। जिसकी एक झलक उनकी 'जुलूस' कहानी में देखने को मिलती है। उनकी कृति 'रंगभूमि', 'गोदान' अथवा कहानी संग्रह 'मानसरोवर' आज भी घर परिवार के बच्चों को संस्कारित करते हैं। इसी तरह लोभ, लालच और पाखंड पर आधारित लाटरी, अय्याश जमींदारों पर हमला करती 'शतरंज के खिलाड़ी' और नैतिक मूल्यों की रक्षा करती 'पंच परमेश्वर' आदि सभी कृतियाँ अतुलनीय हैं।

प्रेमचन्द के राष्ट्र–राज्य में दलित, स्त्रियाँ और किसान समान भाव से मौजूद हैं, जिनके विकास के

बिना भारत के विकास के कल्पना भी बेमानी है। प्रेमचन्द ने 'होरी', 'घीसू', 'माधव' और 'धनिया' सरीखे पात्रों का चयन करके वाकई दिलों को छूने का काम किया। प्रेमचन्द ने कृषक समुदाय को भारत की प्राणवायु बताया। कर्ज में डूबे किसान, उन पर ढाये जाते जुल्म, उनकी बद से बद्तर होती गरीबी, व्यवस्थागत विक्षोभ और किसानों की समस्याओं को किसी भी साहित्यकार ने उस रूप में नहीं उठाया, जिस प्रकार प्रेमचन्द ने उठाया। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. विपिन चन्द्र की टिप्पणी गौरतलब है, ''यदि कभी बीसवीं शताब्दी में आजादी के पूर्व किसानों की हालत के बारे में इतिहास लिखा जाएगा तो इतिहासकार का प्राथमिक स्त्रोत होगा प्रेमचंद का 'गोदान', क्योंकि इतिहास कभी भी अपने समय के साहित्य को ओझल नहीं करता।'' 'गोदान' मात्र किसान की संघर्ष गाथा नहीं है वरन् इसमें स्त्री की बहुरूपात्मक स्थिति को दर्शाते हुए उसकी संघर्ष गाथा को भी चित्रित किया गया है। स्त्रियों के साथ समाज में हो रहे दोयम व्यवहार का प्रेमचन्द ने कड़ा विरोध किया और अपनी रचनाओं में उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व का दर्जा देते हुये, विकास की धुरी बनाया। 'गोदान' में अभिव्यक्त गोबर व झुनिया के बीच अवैध प्रेम और विवाह, सिलिया चमाइन और मातादीन पण्डित का प्रेम–प्रसंग जहाँ परम्परा में सेंध लगाते हैं और स्त्री को मुक्त करते हैं वहीं मेहता से प्रेम करते वाली मालती मलिन बस्तियों में मुफ्त दवा बाँट कर सामाजिक कार्यकत्री के रूप में नजर आती है तो क्लब–संस्कृति के बहाने वह जीवन का द्वैत भी जीती है। मेहता और मालती का प्रेम एक प्रकार से 'लिव–इन–रिलेशनशिप' का उदाहरण है।

'गोदान' ने प्रेमचन्द को हिन्दी साहित्य में वही स्थान दिया जो रूसी साहित्य में 'मदर' लिखकर मैक्सिम गोर्की को मिला। 'सेवा सदन' में एक वेश्या के बहाने प्रेमचन्द्र ने धर्म के नाम पर चलने वाले अनाथालयों एवं पाखण्डों का भण्डाफोड़ किया है। 'कर्मभूमि' में मुन्नी द्वारा बलात्कारी सिपाही की हत्या स्त्री–मुक्ति के संघर्ष का अनूठा साक्ष्य है। प्रेमचन्द का पूरा साहित्य ही दलित, स्त्री और किसान की लड़ाई का साहित्य है जिसमें समता, न्याय और सामाजिक परिवर्तन की घोषणा है। यहाँ धर्म, संस्कृति, रीति–रिवाज, जाति, वर्ण, ऊँच–नीच के लिये कोई जगह नहीं है, जगह है तो सिर्फ मानवता की– जिसके बिना जीवित रहना ही अकारथ है।

प्रेमचन्द ने छुआछूत की समस्या को दूर करना, सामाजिक समता के लिए महत्त्वपूर्ण बताया। परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा, "भारतीय राष्ट्र का आदर्श मानव शरीर है जिसके मुख, हाथ, पेट और पाँव– ये चार अंग हैं। इनमें से किसी भी अंग के अभाव या विच्छेदन से देह का अस्तित्व निर्जीव हो जाएगा।" वे प्रश्न उठाते हैं कि यदि वर्णाश्रम व्यवस्था के पाँव माने जाने वाले शूद्रों का सामाजिक व्यवस्था से विच्छेदन कर दिया जाय तो इसकी क्या गति होगी? इसी आधार पर वे समाज में किसी भी प्रकार के छुआछूत का सख्त विरोध करते हैं। अपने एक लेख में वे लिखते हैं, ''क्या अब भी हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे? यह ऊँच–नीच, छोटे–बड़े का भेद हिन्दू जीवन के रोम–रोम में व्याप्त हो गया है। हम यह किसी तरह नहीं भूल सकते कि हम शर्मा हैं या वर्मा, सिन्हा हैं या चौधरी, दूबे हैं या तिवारी, चौबे हैं या पाण्डे, दीक्षित हैं या उपाध्याय?हम आदमी पीछे हैं, चौबे या तिवारी पहले और यह प्रथा कुछ इतनी भ्रष्ट हो गई है कि आज जो निरक्षर भट्टाचार्य है, वह भी अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी लिखने में जरा भी संकोच नहीं करता।'' प्रेमचन्द ने 1932 में महात्मा गाँधी द्वारा मैकडोनाल्ड अवार्ड द्वारा प्रस्तावित पृथक निर्वाचन के

विरोध में किये गए आमरण अनशन का समर्थन किया और गाँधी जी के इन विचारों का भी समर्थन किया कि शेष हिन्दू समाज के लिये निर्वाचन की चाहे जितनी कड़ी शर्तें लगा दी जायें पर दलितों के लिये शिक्षा और जायदाद की कोई शर्त न रखी जाये और हरेक दलित को निर्वाचन का अधिकार हो। वस्तुतः प्रेमचन्द दलितों को समाज का एक अभिन्न हिस्सा मानते थे, इसलिये वे उनकी पृथक पहचान के लिए सहमत नहीं थे। यही कारण था कि उन्होंने नागपुर में हरिजनों के लिये स्थापित पृथक छात्रावास व्यवस्था की भी आलोचना की।

दलितों के सम्बन्ध में प्रेमचन्द द्वारा दिये गये उद्‌गारों से उन्हें ब्राह्मण विरोधी भी कहा गया पर प्रेमचन्द इसकी परवाह किये बिना हिन्दू समाज में व्याप्त विषमता की लगातार आलोचना करते रहे। उन्होंने दलितों के लिये काशी विश्वनाथ मंदिर के पट नहीं खोलने पर कहा, ''विश्वनाथ किसी एक जाति या सम्प्रदाय के देवता नहीं हैं, वह तो प्राणी मात्र के नाथ हैं। उनपर सबका हक बराबर–बराबर का है।'' शास्त्रों की आड़ में दलितों के मंदिर प्रवेश को पाप ठहराने वालों को जवाब देते हुए प्रेमचन्द ने ऐसे लोगों की विद्या–बुद्धि व विवेक पर सवाल उठाया और कहा, ''विद्या अगर व्यक्ति को उदार बनाती है, सत्य व न्याय के ज्ञान को जगाती है और इंसानियत पैदा करती है तो वह विद्या है और यदि वह स्वार्थपरता व अभिमान को बढ़ावा देती है, तो वह अविद्या से भी बदतर है।'' वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थकों द्वारा हिन्दू मंदिरों की दलितों से रक्षा करने के सन्दर्भ में वायसराय को सम्बोधित ज्ञापन की तीखी आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने वर्णाश्रम व्यवस्था समर्थकों पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए लिखा, ''राष्ट्र की वर्तमान अधोगति हेतु ऐसे ही लोग जिम्मेदार हैं। दक्षिणा में अछूतों द्वारा दिए गये पैसे लेने में इन्हें कोई पाप नहीं दिखता पर किसी अछूत के मंदिर में प्रवेश मात्र से ही इनके देवता अपवित्र हो जाते हैं। यदि इनके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता तो वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाए।'' प्रेमचन्द धर्म का उद्‌देश्य मानव मात्र की समता मानते थे एवं किसी भी प्रकार के विभेद को राष्ट्र के लिये अहितकर मानते थे। प्रेमचन्द का स्पष्ट मानना था, ''हरिजनों की समस्यायें मंदिर प्रवेश मात्र से नहीं हल होने वाली। उनके विकास में धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर आर्थिक बाधाएँ हैं।''

प्रेमचन्द ने सांप्रदायिकता पर भी कलम चलायी। प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से कहा कि हिन्दू–मुसलमान की आपसी शिकायतें मसलन– "मुसलमानों को यह शिकायत है कि हिन्दू उनसे परहेज करते हैं, अछूत समझते हैं, उनके हाथ का पानी नहीं पीना चाहते तो हिन्दुओं को शिकायत है कि मुसलमानों ने उनके मंदिर तोड़े, उनके तीर्थ स्थलों को लूटा, हिन्दू राजाओं की लड़कियाँ अपने महल में डालीं'', जायज हो सकतीं हैं पर इस आधार पर सांप्रदायिकता को उचित नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने हिन्दू–मुसलिम एकता को ही स्वराज का दर्जा दिया पर दोनों संप्रदायों की विशिष्टताओं के साथ। उन्होने एक दूसरे के धर्म का परस्पर आदर करने पर जोर दिया और कहा, ''हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होने चाहिये। दोनों की पृथक–पृथक सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी।'' 1931 में मैकडोनाल्ड अवार्ड द्वारा दलितों के लिये पृथक निर्वाचन की व्यवस्था किये जाने पर मुसलमानों में भी पृथक और संयुक्त निर्वाचन पर बहस छिड़ी पर 19 अक्टूबर 1932 को लखनऊ में संपन्न हुए मुस्लिम सर्वधर्म सम्मेलन में पृथक निर्वाचन की अवधारणा को अस्वीकार कर दिया गया। इस पर

टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने कहा कि राष्ट्रीयता ने पूना में प्रथम विजय पाई मगर लखनऊ में उसने जो विजय प्राप्त की है,उसने तो साम्प्रदायिकता को जैसे सुरंग में बारूद लगाकर उड़ा दिया हो।

प्रेमचन्द एक ऐसे राष्ट्र–राज्य का सपना देखते थे जो समतावादी समाज पर आधारित हो। यहाँ तक कि जब काशी में उन्होंने सरस्वती प्रेस खोला तो कर्मचारियों को रोज कुछ–न–कुछ देना ही पड़ता पर उतनी आय नहीं होने से सबकी माँग रोज पूरी नहीं हो पाती थी। ऐसे में प्रेमचन्द सबके सामने रोज शाम को आमदनी का हिसाब रख देते और कहते–''इतने पैसों में तुम्हीं लोग अपने और मेरे लिये ब्योंत कर दो, मुझे पान–तम्बाकू और इक्का–भाड़ा–भर देकर बाकी आपस में बाँट लो।'' वस्तुतः प्रेमचन्द के चिंतन और व्यवहार में समरसता और साहचर्य महत्त्वपूर्ण है, केंद्र–बिंदु बनना नहीं। यही कारण है कि ऐसे लोग जो आंदोलनों का केंद्र–बिंदु बनकर स्वयं के लिये कुर्सी हथियाना चाहते हैं, प्रेमचन्द उन्हें बाधा नजर आते हैं। उनके उपन्यास 'रंगभूमि' की प्रतियाँ जलाने वाले वर्गीय संरचनाओं की जटिलता और यंत्रणादायी व्यवस्था के स्तर को नहीं समझना चाहते, सिर्फ निश्चित फॉर्मूलों में निबद्ध दलित आत्मकथाओं व घृणित प्रतिक्रियाओं पर आधारित रचनाओं को ही दलित लेखन समझते हैं तो इसमें प्रेमचन्द का क्या दोष? प्रेमचन्द ने राष्ट्रीयता को पारिभाषित करते हुए लिखा, ''हम जिस राष्ट्रीयता की परिकल्पना कर रहे हैं, उसमें जन्मगत वर्ण व्यवस्था की गंध तक नहीं होगी। वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न क्षत्रिय, न कायस्थ। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन होंगे।''

महाजनी व्यवस्था पर भी प्रेमचंद ने कलम चलाई। इस पर उनका एक लेख 'हंस', सितम्बर 1936 में छपा था। उन्होंने उसी दौर में ही पूंजीवाद की आहट को समझ लिया था। यदि आज वे हमारे बीच में होते तो भी उनकी कलम में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी व्यवस्था के माध्यम से महाजनी का वर्तमान स्वरूप झलकता। अमेरिकन साम्राज्यवाद ने जिस तरह से विश्व भर के देशों को अपने कर्ज के जाल में जकड़ रखा है, उसकी वास्तविक तस्वीर प्रेमचन्द की लेखनी में नजर आती। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों के पात्रों के बारे में एक बार कहा था, ''हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए दिखेंगे और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा भाव पाया है।''

समग्र लेखन की सबसे बड़ी विशेषता समाज के सभी पक्षों को उसमें समाहित करना है। प्रेमचंद के लगभग सभी पात्र कहानियों से निकल कर उपन्यासों से बाहर आकर एक अलग संसार रचते हैं और इन चरित्रों की छाप इतने गहरे उतरती है कि यह हमारे अवचेतन का हिस्सा हो जाते हैं। 'पंच परमेश्वर' के अलगू चौधरी और जुम्मन शेख न्याय की निष्पक्षता को एक रुहानी ऊँचाई देते हैं और हामिद के चिमटे में छिपी भावना पूरी 'ईदगाह' में बड़े मियाँ के सजदे में झुकने से भी बड़ी इबादत हो जाती है। काल्पनिक पात्र सजीव हो जाते हैं, किस्से–किवदंतियों में तब्दील हो जाते हैं और कथानकों के मामूली चरित्र रोजमर्रे में लोगों की जुबान पर नायक और महानायक की तरह चढ़ जाते हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द के लेखों में दक्षिणपंथी–मध्यमार्गी–वामपंथी, सभी धाराएँ फूटकर सामने आती हैं। चूँकि समाज विभाजित है, अतः उनके लेखन की भी पृथक–पृथक व्याख्या करता है। असहयोग आंदोलन के कारण गाँधी

जी से प्रभावित होकर सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के कारण किसी ने उन्हें गाँधीवादी कहा तो अपनी रचनाओं में वर्ग–संघर्ष को प्रमुखता से उभारने के कारण उन्हें साम्यवादी अथवा वामपंथी कहा गया। समाज में छुआछूत व दलितों की स्थिति पर लेखनी चलाने के कारण उन्हें दलित समर्थक कहा गया और नारी–मुक्ति को प्रश्रय देने के कारण उन्हें नारी–समर्थक कहा गया। आधुनिक दौर में उनके उपन्यास 'रंगभूमि' में सूरदास का जातिसूचक शब्द लिखे जाने पर इसकी प्रतियाँ जलाकर और 'कफन' जैसी रचना को आरोपित कर उन्हें मनुवादी तथा दलित–विरोधी भी कहा गया।

प्रेमचन्द का साहित्य और सामाजिक विमर्श आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं और उनकी रचनाओं के पात्र आज भी समाज में कहीं–न–कहीं जिंदा हैं। आधुनिक साहित्य के स्थापित मठाधीशों के नारी–विमर्श एवं दलित–विमर्श जैसे तकिया–कलामों के बाद भी अंततः लोग इनके सूत्र किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द की रचनाओं में ढूँढते नजर आते हैं। प्रेमचन्द जब अपनी रचनाओं में समाज के उपेक्षित व शोषित वर्ग को प्रतिनिधित्व देते हैं तो निश्चिततः इस माध्यम से वे एक युद्ध लड़ते हैं और गहरी नींद सोये इस वर्ग को जगाने का उपक्रम करते हैं। राष्ट्र आज भी उन्हीं समस्याओं से जूझ रहा है जिन्हें प्रेमचन्द ने काफी पहले रेखांकित कर दिया था। चाहे वह जातिवाद या सांप्रदायिकता का जहर हो, चाहे कर्ज की गिरफ्त में आकर आत्महत्या करता किसान हो, चाहे नारी की पीड़ा हो, चाहे शोषण और समाजिक भेद–भाव हो। इन बुराईयों के आज भी मौजूद होने का एक कारण यह है कि राजनैतिक सत्तालोलुपता के समांतर हर तरह के सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक आन्दोलन की दिशा नेतृत्वकर्ताओं को केंद्र–बिंदु बनाकर लड़ी गयी जिससे मूल भावनाओं के विपरीत आंदोलन गुटों में तब्दील हो गये एवं व्यापक व सक्रिय सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा कुछ लोगों की सत्तालोलुपता की भेंट चढ़ गयी।

कुँवर नारायण की मिथकीय चेतना

–(श्रीमती)स ीमा सिंह*

हिन्दी साहित्य में कुँवर नारायण एक ऐसे नाम हैं जिनका समकालीन साहित्य में एक विशिष्ट स्थान हैं। कुँवर नाराण को अपनी रचनाशीलता में इतिहास और मिथक के जरिये वर्तमान में देखने के लिए जाना जाता है। नई कविता आंदोलन के सशक्त हस्ताक्षर कुँवर नारायण अज्ञेय द्वारा संपादित 'तीसरा सप्तक' (1959) के प्रमुख कवियों में रहे हैं। कुँवर नारायण का रचना संसार इतना व्यापक एवं जटिल है कि उसको कोई एक नाम देना संभव नहीं। यद्यपि कुँवर नारायण की मूल विधा कविता रही है पर इसके अलावा उन्होंने कहानी, लेख व समीक्षाओं के साथ–साथ सिनेमा, रंगमंच एवं अन्य कलाओं पर भी बखूबी लेखनी चलाई है। इसके चलते जहाँ उनके लेखन में सहज संप्रेषणीयता आई वहीं वे प्रयोगधर्मी भी बने रहे। उनकी कविताओं–कहानियों का कई भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है।

हिन्दी के प्रख्यात कवि कुँवर नारायण का जन्म 19 सितंबर 1927 को हुआ था। उन्होंने इंटर की पढ़ाई विज्ञान से की लेकिन आगे चल कर वे साहित्य के विद्यार्थी बने और 1959 में लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के ठीक पाँच वर्ष 1956 में 29 वर्ष की आयु में उनका प्रथम काव्य संग्रह 'चक्रव्यूह' नाम से प्रकाशित हुआ। अज्ञेय ने वर्ष 1959 में उनकी कविताओं को केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और विजयदेव नारायण साही के साथ 'तीसरा सप्तक' में शामिल किया। 1965 में 'आत्मजयी' जैसे प्रबंध काव्य के प्रकाशन के साथ ही कुँवर नारायण ने असीम संभावनाओं वाले कवि के रूप में पहचान बना ली। फिर तो 'आकारों के आसपास' (कहानी संग्रह–1979), 'परिवेश : हम–तुम', 'अपने सामने', कोई दूसरा नहीं, 'इन दिनों', 'आज और आज से पहले' (समीक्षा), 'मेरे साक्षात्कार', 'हाशिये का गवाह' और हील ही में प्रकाशित 'वाजश्रवा के बहाने' सहित उनकी तमाम कृतियाँ आती रही।

मिथक और समकालीनता को एक सिक्के के दो पहलू मानते हुए कुँवर नाराण ने अपनी कविताओं में वेदों, पुराणों व अन्य धर्मग्रन्थों को उद्धरण दिया है। कुँवर नारायण ने प्राचीन कथाओं के माध्यम से जो भी काव्य सृष्टि की, वह अप्रतिम है। उनके काव्य में इतिहास और पुराण से संबंधित वृत्तांतों को लेकर जो भी रचा गया उसकी उपयोगिता वर्तमान परिप्रेक्ष्य को लेकर ही सृजित है। कवि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए पुराण वर्णित कथाओं को खोज लाता है, प्राचीन परंपराओं और समूहगत भावनाओं को तादात्म्य स्थापित करता है और अपने विचारो को व्यक्त करने के लिए उसकी कल्पना स्वमेव ही मिथकीय माध्यम अपना लेती है। मिथक हमारे धर्म, दर्शन और संस्कृति की नई व्याख्या करके उसे सर्वग्राहय बनाता है। यदि नवीनता के नाम पर पुरातनता को अग्राहय मान लिया जाए तो नवीनता का कोई महत्व नहीं रह जाता। कवि अपने

*असि0 प्रोफेसर, रमाबाई अम्बेड़कर राजकीय महाविद्यालय, गजरौला, अमरोहा (उ0प्र0)

कथ्य के अनुरूप ही मिथक को अपनाता है। कवि की अनुभूति का निजी स्वर इतिहास के पटल पर विकसित होकर अपने अंतर्विरोधों के साथ जब राष्ट्रीय और सामाजिक आयामों में ढल जाता है तब जाकर काव्य में मिथकीय चेतना जन्म लेती है। मिथकीय स्त्रोतों से कवि नई व्याख्याओं का अन्वयन करता है तथा कवि मन के चिरंतन भाव मार्मिकता के साथ मिथक के रूप में प्रकट होते हैं। कवि के भावो ंको सशक्त और समर्थ रूप देने में मिथक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कुँवर नारायण जी के साहित्य का परिवेश एकांगी नहीं है। कवि का आत्मचिंतन अव्यक्त परिवेश को भी साकार कर देता है। नचिकेता हो या वाजश्रवा या फिर यम कवि इनसे अपना मंतव्य सिद्ध कर ही लेता है।

आत्मजयी 'आत्मजयी' कुँवर नाराण जी द्वारा रचित प्रबंधकाव्य है जो 'कंठोपनिषद' पर आधारित है। 1965 में प्रकाशित इस लघु महाकाव्य में मृत्यु के प्रति उनकी दृष्टि उजागर हुई है। मृत्यु—जिसका सामना हर व्यक्ति को अपने जीवन में करना होता है। उन्होंने अपने प्रबंध 'आत्मजयी' में मृत्यु संबंधी शाश्वत समस्या को कठोपनिषद का माध्यम बनाकर अदभुत व्याख्या के साथ हमारे सामने रखा। 28 शीर्षकों में बंटे इस प्रबंध काव्य ने मूल्यों की सैद्धांतिक विवेचना और दार्शनिक व्याख्या की हैं। कवि ने अपने प्रसंगों को सांस्कृतिक एवं दार्शनिक स्तर पर प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

''आत्मजयी'' में उठाई गई समस्या मुख्यतः एक विचारशील व्यक्ति की समस्या है, केवल ऐसे प्राणी की समस्या नहीं जो दैनिक आवश्यकताओं के आगे नहीं सोचता या सोच पाता। कथानक का नायक नचिकेता मात्र सुखों को अस्वीकार करता हैः तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही उसके लिए पर्याप्त नहीं। उसके अंदर वह वृहत्तर जिज्ञासा है जिसके लिए सुखी जीना काफी नहीं, सार्थक जीना जरूरी है। यह जिज्ञासा ही उसे साधारण प्राणी से विशिष्ट उन मनुष्यों की कोटि में रखती है जिन्होंने सत्य की खोज में अपने हित को गौण माना, कायिक जीवन को स्वप्न समझा और जिन्होंने ऐंद्रिय सुखों के आधार पर ही जीवन से समझौता नहीं किया बल्कि उस चरम लक्ष्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया जो उन्हें पाने के योग्य लगा।'[1]

''जीवन केवल सुख की साधना नहीं वह दिव्य शक्ति अनवरत खोज अनथक प्रयास वह मुक्ति—बोध उसको केवल पशु—सा तन से बाँधना नहीं।''[2]

इस खण्ड काव्य में नचिकेता अपने पिता की आज्ञा, 'मृत्येव त्वा ददामि' अर्थात मैं तुम्हें मृत्यु देता हूँ, को शिरोधार्य करके यम के द्वार पर चला जाता है, जहाँ वह तीन दिन तक भूखा—प्यासा रहकर यमराज के घर लौटने की प्रतीक्षा करता है। उसकी इस साधना से प्रसन्न होकर यमराज उसे तीन वरदान माँगने की अनुमति देते हैं। नचिकेता इनमें से पहला वरदान यह माँगता है कि उसके पिता वाजश्रवा का क्रोध समात्प हो जाए। कुँवर नारायण की रचनाओं में निराशा, विसंगतियों, घुटन और बोझिल स्थितियों के विरूद्ध मानवीय बोध की संघर्ष चेतना की अभिव्यक्ति मिलती है। आज भौतिकवादी व्यवस्था से प्रभावित मानव का आत्मपरक सार्थकता पर विचार किया गया है। आज भौतिकवादी व्यवस्था से प्रभावित मानव का आत्मपरक दृष्टिकोण स्तर संचेतना को खाए जा रहा है। जीवन के उदात्त भाव और मानवीय मूल्य लुप्त हो रहे हैं।

सन्दर्भ

1. कुँवर नारायण : आत्मजयी की भूमिका से
2. कुँवर नारायण : आत्मजयी

हिन्दी

कबीर के काव्य में सांस्कृतिक चेतना

–डॉ०र ाजीवप ॉल*

संस्कृतियों के स्त्रोत का ज्ञान राष्ट्रों के सामूहिक जीवन के इतिहास एवं साहित्य से हुआ करता है और उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्व के क्षितिज पर अपवाद रूप में एक ऐसी संस्कृति विद्यमान है, जिसमें विदेशी आक्रमणों एवं अत्याचारों के भयंकर झंझावतों के प्रहार सहकर भी प्रबल विरोधों के महासागर के सतत् थपेड़ों या उत्पीड़न के बीच सुदृढ़ चट्टान की भाँति अपनी अजेयता को सुरक्षित रखते हुए, उनके अन्तर्मन को जीतकर आत्मसात किया है। मिसृ, रोम, यूनान आदि देशों की प्राचीन कही जाने वाले संस्कृतियां काल के प्रहारों में चकनाचूर होकर भग्नावशेषों के रूप में केवल इतिहास–पुस्तकों अथवा संग्रहालयों की शोभा बनकर पुरातत्व–वेत्ताओं की खोज का विषय बन चुकी है किन्तु भारतीय संस्कृति आदिकाल से लेकर आज तक जीवित है।

डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के तेजस्वी सूर्य को उपमित करते हुए लिखा है कि ''चप्पा–चप्पा धरती उसकी किरणों की गर्मी पाकर कला, साहित्य धर्म–जीवन के कितने ही नवीन रूपों को जन्म देती है।''[1]

व्यक्ति परिस्थिति और परम्परा दोनों का परिणाम होता है। उपरिनिर्दिष्ट संस्कृतिक पुरुषों का जीवन आगे चलकर जिस सांस्कृतिक निधि का संवाहक बना, उसी सांस्कृतिक निधि की वे देन भी कहे जा सकते हैं। मध्यकालीन भारत की यह सांस्कृतिक विरासत एक सामूहिक अभियान अथवा जन–जागृति द्वारा निर्मित हुई है। देश का यह सामूहिक अभियान हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तर भारत के भक्ति–आन्दोलन के नाम ज्ञेय है। इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि इसका ध्येय आध्यात्मिक उन्नति मात्र न था, किन्तु यह सामाजिक उत्थान के सभी जीवन–पक्षों को लेकर व्यापक क्रान्ति के कार्य में अग्रसर हुआ था।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाये तो इस सांस्कृतिक आन्दोलन के आरम्भिक प्रवर्तन के पश्चात् उसे सम्यक् दिशा और गतिशीलता प्रदान करने वाले सर्वप्रथम और सर्वाधिक समर्थ व्यक्ति कबीर ही कहे जा सकते हैं।

काव्य रचना का प्रयोजन

कबीर ने स्थान–स्थान पर यह घोषणा की है कि वे किसी परम्परागत ज्ञान या उसमें प्रयुक्त सत्य के न तो वे कायल है और न उसके लिए प्रतिबद्ध ही है। उनकी भावधारा की सबसे बड़ी विशेषता स्वानुभूत सत्य से उद्घाटन की है। काव्यगत प्रयोजन के सम्बन्ध में उनका अपना मौलिक दृष्टिकोण है। वे न तो विद्यापति अथवा समकालीन दरबारी कवियों की भाँति आश्रयदाता को प्रसन्न करने के उद्देश्य से काव्य–रचना उचित समझते थे और न ही सूर–तुलसी की भाँति साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त हरिकथा को ही

*असिस्टेण्ट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय रज़ा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रामपुर (उ0प्र0)

काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे। उनके काव्य का लोककल्याणकारी सांस्कृतिक उद्देश्य भी यही था कि सम्भव है कि प्रेरणा पाकर दुःखकातरजनों की त्राण का अवसर मिल जाये।[3] वे अपने पदों को सामान्य गीतिकाव्य न बनाकर केवल आत्म–साधना के साररूप को प्रस्तुत करने के माध्यम बनाना चाहते थे।[4] इसीलिए कोरे कवि–कर्म के उद्देश्य से काव्य रचना करने वालों की कविता करते–करते व्यर्थ में जीवन बिताने वाला ही मानते थे।[5]

जीवन और मूल्य

मध्यकालीन भारत में रूढ़िग्रस्त जीवन–मूल्यों से जो विकार आ गये थे, उनमें व्यक्ति का सही विकास निश्चय ही अवरूद्ध हो चुका था। एक ओर लोकाचार प्रतिबद्ध सा था, भले ही उन आचारों की उपयुक्तता से वह असहमत ही क्यों न रहा हो? दूसरी ओर धर्मशास्त्र की दुहाई देकर समाज का एक वर्ग कतिपय सामाजिक रीति–नीतियों, कर्मकाण्डों तथा धार्मिक विधि–विधानों के पालन के लिए उसे मानसिक रूप से विवश करता रहता था। उस पर शंका भरी दृष्टि उठाने का साहस सामान्य जन को हो भी कैसे सकता था, जबकि स्वतन्त्र–चेता व्यक्तियों को ऐसा साहस करने के प्रबल विरोधी तथा सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ जाता था।

कबीर भारतीय संस्कृति के पक्षधर थे लेकिन उनका एकद्विषयक दृष्टिकोण एकांगी कहा जायेगा। समसामयिक परिस्थिति के सन्दर्भ में देखा जाय तो इसे कबीर का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। सामाजिक रीति–नीतियों की रूढ़ियों, व्यक्ति के निजी विकास में बाधक होने के अतिरिक्त जनजीवन को संभ्रमित करने के साथ–साथ यदा–कदा अवांछनीय कर्मो में प्रवृत्त होने का अवसर प्रदान कर रही थी। ये एक तो नैसर्गिक विकास को अवरूद्ध करती ही थी तथा दूसरे उनके कारण कुलगत व जातिगत अभिमान इतना बढ़ गया था कि समाज में ऊँच–नीच का भेदभाव गहराई में प्रतिष्ठित था। यह कबीर जैसे सन्तों द्वारा जीवन मूल्यों का ही परिणाम था कि जो समाज आज तक जाति, कुल तथ धन सम्पन्नता आदि के आधार पर व्यक्ति को ऊँचा गिनता था, उस समाज में कबीर आदि ने व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसके गुण, आचरण तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को बताया।

कबीर की तद्विषयक चुनौती–भरी उक्तियाँ ऐसे दृष्टिकोण या मान्यता पर प्रहार करती रही, किन्तु इसमें उच्चवर्ग का अहंकार भले ही एक सीमा तक बाधित हो, किन्तु निम्न वर्ग उससे ऊपर नहीं उठ सकता। कबीर ने इसके लिए उसमें आत्मगौरव का भाव जगाया, जिसकी परिणति उनके पदों में वर्णित है। इस तथ्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि ''मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे–ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।[6]

सामाजिक चेतना

कबीर की सामाजिक चेतना तथा तद्गत आदर्शों से हमारा तात्पर्य समाज–जीवन के उस रूप से है जो कि उसके द्वारा अभिप्रेत था। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक पक्ष की दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि इस युग में समाज को विभाजित एवं विशृंखलित करने वाले कई जीवन पक्ष तथा उससे निर्मित दृष्टिकोण थे। एक ओर धर्म–निष्ठा के आधार पर बने हुए हिन्दू और मुस्लिम ये दो वर्ग परस्पर अविश्वासी और विद्वेषी स्थिति में थे ही ऊपर से इसके छोटे–छोटे सम्प्रदायों की अनेक छोटे–बड़े साम्प्रदायिक वर्ग थे। दूसरी ओर आर्थिक सम्पन्नता के दृष्टिकोण से केवल ऊँच–नीच की भावना घर कर गयी थी। जिसके अतिरिक्त समकालीन उद्योग–धन्धों के आधार पर सर्वाधिक व्यावसायिक जातियाँ थीं। इनकी संख्या के विषय में इतिहास मौन है। मध्यकालीन इतिहासो में

''वृहत धर्म पुराण'' के आधार पर चालीस जातियों का उल्लेख किया गया है।[7] इसमें आने वाली अन्त्यज जाति की आठ उपजातियों का उल्लेख अल्बरूनी ने किया है। पन्द्रहवी और सोलहवीं शताब्दी के काव्यों से इनके नाम का चयन करके लेखकों ने कुल अड़सठ व्यवसायी जातियों[8] के नामों और रहीम ने उनमें से अनेक की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया है।[9] अतः यह अनुमानित किया जा सकता है कि जातियों की इन काव्यात्मक निर्देशों से भी अधिक अवस्थिति रही होगी।

सन्त कबीर ने उपर्युक्त भेदभाव के निराकरण के वह सभी साम्प्रदायिक निष्ठाओं का एक मात्र आराध्य ईश्वर कहते हैं, जिसके नामकरण के लिए राम, ईश्वर, अल्लाह, खुदा, कृष्ण, करीम, विटठल आदि कोई भी विकल्प स्वीकार करने की वे छूट देते है। दूसरी ओर वे सामाजिक साम्य की घोषणा भी इसे सत्य के आधार पर करते है–

न कोई ऊँचा न कोई नीचा।
जाका प्यंड वही का सीचा।।

कबीर ग्रंथावली पद संख्या–41

इस वर्ग में धार्मिक मान्यता सर्वोपरि थी अतः उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से उपयोग करते हुए वे कहते हैं कि शूद्र मलिच्छ आदि के प्रति जातिगत हीनता की दृष्टि के होते हुए परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। (वही, पद 42) वे सामाजिक साम्य के प्रबल समर्थक थे। जिस युग में शूद्र, अन्त्यज, चंडाल इत्यादि को निम्न ही नहीं अपितु अस्पर्श तक समझा जाता था, ऐसे युग में जन्म लेकर कबीर ने अपने निर्भीक स्वर को और भी तीव्र करते हुए और उक्त मान्यता पर तर्कपूर्ण चोट करते हुए कहा– ''हे पंडित, तुम छूत का विचार क्या करते हो? जब एक ही परमात्मा से सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति हुई है। एक ही रक्त का प्रवाह सभी की शिराओं में प्रवाहित तथा सभी का जन्म एक ही प्रकार से होता है।'' (वही, पृष्ठ 101, पद 42)

सामाजिक साम्य के दृष्टिकोण पर यदि आज की परिस्थिति के संदर्भ में विचार करे तो हम देखते है कि शूद्रों को ''हरिजन'' का नया अभिधान देकर उनके उद्धार का जो नया कार्यक्रम राष्ट्रपिता गाँधी ने अपनाया और दूसरी ओर सरकारी व्यवस्था में उन्हें कतिपय सुविधाएँ भी दी गयी हैं। किन्तु उन्हें आज तक समुचित सामाजिक सम्मान नहीं मिल पाया है। हीनता की ग्रंथि से वे आज भी त्रस्त दिखाई देते हैं, और यदि कहीं किसी व्यवस्था में उनका महत्व लक्ष्य किया भी जाए तो निम्न वर्ग में अधिकाधिक प्रतिक्रिया की भावना को ही दृष्टिगत किया जा सकता है। उनका न तो वांछित उद्धार हो पाया है और न ही उत्थान। शिक्षा के प्रसार ने उक्त कार्यक्रमों के बिना भी जातिगत भेदभाव को अपने आप कम कर दिया है। एतद्विषयक प्रयास न होकर एक प्रकार से मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास का ही है। निम्न कहे जाने वले वर्ग में आत्मगौरव के स्थान पर प्रतिक्रिया के ही दर्शन प्रायः होते हैं। कबीर ने अपने युग में इस समस्या का निराकरण दो प्रकार किया–ऊँच–नीच की भावना के मूल पर तथा उसके प्रेणताओं पर सीधे प्रहार द्वारा तथा निम्न कही जाने वाली जनता में आत्म गौरव को जगाकर प्रभावी व्यक्तित्व के निर्माण द्वारा। इसे कार्य में वे आज की अपेक्षाकृत कितने सफल हुए इसे कबीर दादू, पीपा, मलूकदास तथा रैदास जैसे सन्त साधकों के प्रति तत्कालीन जनजीवन में सम्मान एवं प्रभाव तथा उनकी आत्मविश्वास एवं चुनौती भरी वाणी से सम्बद्ध युगीन तथ्य द्वारा जाना जा सकता है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में कबीर की सामाजिक चेतना का योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है।

विविध सांस्कृतिक साक्ष्य

संत कबीर का व्यक्तित्व भारतीय समाज के जनसामान्य के वातावरण के बीच विकसित होकर युगीन चेतना के प्रतिनिधि के रूप में उभर कर आया

था। उनका उद्देश्य स्वानुभूत सत्य के उद्घाटन द्वारा लोकमानस के संस्कार का था। अतः जीवन और जगत के अनेक विविध पक्षों पर उन्होंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। अतः संक्षेप में कतिपय विशेषताओं पर विचार किया गया है। कामिनी और कंचन के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण वहां विचारणीय है। आधुनिक दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाए तो ब्रीड और सैक्स (BREAD AND SEX) इन दो शब्दों से समझा जा सकता है। हम जानते हैं कि ये भौतिक जीवन की अनेक समस्याओं का सदा से केन्द्र बिन्दु रहा है। इसका तात्पर्य वासना और धनाशक्ति से है। अध्यात्मिक दृष्टि से ये दोनों बातें मनुष्य को साधना से विचलित कर सकती है किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी इनके समुचित नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है। इनकी अशक्ति से वह अवांछनीय कार्यों की ओर मुड़ सकता है। साथ ही इनके प्रति निराशक्ति का स्थायी मूल्य भी है।

संस्कृति का लक्ष्य दृष्टिकोण को उदार और व्यापक बनाते हैं किन्तु यदि व्यक्ति नारी तक ही अपने विचारों को सीमित कर देता तो उसमें दृष्टि का विस्तार नहीं हो सकता। इसी प्रकार समाज में धनाशक्ति बढ़ जाने पर उस पर अधिकाधिक अधिकार पाने की होड़ में अन्तसंघर्ष आवश्यम्भावी है। अतः कामिनी और कांचन के प्रति नितान्त अशक्ति का विरोध सामाजिक जीवन को सुखी तथा संतुलित रखने वाले सर्वव्यापक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कबीर ही नहीं प्रायः समस्त भक्ति साहित्य में विरोध का यह स्वर वर्तमान है कबीर का माया द्वारा कनक और कामिनी बन कर जगत को डसने का उल्लेख (माया और अंग साखी 19 और 32) इसी विरोध को लेकर है। यह उल्लेखनीय है कि इन प्रसंगों में जहां उन्होंने नारी के कामिनी रूप की निन्दा की है वह नारी मात्र के लिए नहीं है। यदि सामाजिक जीवन के क्षेत्र में उनका नारी के प्रति हीन दृष्टिकोण रहा होता तो वे साधक को आदर्श स्त्री और पवित्रता के रूप में न चित्रित करते[10] और न परमात्मा की क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति जननी के रूप में प्रस्तुत करते।[11]

कबीरदास के काव्य में जीवन के सामाजिक और आर्थिक पक्षों के विषय में एक युगान्तकारी दृष्टिकोण मिलता है। समकालीन जीवन के उत्पीड़न के बीच केवल आदर्शवादी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रचार–प्रसार से ही काम नहीं चलता। कबीर के व्यक्तित्व में निर्द्वन्ता एंव मस्ती थी, वैसी ही मस्ती उनकी अभिव्यक्ति में भी थी। किन्तु समकालीन परिस्थिति के परिणामस्वरूप जनसामान्य के उत्पीड़न के प्रति भी वे कुछ कम संवेदनशील न थे। आर्थिक स्रोतों की दुखस्था इस युग का एक व्यापक तथ्य था। यदि श्रमपूर्वक व्यक्ति धन–संग्रह कर भी पाता था तो वैधानिक, अवैधानिक दोनों प्रकार के काराधन के कारण उनके छिन जाने में कोई शंका न थी। कबीर की निर्भीक वाणी ने जनता के इस उत्पीड़न को स्वर देते हुए सरकारी कर्मचारियों को यमदूत की संज्ञा दी है।[12] किसान दरिद्र तो थे ही, ऊपर से मुखिया और राज्य कर्मचारियों का इतना अत्याचार होता था कि वे गांव को छोड़कर जाने को विवश हो जाते थे (कबीर ग्रन्थावली पद 222)। कई बार वे बेगार में पकड़ लिए जाते थे और उन्हें पारिश्रमिक भी न मिलता था (वही पद 110)। परिणामतः दास दासियों के रूप में व्यक्ति विक्रय तक होता (वही पद 113)। ऐसी दशा में जीवन के आदर्श पक्षों को भुलाकर व्यक्ति धन याचना अथवा भिक्षावृत्ति तक को विवश हो वित्तेषणा के लिए पागल हो उठे तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं भले ही, कबीर जैसे सन्तों ने अध्यात्मिक दृष्टि से उसका विरोध किया हे। यहां यह उल्लेखनीय है कि कबीर की वाणी ऐसी दुखद स्थिति के प्रति संवेदनशील रही और उसने युगानुरूप विचारधारा के प्रचार और प्रसार द्वारा ठीक मौके पर जनता के हृदय को संभालने

और ठीक रखने का पथ प्रशस्त किया है।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में यदि कबीर के काव्य पर विचार करे तो तत्कालीन सामाजिक रीति–नीतियों, लोकविश्वास एवं आस्थाओं, मान्यताओं आजीविका के साधनों पारिवारिक उत्सव, संस्कारों, धार्मिक और सामाजिक विकृतियां, ललित कलाओं आदि के जीते जागते चित्र उसमें बिखरे पड़े हैं। उक्त सांस्कृतिक स्थिति के अंकन से भी अधिक कबीर के काव्य तथा उनमें क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का महत्व इस बात में है कि उन्होंने उनके माध्यम से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इस दृष्टिकोण का मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में असंदिग्ध महत्व है।

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कबीर भारत के सांस्कृतिक महापुरूष हैं और उनका काव्य सांस्कृतिक काव्य है। देश के इतिहास में समाज सुधार, धार्मिक और सांस्कृतिक पुर्नजागरण एवं साहित्य रचना के क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र में वैचारिक क्रान्ति द्वारा युग प्रर्वतन करने वाले मनीषियों की एक विशाल परम्परा है। इन सभी क्षेत्रों को एक साथ अनुप्रभावित करके युग चेतना को प्रबुद्ध करने वाले व्यक्ति विरले ही दिखाई देते हैं। कबीर का व्यक्तित्व इस प्रकार के जननायकों का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। सच्चे अर्थों में कबीर अपने समय से आगे थे। आज भी हम जिन मानव–सत्यों को पहचान सके हैं और उन्हें मानव–मूल्यों में स्वीकार कर चुके हैं, उन्हें कबीर ने नितांत विरोधी परिस्थितियों में खोज लिया था। कबीर की प्रासंगिकता आज भी है और कल भी रहेगी।

सन्दर्भ

1. हरिहर निवास द्विवेदी : साधना कृत मैनासत, पृष्ठ– 234
2. डॉ0 बनारसी दास सक्सेना : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ– 434–453
3. हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
   भौसागर में जीव है, जो काई पकड़ै तीर।।
   –कबीर ग्रन्थावली, उपदेश कौ अंग, साखी–1
4. वही, पृष्ठ–89, पदावली, राग गौड़ी
5. कवी कवीने कविता मुये कापड़ी के दारा जाई। वही, पद–317
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 60
7. सन्त साहित्य विशेषांक, पृष्ठ 50–51
   –डॉ0 रामखेलावन : सामाजिक पृष्ठभूमि तथा
   The Delhi Sultanat, Page, 578, Heading Social Life -Dr. RC. Mazumdar
8. डॉ0 मदन गोपाल गुप्त : मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 538–39
9. रहिमन विलास : नगर शोभा काव्य
10. कबीर ग्रन्थावली : परिशिष्ट, पद 66, पृष्ठ 77–78
11. कबीर ग्रन्थावली : पद 11
12. अमलु सिरानी लेखा देना, आए कठिन दूत जन लेना।
    चलु बरहालु, दीवानि बुलाइया, हरि कुरमानि दरगह आइया।
    करउ अरदासि गाव बिनु खाकी, लेड निवारी आज की राती।
    मालु जन जोरिया भयउ, पराइया।।
    वही, पद 92, 101

हिन्दी

रसलीन : स्थायी भाव और रस

–रामरतनच ौधरी*

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि और आचार्य सैयद गुलाम नबी रसलीन के व्यक्तित्व में साहित्य, संगीत और कला तीनों का संगम था। उनके जिन हाथों में तलवार झन–झनाती थी, उन्हीं से वीणा के तार भी झंकृत होते थे, इतना ही नहीं उनका साहित्यकार रूप भी उच्च कोटि का है। शुद्ध शास्त्रीयता तथा उच्च कलात्मकता का गुण उन्हें आचार्य और रससिद्ध कवि के रूप में प्रस्तुत करते हैं, परन्तु सामयिक परिस्थितियों ने उन्हें शास्त्रविद आचार्य बना दिया। वे रस सिद्ध कवि होने के साथ तर्कसिद्ध आचार्य भी थे।

उन्होंने 'रस प्रबोध' नामक ग्रंथ का प्रणयन कर अपने को रसाचार्य सिद्ध कर दिया। उन्होंने इस ग्रंथ को सरल, सहज, सुबोध शैली में लिखकर रसाचार्यों में उच्च स्थान प्राप्त किया। उन्होंने रस विवेचन में जो महारत हासिल की थी उसकी तत्वदर्शिता ने उनसे स्वयं कहलवा दिया[1]–

बॉचि आदि ते अन्त लौं, यहि समुझै जो कोई।
तेहिं औरहिं ग्रंथ में, फेरि चाह नहीं होई।।

इस ग्रंथ का मूल विषय रस है। इस ग्रंथ की रचना उन्होंने रचना संवत 1798 में की थी, इस विषय में वे लिखते हैं–

सत्रह सै अट्ठानबे मधु सुदि छठ दिनवार।
बिलग्राम में आइ कै भयौ ग्रंथ अवतार।।

बिलग्राम हरदोई में वह स्थान है जहाँ रसलीन की जन्मभूमि है। वहीं पर रसलीन ने रस प्रबोध की रचना की थी। रस प्रबोध काव्य–शास्त्रीय दृष्टि ऐसा मधुकोश है, जिसके आस्वादन से पाठक की रस विषयक ज्ञान पिपासा शांत होती है। इस ग्रंथ में रसलीन संस्कृत साहित्य के सरसतम तथा सुन्दरतम पुष्पों (रस ग्रंथों) से रस एकत्र कर रस–प्रबोध मधु कलश को भरा है[2]।

रस विवेचन में रसलीन रस विवेचन से पूर्व भाव की विवेचना करते हैं। भाव की विवेचना में उनकी मौलिकता के दर्शन होते हैं। वे भाव की विवेचना करते हुए यह बताते हैं कि भाव ही रस का मूल है।

भावहिं ते रस होत है समझु लेहुमन मॉहि।
याते पहिले भाव कवि बरनत हैं ठहराहिं[3]।।

रसलीन का यह विचार भरत मुनि के उस कथन से मिलता है, जिसमें वे कहते हैं कि न तो रस भाव रहित होता है न तो भाव रस से अलग होता है[4]–

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावों रस वर्जितः,

रसलीन भरत की रस परंपरा का पालन करते हुए यह कहते हैं किन्तु परम्परा का पालन वे अन्धे की भॉति नहीं करते हैं, वे उसे अपने विवेक के प्रकाश में रखकर देखते हैं[5]–

*शोधछात्र, शिब्ली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़ (उ0प्र0)

जो रस के अनुकूल है बदले सहज सुभाव।

बिन बस ताको भाव कहि भाषत हैं कवि राखे।।

वे संस्कृत के आचार्यों की भॉति भाव के दो मुख्य भेद मानते हैं– पहला स्थायी भाव, दूसरा व्यभिचारी भाव। इन दोनों भावों में मन का सम्बन्ध स्थायी भाव से होता है, इन्हीं स्थायी भावों के आधार पर रस के नौ भेद हो जाते हैं। स्थायी भाव रस के मूल में होते हैं। आचार्य विश्वनाथ स्थायी भाव के बारे में कहते हैं[6]–

अविरूद्ध विरूद्धा वा यं तिरोघातुमक्षमाः।

आस्वादांकुरकन्दौऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।।

अर्थात् अविरूद्ध और विरूद्ध भाव जिसको न छिपा सकें, जो आस्वादन अंकुर का मूल हो, वही भाव स्थायी भाव कहलाता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि स्थायी भाव अपने विरोधी भावों को पचा लेता है, अन्य भाव उसके अस्तित्व को नहीं मिटा पाते। धनंजय दशरूपक में कहते हैं[7]– जिस प्रकार सागर मीठे जल की अनेक नदियों को अपने में समाहित करके जल को आत्मरूप (खारा) बना लेता है, उसी प्रकार स्थायी भाव समस्त भावों को आत्मरूप बना लेता है। अभिप्राय यह है कि स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँचता है। भरत मुनि स्थायी भाव को राजा और गुरू से उपमित करते हैं।

ये स्थायी भाव मनुष्य के भीतर वासना रूप में उसी प्रकार मिले रहते हैं, जैसे पके मिट्टी के बरतन में गन्ध अथवा लकड़ी में आग पहले से छिपी रहती है। बरतन के गन्ध की अभिव्यक्ति पानी की बूंदों के पड़ने से होती है तथा लकड़ी की आग घर्षण के बाद प्रकट होती है उसी प्रकार समय पाकर वही अन्तस्थ सुप्त भाव काव्य के श्रवण तथा नाटक के अवलोकन से उद्‌बुद्ध हो जाता है, तब आनन्द की उत्पत्ति होती है। इसे ही स्थायी भाव की रस दशा कहते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव की चार विशेषताएँ सामने आती हैं– 1. यह अपने में अन्य भावों को समाहित कर लेता है। 2. यह विरूद्ध अथवा अविरूद्ध भावों से नष्ट नहीं होता। 3. यह आस्वादक अंकुर के रूप में विद्यमान रहता है। 4. विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव से पुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होता है। इस विषय में रसलीन की मान्यता इस प्रकार है।

रसलीन और स्थायी भाव – रसलीन स्थायी भाव को रस का मूल मानकर इसे प्राथमिकता इसे प्राथमिकता देते हैं। उनके अनुसार मन के ऐसे भाव जो निज–निज रसों में अभिव्यक्त होते हैं, स्थायी भाव कहलाते हैं[8]–

थाई है मन भाव सों रत्यादिक जो गाइ।

ते निज निज रस में रहैं वै थिर ह्वै ठहराइ।।

रस के सम्मुख होने से हृदय के सहज स्वभाव में जो परिवर्तन होता है, उस परिवर्तन में प्राप्त भाव ही स्थायी भाव होता है[9]।

जो रस सनमुख ह्वै कछू बदलै सहजसुभाव।

तेहिं बदलन को कहत हैं, कविजन थाई।।

वह रस विशेष से सम्बद्ध होकर स्थिर भाव में बना रहता है। अतः जिस रस विशेष के सम्मुख होने से जो परिवर्तन विशेष हृदय में होता है वही उस रस विशेष का स्थायी भाव कहलाता है[10]–

जा रस सम्मुख जो कछू तनक बदल हिय होई।

ता रस को थाई वहै यह बरतन कवि लोइ।।

रसलीन आचार्य भरत को महत्व देते हुए भी भरत मुनि से भिन्न स्थायी भावों की संख्या निर्धारित करते हैं। भरत मुनि स्थायी भावों की संख्या आठ मानते हैं, किन्तु वे इनकी संख्या नौ मानते हैं।

1. रति 2. हास 3. शोक 4. क्रोध 5. उत्साह 6. भय 7. घृणा 8. आश्चर्य 9. निर्वेद रसलीन इसको 'रस प्रबोध' में इस प्रकार व्यक्त करते हैं[11]–

रति हॉसी अरू शोक पुनि कोप उछाह सु आनि।

भय घृणा अचरज समुझि पुनि निरवेदहिं थिर जानि।।

भरत मुनि भावों की संख्या आठ ही बताते हैं[12]–

रतिहाश्च शोकश्च क्रोधत्साहो भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभाव प्रकीर्तिता।।

भरत के आठ भाव हैं– रति, हास, लोक, उत्साह, भय जुगुप्सा और विस्मय। भरत ने शान्त रस के भाव निर्वेद को छोड़ दिया है, क्योंकि नाटक में उसका अभिनय नहीं होता।

नौ भावों के विषय में आचार्यों के विचार भिन्न–भिन्न हैं।

धनन्जय तथा धनिक ने भी आठ भावों को माना है।

मम्मट ने भरत की मान्यता का अनुशरण करते हुए भी[13] 'निर्वेदस्थायिभावोस्ति शान्तोऽपिनवमो रसः कहकर शान्त रस तथा निर्वेद को मान्यता दी।

पण्डित राज जगन्नाथ नौ रस तथा नौ भावों की स्पष्ट रूप से मान्यता देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसलीन का भाव निरूपण जहाँ भरत के अनुरूप रस प्रबोध के पैतींसवें दोहे में दिखाई देता है, जहाँ वे कहते हैं कि भावहिं ते रस होत है, जिसको भरत मुनि ने कहा था– 'न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः' किन्तु स्थायी भावोंके वर्णन में वे पण्डित राज जगन्नाथ का समर्थन करते दीखते हैं। वैसे रसलीन का नौ भावों तथा नौ रसों का समर्थन काव्य के सन्दर्भ में सर्वथा उचित है। स्थायी भाव के महत्व को रसलीन रस की परिभाषा में प्रस्तुत करते हैं जबकि भरतमुनि रस निष्पत्ति में नाम नहीं लेते हैं। भरतमुनि रस सूत्र में प्रतिपादित करते हैं[14]– विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, परन्तु रसलीन कहते हैं कि भिाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से जब स्थायी भाव परिपक्व होता है तब रस उत्पन्न होता है[15]।

जब विभाव अनुभाव अरू व्यभिचारी ते आनि।

परिपूरन थाई जहाँ प्रगटे सो रस जान।।

भरत मुनि तथा रसलीन की परिभाषाओं में दो बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। भरत की परिभाषा में स्थायी भावों का समावेश नहीं है, किन्तु अभीष्ट यही है कि उक्त विभवादि की सहायता से स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। इस विषय में भरत के रस निष्पत्ति के व्याख्याता भट्ट लोल्लट का मत स्पष्ट रूप से ग्रहणीय हैं। उनके मतानुसार स्थायी भाव स्वयं अनुपचित है, वही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का संयोग पाकर स्वयं उपचित (परिपक्व) होता है तब उसे रस कहा जाता है।

रसलीन ने भट्ट लोल्लट के मत को परिष्कृत कर अपनी बात कही है।

रसलीन के मतानुसार[16] मानव हृदय वह प्रकृति प्रदत्त भूमि है, जिसमें विधाता ने स्वयं रस का बीजारोपण किया है। उसी से भाव अंकुरित होते हैं, वे स्थायी भाव कहलाते हैं, अर्थात् मानवचित रूपी भूमि में उसके बीजारोपण से स्थायी भावरूपी अंकुर पैदा होते हैं। चित्तभूमि है, रसबीज तथा स्थायी भाव उसके अंकुर स्वरूप हैं। इन्हीं अंकुरों को आलंबन, उद्दीपन विभाव रूपी जल समयानुकूल सिंचित कर इन्हें सरस बनाते हैं, जिससे अनुभाव रूपी तरू पैदा होते हैं। इन्हीं अनुभाव रूपी वृक्षों में व्यभिचारी भाव रूपी पुष्प क्षण–प्रतिक्षण फूलते रहते हैं, इन सबके संयोग से ही मकरन्द की भॉति रस उत्पन्न होता है। रसिक जन मधुप की भॉति सभी रचना में उसकी पहचान करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसलीन स्थायी–भाव की रसानुभूति से किस प्रकार संयोजित करते हैं। उनके

इस निरूपण और संयोजन में उनके व्यापक अध्ययन के साथ कारियित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का सचेतक उन्मेष है।

सन्दर्भ

1. सं0 सुधाकर पाण्डेय : रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 25 काशी नगरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण
2. वही, दोहा 26
3. वही, दोहा 35
4. भरत मुनि : नाट्य शोस्त्र, षष्ठ अध्याय, 6/37, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं0 2010ई0
5. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 36
6. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 3/174, मोतीलाल बनारसी दास चौक, वाराणसी, सं0 1977ई0
7. धनंजय : दशरूपक, 4/34, मोतीलाल बना रसीदास चौक, वाराणसी, सं0 1979ई0
8. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 36
9. वही, दोहा 46
10. वही, दोहा 47
11. वही, दोहा 48
12. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 6/18
13. मम्मट : काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र 47, ज्ञान मण्डल प्रकाशन, वाराणसी
14. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 6/32
15. रसलीन ग्रंथावली : रस प्रबोध, दोहा 30
16. वही, दोहा, 31–34

हिन्दी

प्रगतिशील आन्दोलन और नागार्जुन

–चन्दन कुमार मौर्य*
–डॉ० गीता सिंह**

1930 ई0 का समय कई अर्थो में महत्त्वपूर्ण है। भारतीय राजनीति में सविनय अवज्ञा आन्दोलन सम्पूर्ण राष्ट्र को अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध एकताबद्ध कर रहा था। ठीक उसी समय हिन्दी साहित्य में छायावादी आन्दोलन अपने व्यक्तिवादी स्वरूप को त्याग रहा था और नयी भूमिका के लिए अपनी नयी पीढ़ी के साथ नयी सोच को एक सक्रिय साहित्यान्दोलन में बदलने की तैयारी कर रहा था। कवियों में छायावादी युग की काल्पनिकता एवं निराशावादी विचारधाराएँ लगभग निश्प्रभावी हो जाती है और सामाजिक गतिविधियों की ओर सक्रिय हो उठते हैं। दीन–हीन भावना के कारण करूण क्रन्दन उनको झकझोर देते हैं एवं साम्राज्यवादी प्रशासन के विरूद्वएक नई चेतना जागृत हो उठती है। इस नवीन समसामयिक चेतना से जिस साहित्य धारा का प्रादुर्भाव हुआ उसमें यथार्थ चित्रण को ही प्रमुखता प्राप्त थी। साहित्य में जो काल्पनिकता विद्यमान थी वह लगभग नगण्य प्रतीत होती है। साहित्य के इस नवीन विचारधारा को प्रगतिशील साहित्य या प्रगतिवाद की संज्ञा दी गयी है।

प्रगतिशीलता की भावना का उद्भव हिन्दुस्तान की अपनी परिस्थितियों, जनआन्दोलनों, ब्रिटिश हुकूमत के दमनचक्र, समाजवादी विचारधारा के तेजी से प्रसार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन की प्रतिक्रिया आदि कारणों से हुआ। हिन्दुस्तान की परिस्थितियों में और जनता की आत्मगत चेतना में क्रान्तिकारी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही प्रगतिशील आन्दोलन का जन्म हुआ। अतः इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इन्हीं परिस्थितियों से जुड़ी है।

प्रगतिशील आन्दोलन का आरम्भ सत्र् 1936 में हुआ था। परन्तु जनेश्वर वर्मा स्वीकार करते हैं कि, प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया नहीं था बल्कि उसके समानान्तर चलने वाली धारा है। सच तो यह है कि छायावादोत्तर काव्य जिसे हम कहते हैं, वह वैश्विक, राष्ट्रीय, राजनीति के प्रभाव का परिणाम हैं जिसे साहित्य में हम उसके विकास क्रम और ब्याज वृद्धि के साथ प्रगतिशील आन्दोलन के रूप में देखते हैं। इसके पहले सृजनात्मक साहित्य में हम यदि ध्यान से देखें तो पता चलता है कि सन् 1930 के आस पास किसान समस्या और स्वाधीनता का प्रश्न लगभग यथार्थ के सम्पूर्ण बिन्दु के साथ अंकित करने की प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। हिन्दी के मध्यमवर्गीय लेखक जिस तरह सहसा किसानों के प्रति गहरा लगाव अनुभव करने लगे उसी तरह प्रगतिशील लेखक संघ के गठन की भावना भी उन्ही परिस्थितियों से पैदा होने

*शोध छात्र, डी0ए0वी0 पी0जी0 कालेज आजमगढ़ (उ0प्र0)
**एसो. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, आजमगढ़ (उ0प्र0)

लगी। जिसमें स्वतंत्र चितंक व विचारक नागार्जुन की भूमिका भी अग्रणी रही।

प्रगतिशील आन्दोलन के सम–सामयिक अवस्था में नागार्जुन जैसे जुझारू रचनाकार के तटस्थ रहने की कल्पना नही की जा सकती। नागार्जुन के सम–सामयिक घटनाओं से प्रभावित होकर न केवल कवितायें लिखी बल्कि उन्हें प्रगतिशील आन्दोलन में सक्रिय भूमिका के साथ सम्मिलित भी हो गये। जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें कई बार जेल की यात्रा भी करनी पड़ी। 1935ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद नागार्जुन मार्क्सवादी विचारधारा की ओर उन्मुख हुए। उन्होनें साहित्य का प्रयोग एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में समाज की नई तस्वीर सॅवारनें के लिए किया। नागार्जुन की कविताओं में मनुश्य के शोषण के तीनों रूपों साम्राज्यवाद,साम्यवाद, और पूँजीवादी के विरूद्ध तीव्र रोष होने का जो भाव दिखाई देता है, वह प्रगतिशील काव्यधारा से अनेक अभेद्य सम्बन्ध का प्रमाण है।

ब्रिटिश काल में उनके नीतियों के खिलाफ बोलने की स्वतंत्रता नहीं थी। हम अपने विकास के पथ पर चलने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे। हम न तो कोई संगठन बना सकते थे और न ही अपनी माँग रखने को आजाद थे। हमारी सही माँगें भी नजरअंदाज कर दी जाती थी तथा जबरजस्ती करने पर उन्हें पैंरो तले कुचल दिया जाता था। समाज के बहुत से विवेकशील लोगों को अछूत कह कर उनसे पशुवत कार्य करवाया जाता था। उन लोगों को धार्मिक स्थलों पर जाने तथा पूजा–पाठ करने की मनाही थी अंग्रेजों ने विकास कार्य के क्षेत्र में जो कुछ भी किया वह अपने देश (इग्लैंड) को समृद्ध करने के लिए किया न कि भारत के निवासियों के लिए। जैसे– यातायात के साधन, तार, रेड़ियो एवं टेलीफोन आदि। ब्रिटिशकाल में अधिकाशं भारतीयों का जीवन सुखमय नही था, वे दुख झेलने के लिए विवश थे।

उनके लिए उनकी मूलभूत आवश्यकता जैसे– रोटी, कपड़ा और मकान से भी वे अभावग्रस्त थे। जबकि यही लोग अंग्रेजों की सभी सुख–सुविधाओं का ध्यान अपना मान सम्मान बेचकर रखते थे। अंग्रेजों का मन भारतीयों के प्रति कू्र था। वे चाहे बच्चे हों वृद्ध अथवा स्त्रियाँ हो सभी लोगों को दासता की जंजीरो में बाँधकर रखना अपनी शान–शौकत समझते थे। यही कारण था कि साम्राज्यवादी प्रशासन के विरुद्ध जनता के आक्रोश ने एक आन्दोलन का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। परिस्थितियों में बदलाव लाने के लिए जो आन्दोलन शुरू हुआ, वही आगे चलकर प्रगतिशील आन्दोलन बना जिसमें साहित्यकारों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, साम्राज्यवादी प्रशासन की क्रूरता के विरोध में सोहनलाल द्विवेदी ने राष्ट्र के युवकों को आगे आने का आह्वान् किया–

"कब तक प्रहार सहोगे?
कब तक अत्याचार सहोगे?
कब तक हाहाकार सहोगे?
सावधान मेरे सेनानी।

अंग्रेजों ने अपनी दोहरी नीति के कारण कुछ सम्भ्रान्त भारतीयों को अपने साथ करके ''शिक्षा में छनाई का सिद्धान्त'' अपनाते हुए सम्भ्रान्त लोगों के द्वारा ही अन्य भारतीयों को दूषित दृष्टि से देखने के लिए विवश किया और वे लोग अपने लोगों के साथ अंग्रेजों जैसा व्यवहार भी करने लगे। यह कार्य उस समय भारतीय समाज के लिए किसी भी विडम्बना से कम नहीं था। समकालीन जमींदारों तथा पूँजी–पतियों की क्रूरता, निरंकुशता एवं इनकी प्रपीड़न नीति मजदूरों को गहरे निराश सागर में डुबो रही थी। दार्शनिकों के अनुसार पूँजीपति किसी भी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के लिए विषैले तत्व है जिनको यदि समाप्त न किया गया तो लोकतन्त्र को मिटते देर नही लगेगी। जैसे–

''आज भुंजगों से बैठे है, वे कंचन के घड़े दबाये
विनय हार कर कहते हैं, ये विशधर हटते नही हटाये

ये फुफकार रहे दिखलाकर, दो–दो जिह्वायें जहरीली

इन्हें दिखाओं गर्व खर्व करने वाली बिजली चमकीली।''

ब्रिटिश प्रशासन के अमानुषिक नीति ने भारतीयों के सरल एवं विवेकशील मन मस्तिष्क को उलझाते हुए आडम्बरो में बाँध दिया। बड़े–बड़े उद्योगों में चलने वाले मशीनों के साथ हमारे सीधे–साधे कृषकों को भी चलता फिरता मशीन बना दिया। जिसका परिणाम यह हुआ की कारखानों में काम करने वाले अकुशल मजदूर मशीनों द्वारा दिव्यांग होने के लिए विवश हो गये। पराधीनता की अवस्था का एक उदाहरण देख सकते है–

''अपनी सांसे बिकी हुई है,
अपने गान गुलाम किसी के,
हाथ पैर अपने हैं,
पर ये करते रहते काम किसी के।''

कुटीर उद्योग धन्धे विनष्ट होते जा रहे थे तथा गाँवों की अर्थव्यवस्था पूर्णतः नश्ट होती जा रही थी। गाँव पहले अपनी समस्त आवश्यकताओं की सम्पूर्ति हेतु स्वतः सक्षम था। विदेशी नीति ने इन्हें परमुखापेक्षी बना दिया। यहाँ का कच्चा माल निर्यात होने लगा तथा विदेशों में तैयार माल यहाँ आकर अधिक मूल्यों में बिकने लगा। विदेशियों ने यहाँ के कतिपय सुसम्पन्न लोगों को आर्थिक सहायता देकर बड़े–बड़े व्यापारों में नियोजित ही नहीं कर दिया, अपितु अपना विशेष गुलाम बनाकर इन्हें अपने भाइयों के लिए सिरदर्द भी बना दिया। इस प्रकार अमीरों एवं गरीबों के बीच गहरी खाई और भी गहरी हुई तथा फूट की आग और दहकने लगी। कहीं किसान रो रहा है, तो कहीं श्रमिक। किसी को अपने श्रम का मूल्य नहीं मिल रहा है। राष्ट्र के अन्दर एक गहरी आर्थिक विषमता फैलती जा रही थी। कृषक एवं मजदूर, दोनों किसी भी राष्ट्र के विकास के स्तम्भ हैं। एक अन्न पैदा करता है, जो जीवन के लिए परमावश्यक वस्तु है तथा दूसरा देश के आर्थिक ढाँचे को सुदृढ़ बनाता है। कोई भी लोकतन्त्र इन दोनों का शोषण करके, अपने नाम की सार्थकता कायम नहीं रख सकता। ब्रिटिश हुकूमत ने इन दोनों को बुरी तरह प्रताड़ित किया। कृषकों को परिस्थितियों के जाल में जकड़ कर मजदूर बनाया गया और मजदूरों को पूँजीपतियों के पंजों में इस तरह डाल दिया गया, जिस प्रकार बाज के पंजों में शावक–गण फँस जाते हैं। माघ–पूस की ठण्ड में ठिठुरते हुए तथा ज्येष्ठ मास की गर्मी की लपटों में झुलसते हुए कृषक राष्ट्र के भरण–पोषण के लिए अन्नों की अट्टालिका खड़ी करते हैं और उन्हें जमींदारों का समुदाय अभावों की अतल जलराशि में डालकर उनकी तड़फड़ाहट को अपने मनोरंजन का साधन बनाता है।

प्रगतिशील साहित्य की स्थापना के बाद हिन्दी जगत में जनता के पीड़ा का यथार्थ चित्रण करने की प्रेरणा में वृद्धि हुई। अच्छाइयों का खुले मन से प्रंशसा करना तथा बुराइयों के प्रति खुलकर आक्रोश व्यक्त करना इनकी प्रथम प्राथमिकता रही। नागार्जुन का मानना था कि जो सामाजिक रूढ़ियाँ भारतीय संस्कृति और सभ्यता को खोखला बना रही थी, उस व्यवस्था के खिलाफ सीधे प्रहार करना चाहिए। जनता का दुख–दर्द नागार्जुन का अपना दुख–दर्द था। यही कारण था कि नागार्जुन ने अपनी अधिकतम रचनाओं में सरल भाषाओं का प्रयोग किया जिसके परिणाम स्वरूप इनकी कवितायें जनप्रिय होती गयी और प्रगतिवादी आन्दोलन में सहायक बनी। इसी प्रकार नागार्जुन ने चौराहे के उस नुक्कड़ पर कविता में जन–जीवन का एक गतिशील बिम्ब प्रस्तुत किया है। आम बोल चाल के भाषा में बोलते हुए नागार्जुन लिखते हैं कि–

''सेठों की गलियों का नुक्कड़
काँटो पर लेटा है फक्कड़
चमक रहे पैसे दो पैसे
और पाँच पैसे दस पैसे

जैसी श्रद्धा सिक्के वैसे

निकल रहे हैं जैसे–तैसे।''

इस प्रकार यदि देखा जाय तो नागार्जुन के प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्धित रचनाओं में निश्कर्श निकलता है कि उनके मन में किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं था। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, डा0 रामविलास शर्मा आदि उन साहित्यकारों में थे जो प्रगतिशील साहित्य के बाहर–भीतर सभी विरोधों के गलत विचार से संघर्ष कर रहे थे। साहित्य के प्रत्येक विधा में नागार्जुन की प्रगतिशीलता का प्रभाव हैं। उन्होनें काव्य में युगधारा, सतरंगे पंखों वाली, पुरानी जूतियों का कोरस, तालाब की मछलियाँ, खिचड़ी विप्लव देखा मैंनें तथा उपन्यास में बलचनमा, रचिनाथ की चाची वरूण के बेटे आदि रचनाओं में तत्कालीन समस्याओं को यथार्थ रूप में सामने लाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रगतिवादी साहित्य में प्राण फुँकने वाले नागार्जुन के योगदान को भूलाया नही जा सकता है। राष्ट्र और समाज को ही अपना साहित्य बनाने वाले कवि नागार्जुन को राष्ट्र या समाज कैसे भुल सकता है। कमजोरों, दलितों और पीड़ितो के अश्रु बिन्दुओं से ही जिनकी रचनायें पुष्पित और पल्लवित हुयी हैं उनके महत्व का वर्णन उनकी सहजता और सरलता की व्याख्या कैसे की जा सकती है? रूढ़ियों एवं कुरूतियों का विरोध करने का साहस जो नागार्जुन ने दिखाया वह साहस बहुत ही कम कवियों, लेखकों एवं विचारकों में देखने को मिलता है। अतः प्रगतिशील आन्दोलन मे कवि नागार्जुन के योगदान को अनन्तकाल तक भुलाया नही जा सकता है।

सन्दर्भ

1. रेखा अवस्थी– प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड दिल्ली, पृष्ठ– 1
2. वही, पृष्ठ– 50
3. अजय तिवारी– नागार्जुन की कविता, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, पृष्ठ– 194
4. नागार्जुन हजार–हजार बॉहों वाली, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ– 44
5. नागार्जुन–प्यासी पथराई आँखें, यात्री प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ– 32
6. रामविलास शर्मा– प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, पृष्ठ– 137
7. डा0 अनिल कुमार– प्रगतिशील चेतना और नागार्जुन का काव्य, दि प्रमोद ट्रेडिग कार्पोरेशन बुलानाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2005, पृष्ठ– 13
8. वही, पृष्ठ– 23
9. वही, पृष्ठ– 195
10. शिवचन्द्र– प्रगतिवाद की रूप रेखा, दि प्रमोद ट्रेडिग कार्पोरेशन बुलानाला, वाराणसी, पृष्ठ– 240
11. राजेश शर्मा – आधुनिक हिन्दी निबन्ध, भारत बुक सेक्टर, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ, पृष्ठ– 39
12. प्रो0 प्रणय– नागार्जुन की सामाजिक चेतना, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ– 19

हिन्दी

दलित कविता की क्रांतिकारी संवेदना

–दिनेशक ुमार*

जब सम्यता आगे बढ़ती है तो उसके साथ सामाजिक संघर्ष भी बढ़ता है। सभ्यता के विकास के साथ परिवेशीय चेतना का बोध बढ़ता है। चेतना के विकास के साथ अस्मिता बोध का विस्तार होता है। दलित कविता उस दलित के जीवन की कविता है जो सदियों से उपेक्षित तथा पदमर्दित रहा है। अरविन्द कुमार। कुसुम कुमार ने अपनी हिन्दी थिसारस में लिखा है[1]–दलित का एक अर्थ है शोषित, एक अर्थ है पराजित, जिसमें दमित विजित आदि अनेक भाव शामिल हैं। उसमें एक अर्थ पद दलित है, जिसका भाव पदाक्रान्त है।

माता प्रसाद अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा' में दलित शब्द के अनेक प्रयोगात्मक अर्थों की चर्चा करते हुए कहते हैं–उनमें चाण्डाल, अस्पृश्य, अछूत आदि शामिल हैं। उपेक्षित, अपमानित, उत्पीड़ित, प्रताड़ित भी इस कोटि के शब्द हैं। व्यापक सामाजिक अर्थ में 'गुलाम', 'भूमिहीन', बन्धुआ भी इसमें आते हैं[2]– दलित वर्ग के अन्तर्गत, अनुसूचित जातियॉ, अनुसूचित जनजातियॉ और विमुक्त जातियॉ सभी आ गईं हैं।

इस प्रकार दलित वे जातियॉ हैं, जिनके साथ दीर्घकाल से अन्याय होता रहा है। वैसे इनके प्रति होने वाले अन्याय के प्रति विरोधी स्वर तों सन्तों की वाणी में सुनाई देता है, किन्तु एक धारा के रूप में यह स्वर बीसवीं सदी के प्रारंभ में उठना शुरू होता है। स्वामी अछूतानंद हरिहर ने दलितों के विषय में अपनी स्पष्ट विचारधारा व्यक्त की थी[3]–

सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हकदार हम,
था बनाया शूद्र हमको, थे कभी सरदार हम।।
अब नहीं है वह जमाना, जुल्म हरिहर मत सहो,
तोड़ दो जंजीर जकड़े क्यों गुलामी में रहो?

1936–1943 के बीच प्रगतिवादी कविता आन्दोलन अस्तित्व में आया। इसके काव्य के अन्दर शोषण को चित्रण किया गया। इस वर्ग के कवियों ने दलितों पर कविता की। इन कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', बालकृष्ण शर्मा नवीन, रांगेय राघव, शमशेरबहादुर सिंह, मुक्तिबोध, धूमिल, लीलाधर मंडलोई, गोरख पांडेय आदि ने अपनी कविता में दलितों के विषय में आवाज उठाई। रामधारी सिंह 'दिनकर' हरिवंश राय बच्चन, रवीन्द्र भ्रमर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त ने दलितों की पीड़ाओं को अपनी कविता में व्यक्त किया। साहित्य के विकास के क्रम में दलित जो समाज के हाशिये पर थे, कविता के विषय बने किन्तु दलित साहित्य का विकास 1980 के बाद तीव्रता से हुआ। दलित कवियों ने दलितों की अस्मिता को उभारा।

1980 के बाद भारत में दलित साहित्य का विकास प्रारंभ हुआ है। इसमें अनेक विधाएँ सम्मिलित हैं। इनमें

*शोध छात्र, शिब्ली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़ (उ0प्र0)

कविता, उपन्यास, आत्मकथा, कहानी सबका विकास हुआ है। साहित्यिक विधाओं में कविता सर्वाधिक संवेदनशील विधा है और दलित कविता का तो कहना ही क्या। दलित कवि अपने काव्य में अनेक ऐसे प्रतिमानों को उभारते हैं, जिनसे उनकी कविता क्रान्तिकारी बन गई है।

दलित कविता की पृष्ठभूमि में अम्बेडकरवाद के प्रभाव के कारण कविता का स्वर क्रान्तिकारी हुआ है। अम्बेडकर जी दलितों के ऐसे नेता रहे हैं, जिन्होंने दलितों के लिए जीवन भर संघर्ष किया। अम्बेडकर जी ने दलितों के भीतर एक ऐसी प्रेरणा भरी है जो उन्हें एक नये प्रगतिवादी जीवन की प्रेरणा देती है। दलित कविता को समझने के लिए कुछ बिन्दुओं को जानना आवश्यक है।

अम्बेडकरवाद के मुख्य बिन्दु[4] :–

1. अम्बेडकरवाद ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण या किसी अन्य ईश्वर का खण्डन करता है। जीवन की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को अम्बेडकरवाद कोरी कल्पना मानता है। इस सिद्धान्त की दृष्टि में प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ है।
2. अम्बेडकरवाद स्वर्ग–नर्क, आत्मा–भाग्य, पुनर्जन्म, हवन–यज्ञ, चमत्कार, पूजा–पाठ, कर्मकाण्ड का विरोध करता है।
3. मृत्यु के उपरांत भोज या श्राद्ध जैसी प्रथाओं को अम्बेडकरवाद नकारता है। बुरी आत्मा, शैतान जैसे मिथक भी अम्बेडकरवाद नहीं मानता।
4. यह व्रत–उपवास आदि की महिमा को नकारता है।
5. यह ब्राह्मणवाद (ऐसी परंपरा जिसमें जातीय–भेद–भाव हो) तथा कर्मकांड का विरोध करता है।
6. यह जातीय–भेद तथा धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करता है तथा इनसे उत्पन्न उत्पीड़न, अपमान, तिरस्कार का प्रबल विरोधी है।
7. यह नारी और पुरूष को समान स्थान देता है तथा इस दिशा में सकारात्मक सोच की मॉग करता है।
8. अम्बेडकरवाद मूल रूप में दलित शोषित, पीड़ित का स्वर है जो बन्धुत्व की स्थापना के लिए प्रयासरत है।
9. अम्बेडकरवाद श्रमण परंपरा पर आधारित है जो श्रम को उचित सम्मान देता है।
10. यह शिक्षा को अत्यधिक महत्व देता है। इसके अनुसार शिक्षा के माध्यम से समाज, राष्ट्र और विश्व में परिवर्तन संभव है।
11. यह आत्म बोध पर विश्वास करता है इसके साथ ही अन्याय के विरोध में विश्वास करता है।

चूँकि दलित कविता अम्बेडकरवाद से प्रभावित है, इसलिए इसमें विद्रोह और आक्रोश का आना स्वाभाविक है। अम्बेडकर जी क्रान्ति में विश्वास करते थे, इसलिए दलित कवि भी क्रान्ति में विश्वास करता है। दलित कविता का एक सामाजिक दर्शन है, जो अनेक रूपों में कविता में उभरकर सामने आता है।

दलित कविता, वर्ण–व्यवस्था, अस्पृश्यता और जातिगत बुराइयों के लिए समतावादी लोकतंत्र की स्थापना चाहती है, इस प्रकार इस कविता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना है, जिसको निम्नलिखित आयाम लक्ष्य किया जा सकता है–

1. लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना – सवर्णों की नीतियॉ परंपराये और मान्यताएॅ दलित को एक उपोत्पाद मानकर व्यवहृत की जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में दलित की उपेक्षा का चित्रण इस प्रकार करते हैं[5]–

> पैदा हुए, वैसे ही
> जैसे जंगल में उगते हैं पेड़
> पहाड़ पर पत्थर
> नदी में रेत,
> मोती से बनती है माला
> जिसे गले में डालकर

बैठते हैं वे राज सिंहासन पर
और, हम
खो जाते हैं वैसे ही
जैसे पैदा हुए, गुमनाम
उपोत्पाद की तरह।।

ऊपर की पंक्तियों में यह साफ झलकता है कि कवि सामाजिक व्यवस्था में बदलाव चाहता है। अपनी एक कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज से नफरत को दूर भगाना चाहते हैं[6]–

मेरी चेतना,
रोक लेती है कदमों को
बेड़ी बनकर
मेरे पूर्वजों की सीख कि
हिंसा नहीं हिंसा का जवाब।।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्याय को क्रान्ति ही दूर कर सकती है, अहिंसा नहीं।

2. रूढ़ परम्पराओं का खण्डन :

रूढ़ परंपराओं में लम्बे समय तक दलितों को दलदल में फॅसाये रखा, इसलिए दलित कवि अन्ध पंरपराओं और अंध श्रद्धा को नष्ट करना चाहता है। डॉ0 एन0सिंह विद्रोही तेवर में उस व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहते हैं, जिसने दलितों को केवल कर्म करने की बात कही। उनके कर्म के फल की बात नहीं बताया[7]–

मेरे हाथ की कुदाल
धरती पर कोई नींव खोदने से पहले
कब्र खोदेगी। उस व्यवस्था की
जिसके संविधान में लिखा है
तेरा अधिकार सिर्फ कर्म में है, श्रम में है
फल पर तेरा अधिकार नहीं।।

दलित कवियों ने अनेक ऐसे सवाल उठाये हैं जो आज के वैज्ञानिक युग में सार्थक हैं। वे कहते हैं तू पत्थरों की आरती उतारता है तुम्हारे दिमाग में घुन लगा है। ईश्वर को गढ़ने वाला आदमी है। दलित कवि कहता है जब ईश्वर के मॉ–बाप का पता नही है तब ईश्वर को मरा हुआ मान लेना ठीक है। आत्मा तो शरीर की चेतना है। वह अजर अमर कैसे है? मलखान 'सुनो ब्राह्मण' कविता में कहते हैं– स्वर्ग–नरक, ऊॅच–नींच, छूआछूत, मंत्र–तंत्र, भूत–भभूत, आत्मा–परमात्मा सब बकवास है। डा0 कर्दम ईश्वर से सब बात चुकाने की बात करते हैं। सूरज पाल चौहान सवर्णों के जगत गुरू होने पर सवाल उठाते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि एक बार दलित की जिन्दगी जी कर देखो, संसार के सत्य का पता चल जायेगा।

दलितों की व्यथा का चित्रण

दलित कवियों ने दलित की व्यथा का चित्रण किया है तथा यह बताया है कि दलितों के साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया जाता है। दलित कवि अपने साथ अतीत में हुए शोषण की याद दिलाता है। शोषण सभी दलितों का कॉमन फैक्टर है। दलित कविता के सशक्त हस्ताक्षर ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने पूर्वजों के साथ हुए अत्याचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उनके पूर्वज भूखे रहते थे। भूख के बदले उन्होंने प्यार खोया जबकि वह भूख उन लोगों की देन थी जो रात–दिन दलितों के पसीने की बदौलत आराम करते थे–

वे सपने अब कोई नहीं लौटा सकता[8]
ओ, मेरे पुरखों!
तुम चुप रहे उन रातों में
जब तुम्हें प्रेम करना था
आलिंगन में बॉधकर
अपनी पत्नियों को
तुम तलाशते रहे
मुट्ठी भर चावल,
सपने गिरवी रखकर।।

वर्ण व्यवस्था का विरोध :

दलित कवियों ने वर्ण–व्यवस्था का कड़ा विरोध

किया है। मलखान अपनी एक कविता में कहते हैं[9]— सदियों से तुमने हमें नीच, अपवित्र तथा माना है राजाओं ने इसे सिद्धान्त बनाया उसे परंपरा बनाकर लागू किया, रूको अब इसके प्रति विद्रोह होगा।

धर्मविहीन संस्कृति — हिन्दू धर्म जिसने दलितों का शोषण किया है। इसमें ऐसी अन्धी परंपराएँ हैं जो समानता तथा मानवता विरोधी हैं। अम्बेडकर ने इसीलिए बौद्ध धर्म को महत्व दिया था। असंगघोष अपनी एक कविता में सवाल उठाते हैं[10]— हिन्दू—मुस्लिम— सिक्ख—ईसाई के भाई—भाई की बात की जाती है, लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दू—हिन्दू, मुस्लिम—मुस्लिम, सिक्ख—सिक्ख, ईसाई—ईसाई भाई हैं। उन्होंने सहभागिता के अन्याय पर भी सवाल उठाया है।

समग्रतः दलित कविता में एक क्रान्तिकारी संवेदना है जो देश को विचार करने पर विवश करती है। इसके साथ ही हिन्दी कविता में नया आयाम है, जहाँ घृणा, शोषण तथा अपमान को प्रस्तुत कर संवेदना परिवर्तन की अपील की गई है। इसमें बन्धुत्व, स्वतंत्रता तथा समानता का प्रचल आग्रह है, जिसका निहितार्थ सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना है।

सन्दर्भ

1. अरविन्द कुमार, कुसुम कुमार (सं0) : हिन्दी थिसारस, पृ0 551, सं0 2013ई0, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली
2. माता प्रसाद : हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृ04 (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं0 1993ई0)
3. प्रो0 चमन लाल : दलित साहित्य एक मूल्यांकन, पृ0 63, सं0 2009, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली—110006
4. डॉ0 सुशील शीलू : दलित कविता, परंपरा और परिप्रेक्ष्य, पृ0 89, सं0 2014, सिद्धार्थ बुक्स, डॉ0 अम्बेडकर गेट, मडोली रोड, शाहदरा, दिल्ली, 110032
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि : बस्स बहुत हो चुका, पृ0 18—19, सं0 1997ई0, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
6. ओमप्रकाश वाल्मीकि : सदियों का सन्ताप, पृ0 33, सं0 1989, फिलहाल प्रकाशन, धर्मपुर, देहरादून—248001
7. डॉ0 एन0 सिंह : सतह से उठते हुए, पृ0 11, सं0 1991, राज पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली
8. ओमप्रकाश वाल्मीकि : बस्स बहुत हो चुका, पृ0 103, सं0 1997ई0, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
9. डॉ0 सुशील शीलू : नई संस्कृति का भ्रूण, पृ0 62, सं0 2004, अमृत प्रकाशन, दिल्ली
10. डॉ0 सुशील शीलू : दलित कविता, परंपरा और परिप्रेक्ष्य, पृ0 129

हिन्दी

कमलेश्वर प्रसाद शर्मा एवं उनकी चलचित्र दुनियां

–डॉ०ब ालचन्दप्र साद*

कथा–कहानियों के देश भारत में सिनेमा के आगमन से किस्सों को मुखर होने का एक ऐसा जीवंत आयाम मिल गया, जिस पर सवार होकर भारतीय फिल्मों ने आज विश्व सिनेमा में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा ली है।

साहित्य और सिनेमा के संबंधों को लेकर बराबर बहस की जाती रही है, जिसे अक्सर फिल्म के व्यवसायिक सफलता–असफलता के तराजू में तोल कर देखा गया है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म का निर्माण और खुद साहित्यकार का फिल्मों से जुड़कर क्रियाशील होना–दो अलग–अलग स्थितियाँ हैं, जिससे हिन्दुस्तानी सिनेमा बाबस्ता रहा है। साहित्य और सिनेमा के आपसी रिश्तों पर बहस ही बेमानी है, क्योंकि भारत में सिनेमा अपने प्रारम्भिक काल से ही साहित्य से जुड़ कर उत्तरोत्तर विकास–पथ पर अग्रसर होता रहा है। सामाजिक संस्कारों से गुँथी कहानियों से पहले लोक–साहित्य के परिप्रेक्ष्य में महर्षि वाल्मीकि की रामायण, संत तुलसीदास की रामचरित मानस एवं महाकवि सूरदास का महाकाव्य ही भारतीय फिल्मों की धुरी रहा है। धार्मिक कथा–संदर्भों के साथ ही ऐतिहासिक गाथाओं का जलवा सिनेमा के मार्फ़त जन–साधारण के सर चढ़ कर खूब बोला। इसी क्रम में सामाजिक ताने–बाने को समेटे वर्तमान साहित्य की चाशनी भी लोगों को रुचिकर लगी, जिसका सबसे नायाब उदाहरण है–फिल्म 'देवदास'। शरत्चन्द्र की साहित्यिक कृति को पर्दे पर अब तक चार बार उतारा जा चुका है और हर बार लोगों ने इसे जी–भर कर सराहा। तीस के दशक में ही मुंशी प्रेमचन्द ने भी सिनेमा में अपनी उपस्थिति दर्ज़ करायी, पर व्यावसायिक गणित के जोड़–घटाव ने उन्हें साहित्य की परिधि में वापस धकेल दिया।

साहित्य की गौरवशाली परम्परा का पोषक बन कर पहली बार जिस हिन्दी साहित्यकार ने हिन्दुस्तानी सिनेमा के व्याकरण को सम कर स्वयं को साहित्य और फिल्मों में समान रूप से प्रासंगिक साबित किया, वे थे कमलेश्वर। साठ के दशक में जब हिन्दी फ़िल्में अपने पूर्ण यौवन पर थीं, तब कमलेश्वर साहित्य के आकाश पर एक नायक के रूप में छा चुके थे। बंबई में साहित्यिक पत्रिका का संपादन करते हुए पहली बार फिल्म 'सारा आकाश' (1969) से कमलेश्वर ने अपनी कलम का जादू सिनेमा में बिखेरा। राजेन्द्र यादव की कहानी पर बनी 'सारा आकाश' की पटकथा एवं संवाद कमलेश्वर ने लिखे, मगर फिल्म के क्रेडिट में उन्हें इसका श्रेय नहीं दिया गया। नाम देने या न देने से व्यक्तिगत रूप से कमलेश्वर को तो फ़र्क़ नहीं पड़ा, पर इससे सिनेमा और साहित्य के वर्तमान रिश्तों पर ज़रूर फ़र्क पड़ा। तब इस बात को भले ही तवज्जोह न दी गयी हो, मगर आज और आने वाले समय में जब–सिनेमा और साहित्य के संबंधों को खंगाला जाएगा, तब–तब ऐसी अनेक टूटी–बिखरी कड़ियाँ उस

*तदर्थ प्रवक्ता, श्री गाँधी पी०जी० कालेज मालटारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)

धारणा को बल देती प्रतीत होंगी जिसमें आमतौर पर साहित्य और सिनेमा के सौहार्दपूर्ण तारतम्यों को प्रश्नवाचक रूप में पेश किया गया है। हिन्दुस्तानी सिनेमा के हित में यह बेहद ज़रूरी है कि इस तरह की सभी छूट गयी जानकारियों या जान–बूझकर छोड़ दी गयी सूचनाओं को दुरुस्त कर लिया जाए। महज़ जानकारी का छूट जाना या सही तथ्य को लोगों के समक्ष प्रस्तुत न करना, अपने आप में इतिहास को झुठलाना तो है ही, पर इससे भी खरनाक बात किसी के किये गये काम की जगह किसी और का नाम दे देना है। अपने इस शोध–पूर्ण प्रयास से हासिल किये गये तथ्यों एवं जानकारियों के आधार पर मैं संबंधित लोगों से कहना चाहूँगा कि वे लुप्त की गयी जानकारियों एवं ग़लत सूचनाओं को दुरुस्त कर लें, ताकि फ़िल्म इतिहास की सच्ची तस्वीर लोगों के सामने ईमानदारी से पेश की जा सके। दरअसल 'काम किसी का, नाम किसी का' ढर्रा फ़िल्मी दुनिया में ही नहीं, कई अन्य क्षेत्रों में एक ज़माने से होता चला आ रहा है। यहाँ हम सिनेमा और साहित्य के जिस गठजोड़ की बात कर रहे हैं, उसके परिप्रेक्ष्य में अब इन भूलों को सुधार लेने का समय आ गया है।

पहले भूल–सुधार के रूप में आप भारतीय सिनेमा के दस्तावेज़ में यह अंकित कर लें कि फ़िल्म 'सारा आकाश' (1969) की पटकथा एवं संवाद साहित्यकार कमलेश्वर ने लिखे थे। बग़ैर गीतों के बनी कुछ गिनी–चुनी फ़िल्मों में एक फ़िल्म यह भी है, जिसमें गीतों की गुंजाइश होते हुए भी, एक भी गीत नहीं रखा गया। सलिल चौधरी जैसे गुणी संगीतकार ने इस फ़िल्म का पार्श्वसंगीत तैयार किया था और निर्देशन की बागडोर संभाली थी बासु चटर्जी ने। सत्तर के दशक में जहाँ एक ओर समांतन सिनेमा अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में जुटा था वहीं, व्यावसायिक सिनेमा अपनी व्यावसायिक क्षमता को बढ़ाने में लगा था, पर इन सबके बीच एक नयी धारा फ़िल्मों की ऐसी भी फूटी, जिसमें संवदेनशील साहित्य को स्वाभाविक अभिनय के साँचे में ढाल व्यावसायिक पुट देकर पेश किया गया, जो न सिर्फ़ सफल रहा, बल्कि बेहद पसंद भी किया गया। ज़ाहिर है साहित्य की बागडोर कमलेश्वर के हाथ थी, जो अपनी कहानी, पटकथा, संवाद और निर्देशन के अद्‌भुत सम्मिश्रण से सिनेमा माध्यम के मूल गुण–धर्म को बड़े सलीक़े से सींच रहे थे। फ़िल्म 'बदनाम बस्ती (1971) कमलेश्वर के उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' पर बनी थी। यह उपन्यास 'बदनाम गली' के नाम से फ़िल्म के बुकलेट में दर्शाया गया है। इस फ़िल्म में कहानी, पटकथा, संवाद तो कमलेश्वर के थे ही, साथ ही, साहित्यकार के रूप में इससे एक नाम और जुड़ा। जी हाँ, गीतकार के रूप में इस फ़िल्म में हरिवंशराय 'बच्चन' ने एक गीत लिखा था 'मेले में खोयी गुजरिया....', जिसके संगीतकार थे–विजय राघव राव। प्रेम कपूर के निर्देशन में बनी इस फ़िल्म ने व्यावसायिक सफलता तो अर्जित नहीं की, पर अपनी तरफ़ लोगों का ध्यान ज़रूर खींचा। इसी वर्ष दूरदर्शन के डायरेक्टर रहे शिवेन्द्र सिन्हा के निर्देशन में 'फिर भी' (1971) का ताना–बाना भी साहित्यकारों एवं कला–मनीषियों के इर्द–गिर्द ही रहा। संगीतकार रघुनाथ सेठ, गीताकारों में हरिवंशराय 'बच्चन', पं० नरेन्द्र शर्मा थे और कलाकारों में एक नाम राजेश्वरनाथ का भी है। ये वही राजेश्वरनाथ हैं, जिनसे मुलाक़ात करके कमलेश्वर 27 जनवरी 2007 को जब वापस लौट रहे थे, तो कार में ही उनका निधन हुआ था। इस फ़िल्म में बच्चन के गीत 'साँझ खिले भोर झरे, फूल हरिसंगार के, रात महकती रही....' को हेमंत कुमार और उनकी बेटी रानू मुखर्जी ने बड़े ही मनमोहक अन्दाज़ में गाया था। राष्ट्रपति पुरस्कार पाने वाली इस फ़िल्म की कहानी, पटकथा, संवाद कमलेश्वर के थे। साहित्य–सिनेमा गठजोड़ के लिहाज़ से यह फ़िल्म बेहद महत्त्वपूर्ण साबित हुई। अब तक कमलेश्वर सिनेमा–जगत में अपनी क़लम से बखूबी पहचाने जाने लगे थे। फ़िल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य होने के नाते उनका क़द

इसलिए भी बड़ा था, क्योंकि वे एक प्रतिष्ठित साहित्यकार भी थे। वर्ष 1974 की फ़िल्म 'डाक बंगला' कमलेश्वर के इसी नाम के उपन्यास पर गिरीश रंजन ने अपने निर्देशन में खुद की प्रोडक्शन कंपनी 'गिरीश रंजन प्रोड' के अन्तर्गत बनायी थी। इसकी पटकथा और संवाद कमलेश्वर ने लिखे थे। साथ ही, इसी साल मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर आधारित बासु चटर्जी निर्देशित फ़िल्म 'रजनीगंधा' के संवाद भी कमलेश्वर ने लिखे थे। हालाँकि खुद बासु चटर्जी और मन्नू भंडारी इस फ़िल्म से कमलेश्वर के किसी प्रकार के जुड़ाव से इंक़ार करते हैं, पर उनके इस इंकार के पक्ष में कोई ठोस आधार नज़र नहीं आता। वार्डन रोड स्थित कमलेश्वर के घर पर तब बासु अक्सर जाया करते थे और उनसे अपनी फ़िल्मों पर चर्चा करते थे। अपनी तरफ से जो कुछ बासु लिख कर लाते थे, उसे कमलेश्वर ठीक—ठाक करके, सलीके से पेश कर दिया करते थे, जो वाक़ई बड़ा खूबसूरत बन पड़ता था। यह सच है कि कमलेश्वर के इस तरह के किसी भी योगदान का श्रेय बासु चटर्जी ने अपनी किसी भी फिल्म में उन्हें नहीं दिया, यहाँ तक कि 'दर्पण' धारावाहिक की पटकथा का क्रेडिट भी उन्होंने अपने नाम ही रखा। कमलेश्वर खुद इस तरह के क्रेडिट की परवाह नहीं करते थे, पर उनका काम तो हर जगह साफ़ दिखता था, फिर भला कोई इसे कैसे झुठला सकता है। कमलेश्वर जिस स्तर के साहित्यकार थे, उसी स्तर की उनकी खुद्दारी भी थी। बासु ने शायद उन्हें आम फ़िल्मी लेखक के तौर पर आँकने की ग़लती की थी, जिसका दो—टूक जवाब कमलेश्वर ने उन्हें यह कहते हुए दिया था कि ''मैं ठेके पर नहीं लिखता।'' दरअसल फ़िल्मी दुनियाँ चलन के मुताबिक बासु ने कमलेश्वर से पेशकश की थी कि वे 'दर्पण' धारावाहिक की पटकथा इकट्ठे तैयार कर दें, जिस पर कमलेश्वर राज़ी नहीं हुए। कमलेश्वर की स्पष्टवादिता जिसे नागवार लगती ज़ाहिर है, वह कुंठित हो जाता था, पर उनकी इसी साफ़गोई ने उन्हें एक नया आयाम दिया, एक नया फलक दिया।

सत्तर के ही दशक में जब दूरदर्शन का केंद्र मुंबई में खोला गया, तब टेलीविज़न की दुनियाँ के पहले टॉक शो 'परिक्रमा' की ज़बरदस्त कामयाबी का बहुत बड़ा श्रेय कमलेश्वर को जाता है। उन दिनों दूरदर्शन में कार्यरत टी०पी० जैन इस कार्यक्रम के प्रोड्यूसर थे और इसके प्रस्तुतकर्त्ता थे कमलेश्वर, जिन्होंने अपने इस शो के माध्यम से समय और समाज की परिक्रमा क्या खूब की। दिल्ली के बाद, तब की बंबई में स्थापित हुए दूरदर्शन यानी टेलीविज़न के पहले पटकथा—लेखक कमलेश्वर ही थे। साठ के दशक में दिल्ली में, रहते हुए ही कमलेश्वर टेलीविज़न से जुड़ कर अपना नाम पैदा कर चुके थे। 'परिक्रमा' की ज़बरदस्त कामयाबी ने कमलेश्वर को फ़िल्मों के साथ—साथ टी०वी० का भी एक सशक्त लेखक, प्रस्तुतकर्त्ता, उद्घोषक बना दिया, जो इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, कि साहित्य और उसके तेवर को कमलेश्वर ने बाक़ायदा बरक़रार रखा था। साहित्य की बुनियाद पर खड़े कमलेश्वर ने फ़िल्म और टी०वी में अपनी उपस्थिति जिस प्रभावशाली अंदाज में दर्ज करायी, उसने साहित्य तथा साहित्यकार और सिनेमा के रिश्तों को नये मायने दिये। अब तक जितने भी साहित्यकार फ़िल्मों में आये थे, उनमें से ज़्यादातर वहाँ ठहरने से पहले ही वापस लौट गये थे, पर कमलेश्वर के ठहराव ने पहली बार सिनेमा को साहित्य की चाशनी से शराबोर विचारों एवं भाषा की जो घुट्टी पिलायी, उससे फ़िल्मी लेखकों की तब की तमाम बौध को एहसासे—कमतरी का बोध कुछ ऐसा हुआ कि कइयों ने परोक्ष रूप से कलमेश्वर के ख़िलाफ़ मोर्चा खोल दिया। बावजूद इसके, कमलेश्वर का दख़ल उन दिनों समांतर सिनेमा के साथ—साथ व्यावसायिक सिनेमा में इतना बढ़ चुका था कि तब के नामी—गिरामी तथा नवोदित निर्माता—निर्देशक किसी—न—किसी बहाने से कमलेश्वर की पाठशाला में शामिल होते चले गये।

सत्तर के दशक का यह दौर बेहद महत्त्वपूर्ण था। कमलेश्वर की भाषा पर अनूठी पकड़ ने पटकथा एवं संवाद–लेखन के उनके कौशल को जो आयाम दिया, वह इसलिए बेहद ख़ास था कि उन शब्दों में दृश्य अपने आप तैरते–उतराते नज़र आते थे। कमलेश्वर का कहानीकार होना उनके लिये इस क़दर सहायक रहा कि उनके सिनेमाई लेखने ने अपनी परिकल्पना में पात्रों और दृश्यों को कुछ इस तरह से जीवंत कर दिया, जिससे अंततः निर्देशक का काम या तो बेहद आसान हो गया, या फिर उसके लिए कुछ नया करना शेष रहा ही नहीं। इस श्रेणी में 'आँधी' और 'मौसम' फ़िल्में उल्लेखनीय हैं, जिन पर आगे चर्चा की जाएगी।

बहरहाल, हम बात कर रहे थे कमलेश्वर की पाठशाला की। दरअसल, कमलेश्वर के फ़िल्मों में लिखने से कई होनी–अनहोनी पर से पर्दा उठ गया। ऐसे निर्माता–निर्देशकों की बातें जग–ज़ाहिर हुईं, जिनको हिन्दी भाषा के सामान्य व्याकरण की जानकारी न होने के बाद भी फ़िल्म के संवाद–पटकथा में उनका नाम होता था। हिन्दी बोलने और लिखने की समझ न रखने वाले, फ़िल्मों के लेखक का क्रेडिट खुद ले रहे थे, जो एक अपराध तो था ही, साथ ही, उन लोगों का शोषण भी था जो मजबूरी में अपने काम का दाम लेखक चुप बैठ जाने को विवश थे यानी काम किसी का और नाम किसी का। कुछ लोगों ने इतनी भलमनसाहत दिखाई कि सहायक के तौर पर ऐसे लोगों का नाम दे दिया। कई जगह कुछ ऐसे नाम भी दिये गये, जिससे उस व्यक्ति का कोई संबंध ही नहीं था, पर चूँकि वे किसी न किसी रूप में फ़िल्म के निर्माता–निर्देशक को लाभान्वित करते थे लिहाज़ा ऐडजस्टमेंट या फिर कंपनसेट करने की तर्ज़ पर क्रेडिट में उनका नाम दिया गया। फ़िल्म वालों को इसमें न तब कोई बुराई दिखती थी और न आज दिखती है। कमलेश्वर के आने से इस स्वार्थ की चक्की का खेल जग–ज़ाहिर हुआ, पर उनकी उदारता और बड़ेपन की प्रवृत्ति का फायदा उठाकर कइयों ने उनसे अपने कई प्रयोजन सिद्ध किये, मगर क्रेडिट का सेहरा खुद अपने सर बाँध लिया। बासु चटर्जी ने कमलेश्वर के निधन के पश्चात् एक पत्रिका में कहा है कि बहुत से लोग सोचते हैं कि उन्होंने मेरी फ़िल्मों की पटकथा लिखी, जबकि ऐसा कभी नहीं हुआ। बासु ने कमलेश्वर के न रहने पर अपना यह बयान तो दर्ज कर दिया, पर उनके वार्डन रोड वाले घर पर अपनी ढेरों बैठकों से उगाही गयी तमाम सामग्रियों को भला कैसे और कब तक झुठलाते रहेंगे। इस संबंध में कमलेश्वर ने अपनी डायरी में खुलासा करते हुए बाकायदा लिखा है– ''सारा आकाश' फिल्म अच्छी बनी है। बासु चटर्जी ने फोन किया कि मैं नाराज़ तो नहीं हूँ, क्योंकि पटकथा–लेखक के रूप में उसमें मेरा नाम नहीं दिया गया है......एक क्षण के लिए यह बात खटकी तो थी, पर मुझे कोई ख़ास बुरा नहीं लगा। नयी फ़िल्मों का यह आंदोलन यदि इन बातों को लेकर बिखर गया, तो फिर दस साल तक फ़िल्मों का कुछ बनने वाला नहीं है। मैंने चुप रहना ही बेहतर समझा, ताकि ये लोग काम कर सकें और यह आंदोलन कुछ रूप ले सके।'' 'दर्पण' धारावाहिक को भी कमलेश्वर ने लिखा था, पर बासु इसका क्रेडिट भी खुद लेते हैं। इस बात से तो सभी सहमत है कि कमलेश्वर ने कभी भी किसी और के काम का श्रेय स्वयं नहीं लिया और जो कुछ भी उन्होंने खुद किया, उससे पीछे भी नहीं हटे। साहित्य से इतर मेरी जब–जब उनसे फिल्मों पर बातें होती थीं, तब चंद एक उन फ़िल्मों की भी बातें होती थीं, जिन पर उन्होंने काम किया था, मगर उनमें उनका नाम नहीं दिया गया था। उनके द्वारा तैयार की गयी फ़िल्मों, धारावाहिकों की सूची में उन्होंने क्रेडिट को दर–किनार करते हुए, उन सभी को अपनी फ़ेहरिस्त में दर्ज किया है, जिनके लिए उन्होंने अपनी क़लम चलायी थी। इसी फ़ेहरिस्त में एक नाम है फ़िल्म 'रजनीगंधा' (1974) का, पर यहाँ भी कमलेश्वर का नाम तो नहीं है, मगर इसमें बाक़ायदा उनका नाम झलकता है। इस दौर में, फ़िल्मों के

साथ–साथ कमलेश्वर का टेलीविज़न का सफ़र भी सफलतापूर्वक चलता रहा। 'चन्द्रकांता' और 'युग' जैसे धारावाहिकों की मक़बूलियत ने जहाँ एक ओर कमलेश्वर की सामाजिक–ऐतिहासिक प्रतिबद्धता को रेखांकित किया, वहीं 'पंचतंत्र', 'बेताल' जैसे सीरियलों से उनके लेखन की विविधता की निखार बच्चों को खूब पसंद आया, जिसे बड़े भी अत्यंत चाव से निहारते थे। कमलेश्वर के कुछ अन्य चर्चित सीरियलों में 'कहीं दीप जले कहीं दिल', 'बिखरे पन्ने', 'रेत पर लिखे नाम', 'विराट' और दो खास प्रस्तुतियाँ 'कश्मीर' तथा 'अयोध्या' नाम से दर्ज हैं। दूरदर्शन पर कमलेश्वर का, और साथ ही भारतीय टेलीविज़न का सबसे पहला सुपरहिट धारावाहिक 'परिक्रमा' रहा। इस साप्ताहिक कार्यक्रम की कुल 650 प्रस्तुतियाँ की गयीं, जो सामाजिक सरोकार से जुड़े अलग–अलग विषयों पर आधारित एक बेहद संजीदा, मगर दिलचस्प और पूरी तरह 'लाइव' होता था। परिक्रमा के लिए कमलेश्वर अपना पूरा होमवर्क और रिसर्च पहले कर लेते थे, पर इसे प्रस्तुत करते समय कोई स्क्रिप्ट अपने साथ नहीं रखते थे यानी उनकी जुबान से निकलते अल्फ़ाज़ खुद–ब–खुद जिस अंदाज़ में संवाद की शक्ल लेते थे, उससे लोगों का अचंभित हो जाना स्वाभाविक था। कमलेश्वर की सफलता के इसी परचम ने आगे चलकर राही मासूम रज़ा और मनोहर श्याम जोशी सरीखों का काम बेहद आसान कर दिया मनोहर श्याम जोशी ने तो बाकायदा स्वीकारा है कि बंबई वे कमलेश्वर का नाम लेकर ही आये थे। कुछ इसी तर्ज़ पर अपने फ़िल्मी लेखक का प्रेरणास्रोत आज के 'रंग दे बंसती' फिल्म एवं सोनी टी०वी० पर आ रहे मेगा सीरियल 'विरुद्ध' के लेखक कमलेश पांडेय ने भी कमलेश्वर को ही बताया है। शुद्ध रूप से अपनी क़लम से अर्जित किये गये यश के बाद इन नामी लेखकों को भला क्या पड़ी थी कि वे अपने कार्यों के लिए कमलेश्वर का धन्यवाद ज्ञापन करें। शायद इसलिए कि इन लेखकों के संस्कार फ़िल्मी नहीं हैं, तभी तो अपनी साहित्यिक विरासत की चमक आज भी इनके काम में दिखती है।

कमलेश्वर के निधन के ठीक दूसरे दिन यानी 29 जनवरी 2007 को अंग्रेज़ी अख़बार 'इंडियन एक्सप्रेस' में गुलज़ार लिखते हैं– ''मेरी फ़िल्म 'मौसम' पर आधारित है उपन्यास 'आगामी अतीत'। 'उन्होंने (कमलेश्वर) 'आँधी' पर भी एक उपन्यास लिखा जिसका शीर्षक था 'काली आंधी'।'' यानी गुलज़ार कहना चाह रहे हैं कि उन्होंने 'मौसम' और 'आँधी' फ़िल्में पहले निर्देशित कीं और कमलेश्वर ने उपन्यास बाद में लिखे। मतलब यह हुआ कि बेटे की पैदाइश पहले हो गयी और बाप का जन्म बाद में हुआ। एक समय था, जब अंग्रेजी और हिन्दी के पाठकों का एक मिला–जुला तबका बड़ी तादाद में ऐसे लोगों का है, जो दोनों ही भाषाओं को सहजता से लिखते–पढ़ते हैं। गुलज़ार के इस दावे पर अंग्रेजी पाठकों के साथ–साथ बड़ी संख्या में हिन्दी के लोगों में तीखी प्रतिक्रिया हुई। लोगों की याददाश्त की तारीफ़ करनी होगी कि उन्हें यह मालूम था कि 'आगामी अतीत' फ़िल्म बनने से पहले 'धर्मयुग' पत्रिका में छप चुका था, इसी तरह, 'काली आँधी' भी फ़िल्म के पहले लिखा जा चुका था। कमलेश्वर का लेखन इतना सहज और परिपक्व हुआ करता था कि आप पढ़ते हुए अपने सामने दृश्यों को साकार होते देख सकते हैं। पंकज राम ने मुझे बताया कि उनकी माँ ने जब 'आगामी अतीत' को पढ़ा तो उन्होंने कहा था कि देखना इस पर कभी एक फ़िल्म बनेगी, जिसमें संजीव कुमार और शर्मिला टैगोर होंगे। जी हाँ, पंकज की माँ की यह बात बाद में सच साबित हुई। शायद आप इसे एक इत्तिफ़ाक़ या संयोग मान सकते हैं, मगर नहीं, कमलेश्वर का लेखन ही ऐसा था कि वे अपनी कहानी में दृश्यों, माहौल और चरित्रों को इस तरह पेश करते थे कि पढ़ने वाले के सामने खुद–ब–खुद एक मुकम्मल तस्वीर तैयार हो जाती थी। शायद इसीलिए, कमलेश्वर की कहानी, पटकथा एवं संवाद के बाद फ़िल्म में निर्देशक का काम एक संयोजक

के अलावा कुछ नहीं रह जाता। तभी तो ऐसा फिल्म–इतिहास में पहली और आख़िरी बार हुआ कि 'आँधी' और 'मौसम' फ़िल्में किसी निर्माता या निर्देशक की नहीं, बल्कि कमलेश्वर की फ़िल्मों के तौर पर जानी जाती हैं। अब क्रेडिट चाहे जो ले ले, पर कमलेश्वर की क़लम और जुबान अपनी पहचान खुद बताती हैं। कमलेश्वर में एक और दुर्लभ कौशल था, कम से कम समय में बड़ी से बड़ी कहानी लिख देने का।

'काली आँधी' उपन्यास उन्होंने 4 फ़रवरी 1974 को पूरा कर दिया। इसी कहानी पर आधारित फिल्म 'आँधी' का प्रदर्शन 1975 में हुआ था। 'सारिका' पत्रिका में कमलेश्वर के सहायक तब सुदीप हुआ करते थे, उन्होंने मुझे बताया कि 'आँधी' फ़िल्म मुम्बई के 'मेट्रो' सिनेमा में प्रदर्शित की गयी थी। रिलीज़ के एक दिन पहले, वहाँ पर लगे पोस्टर पर जब सुदीप ने पटकथा–संवाद में कमलेश्वर का नाम कहीं नहीं देखा, तो उन्होंने वहीं से कमलेश्वर को फ़ोन करके यह बात बतायी। कमलेश्वर का अपने घर से वी०टी० के टाइम्स दफ्तर आने का रूट दूसरा हुआ करता था, पर सुदीप के फोन के बाद वे अपने दफ्तर मेट्रो सिनेमा वाले रूट से इसलिए निकले, ताकि वो खुद भी इस गड़बड़झाले को देख सकें। मोटे–मोटे हरफ़ों में लिखा था–'रिटैन एण्ड डायरेक्टेड बाई गुलजार'। दफ्तर पहुँच कर सुदीप के सामने ही कमलेश्वर ने गुलज़ार को फोन लगाया और अपना सख़्त एतराज़ संयत भाषा में जताया, मगर हद तो तब हो गयी जब यही गुस्ताख़ी गुलज़ार ने 'मौसम' फिल्म में भी दोहरायी। कमलेश्वर ने मुझे बताया था कि इन दो फिल्मों में गुलज़ार के इस रवैये ने उन्हें भविष्य में दुबारा साथ काम न करने पर मजबूर कर दिया। 'आँधी' के निर्माता जे० ओमप्रकाश भी गुलज़ार द्वारा कई ऐसे कार्यों का श्रेय स्वयं लिये जाने से प्रसन्न नहीं थे। उनका कहना था कि यदि कमलेश्वर साहब की तरफ़ से एक हल्का–सा भी इशारा इस बाबत मुझे मिला होता, तो मैं यह नाइन्साफी कभी नहीं होने देता। वो 'रिटैन एण्ड डायरेक्टेड' वाले जुम्ले से भी इत्तफ़ाक़ नहीं रखते थे। जे० ओमप्रकाश का मानना है कि वास्तव में हॉलीवुड में इस तरह की परिपाटी है, जहाँ वाक़ई एक ही इन्सान जब कई क्षेत्रों में एक साथ काम करता है, तो उसका क्रेडिट वह खुद लेता है, पर हमारे यहाँ अलग–अलग काम के लिये कई लोग काम करते हैं, तो भला एक व्यक्ति कैसे सबका क्रेडिट ले सकता है। दरअसल एक फिल्म तैयार करने के लिए जिस पहली चीज़ की जरूरत होती है, वह कहानी है। इसी को केंद्र में रखकर दृश्यों और चरित्रों का ताना–बाना कुछ यूँ बुना जाता है, जिससे पूरी तौर पर समग्रता का बोध हो। इस प्रक्रिया में पटकथा एवं संवाद की अहमियत धूप और पानी जैसी है, जो कथानक में आवश्यक ऊष्मा तथा ज़रूरी शीतलता का समावेश करते हैं। सशक्त संवाद से सिनेमा की जीवंतता कुछ वैसी ही बढ़ जाती है, जैसे चाँद की रंगत पूर्णिमा के दिन नज़र आती है। कमलेश्वर की ख़ासियत यही थी कि वे किसी एक अकेले क्षेत्र में और कई क्षेत्रों में एक साथ भी, कार्यों को संपादित करने में इस क़दर सिद्धहस्त थे कि संपूर्णता से सहज ही रू–ब–रू करा देते थे। 'आँधी' और 'मौसम' हिन्दी सिनेमा के दो ऐसे नगीने हैं, जो कमलेश्वर की समग्र चेतना को संजोये सदैव उनकी उत्कृष्टता का एहसास कराते रहेंगे।

शक्ति सामंत निर्देशित 'अमानुष' (1975) पहली ऐसी फ़िल्म है, जिसके मूल हिन्दी संवाद ही बांग्ला वर्ज़न में जस के तस अनुवाद किये गये थे। 'अमानुष' के संवाद कमलेश्वर ने लिखे थे और वे इतने सुंदर बन पड़े थे कि उसमें किसी भी प्रकार के फेर–बदल की कहीं कोई गुंजाइश नहीं दिखी। अब तक जितनी भी फिल्में बांग्ला से हिन्दी में बनायी जाती थीं, वे ज्यों कि त्यों हिन्दी में परिवर्तित कर ली जाती थीं, पर कमलेश्वर की साहित्यिक कलम ने इसके उलट हिन्दी भाषा को गरिमामय स्थिति में लाकर खूबसूरत सम्मान से नवाज़ा है। उत्कृष्टता के इसी क्रम में, फिल्म 'पति, पत्नी और

वह' (1978) की कहानी के लिए कमलेश्वर को सर्वोत्तम कहानी का फ़िल्म फ़ेयर अवार्ड दिया गया। संजीव कुमार, विद्या सिन्हा की अदाकारी ने दर्शकों पर अच्छी छाप छोड़ी। व्यावसायिक सिनेमा में अब तक कमलेश्वर लोगों की पसंद के साथ–साथ सबकी ज़रूरत भी बन चुके थे। 'मि० नटवर लाल' (1979), 'साजन बिना सुहागन' (1978), 'राम बलराम' (1980), 'बरसात की एक रात' (1981), 'सौतन' (1983) ऐसी फिल्में हैं, जिन्होंने कमलेश्वर की क़लम के साथ व्यावसायिक सफलता के झंडे गाड़े। निर्माता–निर्देशक सावन कुमार तो कमलेश्वर के ऐसे मुरीद हो गये थे कि उन्हें अपनी हर फ़िल्म में स्थायी रूप से, बतौर पारिवारिक सदस्य के रूप में शामिल कर लिया था। बी०आर० चोपड़ा, शक्ति सामंत, रामानंद सागर और प्रकाश मेहरा के साथ कमलेश्वर ने अच्छा तालमेल बना लिया था। वहीं दूसरी तरफ़, कुछ अधूरी फ़िल्में ऐसी भी हैं, जिनकी कहानी और संवाद कमलेश्वर के छिपे तेज को संभवतः आगे कभी उजागर करें। राजकपूर ने 'नीली झील' नाम की फ़िल्म की तैयारी कमलेश्वर के साथ मिलकर की थी और कुछ इसी तर्ज़ पर लता मंगेशकर की 'एक अमर प्रेम कथा' भी ऐसी तस्वीर है, जो कमलेश्वर की कला को अब तक अभिव्यक्त नहीं कर पायी है।

आजकल फ़िल्मों के अगले पार्ट के रूप में पुरानी फ़िल्म की सफलता को भुनाने का चलन चल पड़ा है। इस तरह के कामों में वे सभी तरक़ीबें अपनायी गयीं, जिससे पैसा कमाने की संभावनाएँ नज़र आयीं। श्वेत–श्याम फ़िल्मों को रंगीन बनाने की शुरुआत 'मुग़ले आज़म' से हुई, जिसकी व्यावसायिक सफलता ने अन्य लोगों को भी इस नुस्खे को आज़माने की प्रेरणा दी। 'डॉन' फिल्म को दुबारा बनाये जाने के बाद अब 'शोले' तैयार थी–लोगों के बीच आने के लिए। इसी तरह, सफल फिल्म 'सरकार' के पार्ट टू की चर्चा भी जोरों पर रही है, मगर क्या आप जानते हैं कि इस परिपाटी की शुरूआत करने वाले कमलेश्वर थे। सत्तर के दशक में बी०आर० चोपड़ा की फ़िल्म 'पति, पत्नी और वह' बेहद पसंद की गयी। कमलेश्वर ने सुझाया कि इस फ़िल्म की कहानी इसके आगे अभी और भी है, जिस पर एक और फ़िल्म तैयार की जा सकती है। चोपड़ा को यह बात जँच गयी, लिहाज़ा 'पति, पत्नी और वह' का पार्ट टू तैयार करने का उन्होंने फ़ैसला कर लिया। ज़ाहिर था, इस फिल्म में संजीव कुमार और विद्या सिन्हा को ही दोहराया जाना था, पर बी०आर० और संजीव के बीच कुछ मतभेद पैदा हो जाने के काण फ़िल्म का काम आगे नहीं बढ़ पाया। बावजूद इसके, कमलेश्वर ने कहानी लिख ली थी और उसके संवाद–पटकथा को भी पूरा कर लिया था, जिस पर बाद में ऋशिकेश मुखर्जी ने 'रंग–बिरंगी' (1983) बनायी, जो काफ़ी पसंद की गयी। एक सुंदर सामाजिक फ़िल्म के तौर पर कमलेश्वर के नायाब संवादों के लिए सावन कुमार कृत 'साजन बिना सुहागन' (1978 का ज़िक्र भी यहाँ पर कर लेते हैं इस फ़िल्म में राजेन्द्र कुमार और नूतन ने यादगार भूमिका निभायी थी। टी०पी० जैन ने भी इस फ़िल्म में ख़ास भूमिका निभायी थी। उन्होंने बताया कि एक संवाद था, जिसमें कहा गया था कि .....'इस मंगलसूत्र से तुम्हारा क्या सूत्र जुड़ा है.....' इस पर राजेन्द्र कुमार ने इस डॉयलॉग के सूत्र शब्द पर आपत्ति की। फिर उन्हें जब बताया गया कि मंगलसूत्र के सूत्र से तारतम्य के रूप में दूसरे सूत्र का प्रयोग संबंध बताने के लिए किया गया है। बात उनकी फ़ौरन समझ में आ गयी और उन्होंने इस भाषा तथा कमलेश्वर के स्तरीय सोच की भूरि–भूरि प्रशंसा की। दरअसल, अब तक कि फिल्मों की परिपाटी में साहित्यिक हिन्दी को पचाना कभी भी सहज नहीं रहा, मगर कमलेश्वर जानते थे कि यहाँ पर कब–कितना डोज़ स्तरीय भाषा का देना है, लिहाज़ा धीरे–धीरे लोगों को इस भाषा–शैली के संवाद अच्छे तो लगने ही लगे साथ में लोग इसका लुत्फ़ भी उठाने लगे। हिन्दी फ़िल्मों का, हिन्दुस्तान के कोने–कोने में और तमाम दूसरे देशों में जिस प्रकार का दख़ल है, उसके परिप्रेक्ष्य में कथानक,

भाषा, संवाद और सार्थक सोच देना न सिर्फ़ आवश्यक था, बल्कि यह फ़िल्म से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक–सामाजिक ज़िम्मेदारी भी बनती थी कि जितना हो सके, समाज को अच्छी से अच्छी चीज़ें ही परोसें। कमलेश्वर ने न सिर्फ़ इस प्रक्रिया को शुरू किया, बल्कि अपने समय में इसे स्थापित भी किया। जिसका असर यह हुआ कि दूसरे लिखने वालों ने भी यह समझ लिया कि अब फ़िल्मों में अपने आप को खड़ा रखना है, तो कमलेश्वर से अच्छा नहीं तो कम से कम उनके स्तर का लिखना ही होगा। इस लिहाज़ से सत्तर और अस्सी के दशक में फ़िल्मों में बहुत कुछ अच्छा हुआ बावजूद इसके, कि गीत–संगीत का काव्य–सौंदर्य अपने बिखराव पर था। बी०आर चोपड़ा की 'द बर्निंग ट्रेन' (1980) का मूल तत्त्व उसका रोमांच था, जिसे चरम पर पहुँचाने में फिल्म के संवादों की अहम भूमिका थी, जो कमलेश्वर की क़लम से निकले थे। अपने इसी रोमांच और कौतूहल की वजह से यह फ़िल्म कई बार टी०वी० पर दिखायी जा चुकी है। आपको याद होगा कि इस फ़िल्म में ट्रेन में लगी आग के बारे में आम लोगों को रेडियो और टी०वी० के ज़रिये सूचित किया जाता है, जिसे फ़िल्म में अपनी आवाज़ से कमलेश्वर ने स्वयं निभाया है। वर्तमान राजनीतिक उठा–पटक और भ्रष्टाचार को लेकर मल्लिकार्जुन ने राजेश खन्ना के साथ एक फिल्म बनायी थी 'आज का एम०एल०ए०' (1984), जिसके नाम में लोगों की आपत्ति के बाद 'राम अवतार' जोड़ दिया गया था। इस फिल्म की जान इसके संवाद थे, जो कमलेश्वर ने इस ख़ूबी से लिखे थे कि सिनेमा हॉल में हर एक डायलॉग पर तालियों की ऐसी गड़गड़ाहट होती थी कि अगली पंक्ति सुनने में पूरी तल्लीनता बरतनी पड़ती थी। साहित्य के समांतर, अब सिनेमा में भी सफलता के परचम लहरा रही थी कमलेश्वर की क़लम और कमलेश्वर की पाठशाला में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से बड़ी संख्या में लोग शामिल हो चुके थे। राजकपूर, देव आनंद, दिलीप कुमार, बी०आर० चोपड़ा, ऋषिकेश मुखर्जी, शक्ति सामंत, बासु चटर्जी, प्रकाश मेहरा, गुलज़ार, दलाल गुहा, सावन कुमार, विजय आनंद, रवि चोपड़ा, रामानंद सागर, मनोज कुमार सरीखे लोग इसमें शामिल थे। यह एक शुभ संकेत था। फिल्म वालों को साहित्य का साथ भाने लगा था। कमलेश्वर की दृष्टि चूँकि काफ़ी प्रखर थी और वे अपनी नज़र बराबर लक्ष्य पर टिकाये रखने में ही यक़ीन करते थे, लिहाज़ा उन्होंने कभी इस बात की परवाह की ही नहीं कि कौन उनसे क्या लाभ उठा रहा है या उनकी चीज़ों को अपने नाम कर रहा है। उन्हें यह पता था कि अगर इन बातों में अपने आप को उलझा दिया गया, तो लक्ष्य तक का सफ़र अधूरा ही रह जाएगा और इसीलिए उन्होंने इन सब बातों पर अपना विरोध ज़रूर जताया, मगर कभी कोई बखेड़ा नहीं खड़ा किया।

1980 के समय, जब इंदिरा गाँधी दोबारा सत्ता में आयीं, तब उन्होंने दूरदर्शन के लिए तमाम साहित्यकारों–बुद्धिजीवियों के बीच में से कमलेश्वर को चुना। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी घटना थी। शासक और साहित्यकार मिलकर क्या कुछ नहीं कर सकते, इसे इतिहास को खँगाल कर आसानी से जाना जा सकता है। बहरहाल, कमलेश्वर दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक बनकर नयी दिल्ली आ गये और पूरी तरह से वहाँ के काम में रम गये। मुंबई से जाने के बाद उनका फ़िल्मों से नाता धीरे–धीरे टूटते–टूटते बिल्कुल ही ख़त्म हो गया। सिर्फ़ सावन कुमार ही ऐसे थे, जो एक अर्से तक कमलेश्वर से अपनी फ़िल्में लिखवाते रहे। कमलेश्वर जहाँ पर अपना काम छोड़कर आये थे, उसे सहेजने और आगे बढ़ाने के लिए दावेदार कई तैयार हो गये थे; पर साहित्यिक पृष्ठभूमि का कोई भी ऐसा व्यक्ति सामने नहीं आया, जिस पर फ़िल्मी तबक़ा भरोसा कर सकता था। कमलेश्वर लोगों को पसंद आने वाली चीज़ों में से अच्छी और बुरी चीज़ के बीच के बारीक़ फ़र्क़ को पहचानते थे। कड़वी दवा की जगह अगर आप मरीज़ को मीठी घुट्टी पिलाते रहे, तो

बेशक उसे मज़ा आयेगा, पर अंततः इससे उसे फ़ायदा तो नहीं मिल रहा होता, अलबत्ता नुक़सान ज़रूर होता है।

कमलेश्वर का मानना था कि फ़िल्मों में ख़ासतौर पर यह देखना आवश्यक है कि सस्ती लोकप्रियता के चक्कर में कहीं आप फ़िल्म के मूल संदेश को गौण तो नहीं बना रहे हैं। आज के संदर्भ में कमलेश्वर की ये बातें वाक़ई सत्य के बिल्कुल क़रीब हैं। लोगों की वाहवाही और उन्मुक्तता को विलासिता का जामा पहना कर जिस तरह से नयी पीढ़ी को मीठा ज़हर परोसा जा रहा है, उसे महज़ आइटम साँग का नाम देकर, फिल्म की ज़रूरत बता कर, कोई भला अपनी ज़िम्मेदारी से कैसे बच सकता है। कमलेश्वर की इस चिंता को यदि हल्केपन में लिया गया, तो वह दिन दूर नहीं जब हम उस चिता पर बैठे होंगे, जिसकी आग से बचने का कोई ज़रिया नहीं होगा।

साहित्य और सिनेमा को एक सहज सूत्र में पिरो कर कमलेश्वर ने जो उच्च मापदंड स्थापित किये है, उसकी डोर अभी भी बरकरार है।

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न वर्ग चेतना

–गीताग ौतम*

हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' का एक विशिष्ट स्थान है। इसका आविर्भाव द्विवेदी युगीन काव्यधारा की स्थूल बौधिकता, इतिवृत्तात्मक तथा कोरी नैतिकता के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। लेकिन यह भी सच है कि मात्र प्रतिक्रिया स्वरूप से ही इसका जन्म नहीं हुआ अपितु इसके पीछे सामाजिक एवं साहित्यिक कारण थे। वस्तुतः छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया, समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर प्रेरित किया।

"व्यक्तित्व की स्वाधीनता, विराट कल्पना, प्रकृति, साहचर्य, मानव प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देशभक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के जीवन से ऐतिहासिक कार्य किया। कविता के रूप विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिया।"[1] स्पष्ट है कि वह सामाजिक, साहित्यिक आवश्यकताओं की देन थी, जिसने मूल रूप में वैयक्तिक तथा अन्तर्मुखी चेतना से ओत–प्रोत होते हुए भी प्रारम्भिक क्षणों में बड़ी क्रान्तिकारी भूमिका अदा की। इसकी वैयक्तिक चेतना ने रूढ़िबद्ध सामंती सरकार के खिलाफ क्रांति की उद्घोषणा की तथा मानवता की मुक्ति के लिए सशक्त कदम उठाया। यह सत्य है कि इसमें व्यक्तिवादी, काल्पनिक तथा पलायनवादी भावनाओं की प्रधानता थी, लेकिन 'विधवां', 'तोड़ती पत्थर', 'जागो फिर एक बार', प्रलय की छाया', पैशोला की प्रतिध्वनि', तथा 'राम की शक्ति पूजा' आदि कविताओं की वस्तुगत यथार्थता को कदापि नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये कवितायें छायावाद युग की यथार्थ सामाजिक परम्परा से हिन्दी काव्य को मुक्त किया है।

वास्तविकता तो यह है कि भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन कविता के मूल में समष्टि–चिन्तन तथा समाज–मंगल की भावना थी, परन्तु छायावादियों ने व्यक्तिहित तथा व्यक्ति चिन्तन को प्रधानता दी तथा यही इस युग की मूल जीवन दृष्टि भी बनी। छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में सामाजिक परिस्थितियाँ में वर्ग भेद पर विचार करे तो आर्थिक तथा राजनीतिक रंगमंच पर होने वाले परिवर्तनों ने भारत की सामाजिक स्थिति को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज में अनेक वर्गों का आविर्भाव हुआ। जातिगत, वर्णगत, धर्मगत और अर्थगत

*यू0जी0सी0 नेट, टी0डी0 कालेज, जौनपुर (उ0प्र0)

वर्ग प्रमुख रहे हैं। लेकिन बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही विदेशी सत्ता से संघर्षरत भारतीय समाज अपने अन्य भेदभाव भूलकर केवल तीन वर्गों में बँटा था। ये वर्ग थे– निम्न वर्ग, मध्य वर्ग और उच्च वर्ग। ये हर जाति हर धर्म और हर वर्ण में उस काल में अपनी अस्मिता बनाये हुए थे। अतः जब सामाजिक चेतना की बात चलती है, तो हमें अन्य विभेदों से अलग हटकर केवल इन्हीं तीनों वर्गों को आधार बनाना चाहिए और उन्हीं के आधार पर तत्कालीन सामाजिक चेतना की संगतियों एवं विसंगतियों पर प्रकाश डालने की कोशिश जानी चाहिए। "इन्हीं तीनों वर्गो ने आजादी की लड़ाई में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। निम्न वर्ग ने तो अपनी समष्टिगत चेतना का प्रमाण अनेक अवसरों पर प्रस्तुत किया हैं उनके लिए देश हित स्वहित की अपेक्षा बड़ा और महत्त्वपूर्ण था। ठीक इसके विपरीत उच्च वर्ग के लिए देश और समाज व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध के साधन मात्र थे। स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने के मूल में भी उनके व्यैक्तिक स्वार्थ ही प्रमुख थे।"[2] मध्य वर्ग की स्थिति हमेशा ढुलमुल रही है। वह कभी तो स्वतंत्रता संग्राम में खुलकर शामिल हुआ उसका नेतृत्व किया, कष्ट सहकर पीड़ित होकर उसे आगे बढ़ाया तथा चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का कार्य तो कभी अपनी अन्दरूनी एवं व्यक्तिगत दुर्बलताओं को भी प्रकट किया तथा किसानों एवं मजदूरों के हितों की भी अपेक्षा की।

निम्न वर्ग–

किसान, श्रमिक, मजदूर आदि आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक पीड़ित रहा है। क्योंकि महाजन वर्ग के उदय के साथ ही किसानों के ऊपर दोहरी चोट पड़नी शुरू हो गयी थी। साहूकारों तथा कारिंदों ने मिलकर किसानों की स्थिति को पूरी तरह से तबाह कर डाला। इस प्रकार ब्रिटिश शासन के दौरान जो वर्ग सबसे अधिक पीड़ित हुआ वह था किसान। किसान के लिए कृषि ही जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान सरकार की आर्थिक नीति ने जो मोड़ लिया उसमें कृषक वर्ग का अपनी भूमि पर स्वामित्व समाप्त होता गया और जमींदार महाजन तथा पूँजीपति वर्ग उस पर हाबी होते चले गये। औद्योगिक व्यवस्था की स्थापना के साथ ही व्यापारिक नीति को बढ़ावा मिला और इन सब का परिणाम यह निकला कि धीरे–धीरे खाद्यान्नों का उत्पादन कम होता गया। फलस्वरूप अकाल के बादल मँडराने लगे और आर्थिक धुरी ही छिन्न–भिन्न होती चली गयी।

कृषक अपने जीवन–यापन एवं कृषि कार्य हेतु ऋण लेने के लिए बाध्य हुए। लेकिन ऋण चुकाने का उसके पास कोई जरिया नहीं था। स्थिति तो यह हो गई कि एक पुश्त का कर्ज कई पुश्तों तक बकाया रह जाता था। पुश्त दर पुश्त कृषक ऋण का ब्याज ही चुकाते रहते और निरंतर नये–नये ऋण लेने के लिए विवश होते। "ऋण चुकाने की असमर्थता के परिणामस्वरूप किसान खेतिहर मजदुर बना, शहरों को चला और अन्ततः मशीनी दुनिया की विभीषिका में ग्रसित होकर घुल गया।"[3] ऋण के ब्याज में अपनी समूची उपज देकर भूखों मरने के लिए विवश कृषक साहित्यकार की दृष्टि से बहुत दिन दूर नहीं रह पाया। किसानों की इस दुर्गति का प्रभाव एवं चित्रण तत्कालीन साहित्य, विशेषकर प्रगतिवादी काव्य में देखा जा सकता है। ऐसा नहीं था कि किसान वर्ग अपनी इस स्थिति से परिचित नहीं था। वह सब कुछ जानते हुए भी मजबूर था। लेकिन उसके मन में भी एक विक्षोभ की भावना हिलोरे मार रही थी। सन् 1917 के रूसी क्रांति के बाद किसान वर्ग में भी एक नयी चेतना जागी तथा उन्होंने अपने हितों के रक्षा हेतु संगठित होकर आन्दोलनों को भी जन्म दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय सरकार ने कृषक शोषण को दूर करने हेतु अनेक प्रभावशाली कदम उठाये। यद्यपि जमींदारी प्रथा के उन्मुलन ग्राम पंचायतों तथा अन्य सरकारी संस्थाओं एवं कृषि योजनाओं की स्थापना के

साथ ही उनकी स्थिति में कुछ तब्दीली अवश्य हुई लेकिन किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का संकेत नहीं प्राप्त हुआ। जमींदारी प्रथा का उन्मुलन अवश्य हुआ, लेकिन अब भी जमींदार किसी न किसी रूप में हर गाँव में थे। उनके शोषण में कमी भले आ गयी थी। वह पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ था। इस प्रकार किसानों की समस्या अब भी एक क्रांतिकारी समाधान की माँग कर रही थी। प्रगतिवादी कवियों ने इनकी समस्याओं को अपने काव्य के माध्यम से वाणी प्रदान की तथा उन्हें अपने काव्य के एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में भी अपनाया।

साम्राज्यवादियों के शोषण का दूसरा लक्ष्य श्रमिक वर्ग था किसान जमींदार और साहूकारों के शोषण का शिकार बना। जबकि श्रमिक वर्ग पूँजीपतियों के शोषण का विशेष शिकार हुआ। दोनों ही स्थिति लगभग एक ही जैसी थी। किसानों के समान श्रमिक पूँजीपतियों से ऋण लेता और ऋण न अदा कर पाने के कारण धीरे–धीरे गुलाम बनता जाता। लेकिन राजनीतिक सामाजिक परिवर्तनों से यह वर्ग भी प्रभावित हुआ और उनमें एक नयी चेतना जगी। परिणाम स्वरूप अनेक श्रमजीवी संगठनों की स्थापना की गयी। 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के स्थापना के साथ ही श्रमजीवी वर्ग साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों के खिलाफ एक जनशक्ति के रूप में उभरकर सामने आया, तथा अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयन्त किया। लेकिन औद्योगिक संस्थाओं के निरन्तर बढ़ोत्तरी एवं विकास के कारण श्रमिक और मजदूर वर्ग की संख्या दिनों–दिन बढ़ती ही गयी और उनकी दशा भी पूर्ववत नहीं रही। साथ ही आर्थिक तंगी सामाजिक हीनता और शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप वह समाज में उपेक्षित ही बना रहा। आजादी के पश्चात इस वर्ग की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयास किये गये जिससे उनकी स्थिति में कुछ सुधार भी हुआ। लेकिन किसानों की भाँति इनकी दशा में भी कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। आलोच्य युग में कवि की संवेदना किसानों के साथ ही साथ श्रमिक वर्ग के भी साथ रही है तथा वह उनकी कविता का प्रमुख पात्र भी बना।

मध्य वर्ग–

यह वर्ग हमारे समाज का सबसे बड़ा वर्ग है। इसके भी कई स्तर हैं यथा उच्च, मध्य वर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग। औद्योगिक विकास, शिक्षा के प्रसार निजी या सरकारी प्रतिष्ठानों की वृद्धि आदि के चलते इस वर्ग का उदय हुआ। "यह मध्य वर्ग किसानों तथा श्रमिकों की अपेक्षा थोड़ा बेहतर जीवन जीने का स्वप्न देखता है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध ने इस वर्ग को भी तोड़कर रख दिया है। महायुद्ध के पश्चात महंगाई और बेकारी का साम्राज्य छा गया था। मध्य वर्गीय जनमानस को बेहतर जीवन जीने की लालसा की पूर्ति हेतु इस दौरान अपनी पत्नियों के आभूषणों तथा पैतृक संपत्ति तक को बेचना या गिरवी रखना पड़ा। इस प्रकार इस समस्या ने उनके मानसिक ढाँचे को भी बदलने में अहम् भूमिका निभायी एक ओर वह अच्छे जीवन जीन की आकांक्षा करता तो दूसरी ओर उसे कदम–कदम पर असफलता ही मिलती जाती। फलस्वरूप वह पराजयवादी, पलायनवादी, निराशावादी एवं पूर्णतया भाग्यवादी होता चला गया। उसकी मनोवृत्ति धीरे–धीर अंतर्मुखी होती गयी एवं वह मानसिक रूप से रूग्ण होता चला गया।"[4]

एक बात और मध्यवर्ग के समक्ष एक सबसे बड़ी समस्या थी। अपने जीवन एवं समाज–जगत संस्कारों के पालन की और इन संस्कारों के पालन में उसे भारी खर्चें का बोझ वहन करना पड़ता था। इस प्रकार संस्कार पालन में होने वाले भारी खर्चे के बोझ को ढो पाने में असमर्थ होने के बावजूद इन्हें ढोते रहना जैसे उसकी नियति बन गयी। साथ ही वह उच्च वर्ग के रहन–सहन, आचार–विचार आदि से आकर्षित होकर उच्च वर्ग के निकट जाने की लालसा भी रखता था और

इस लालसा की पूर्ति हेतु वह भारी व्यय करता था। फलस्वरूप लालसापूर्ति में होने वाले विशाल व्यय के चलते वह अत्यधिक विपन्न होता चला गया। वह न तो उच्च वर्ग तक पहुँच पाया और न ही मध्य वर्ग में अपनी सुदृढ़ स्थिति बना पाया अपितु धीरे–धीरे निम्न वर्ग की श्रेणी की ओर चलता गया। इस प्रकार दिखावा बेहतर जीवन जीने की लालसा, उसमें होने वाली भारी आर्थिक क्षति लालसाओं की असफलता ने उसे नितान्त व्यक्तिवादी, पलायनवादी एवं क्षणवासी बना दिया। आलोच्य युग के कवियों ने इस मध्य वर्ग की स्थिति को समझते हुए उसे अपने काव्य विषय के रूप में अपनाया। वास्तुतः मध्य वर्ग की कमजोरियों का उद्घाटन उसकी दुरावस्था का चित्रण, उसमें नयी कवितायें एवं नयी कविताओं की कवितायें मध्य वर्ग के चित्रण से भरी पड़ी है।

उच्च वर्ग–

उच्च वर्ग के अन्तर्गत पूँजीपति एवं जमींदार मुख्य हैं। आजादी के पूर्व जमींदार ही सबसे बड़ा शोषक था। लेकिन जब ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक व्यवस्था कायम की तो एक नये शोषक पूँजीपति का उदय हुआ। वस्तुतः ब्रिटिश शासन की पूँजीवादी आर्थिक नीति के ही चलते पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। तात्पर्य यह कि भारतीय समाज में जमींदार वर्ग तो पहले से ही था लेकिन पूँजीपतियों को जन्म अंग्रेजों ने दिया और इसी के साथ ये दोनों पूँजीपति और जमींदार शोषण के दो पहिये बने। लेकिन बाद में चलकर धीरे–धीरे जमींदार भी कमजोर होते गये और पूँजीपतियों का वर्चस्व हुआ। यद्यपि किसानों का सबसे बड़ा शोषक जमींदार वर्ग था, फिर भूमि पर किसानों का स्वामित्व था। लेकिन ब्रिटिश शासन में परम्परागत जमींदारी व्यवस्था का रूप परिवर्तित हुआ और धीरे धीरे किसानों की भूमि पर जमींदारों का वर्चस्व होता गया। इस प्रकार जमीदार वर्ग ने एक बहुत बड़े शोषक का रूप धारण कर लिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक तो इस जमींदार वर्ग ने किसानों की स्थिति को पूरी तरह से बरबाद कर दिया था। आजादी के बाद कृषक वर्ग के शोषण में कमी तब आयी जब जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

जमींदारों के बाद दूसरा शोषक पूँजीपति रहा, जो आज तक अपनी सत्ता बरकरार रखे हुए हैं। साहूकार और महाजन वर्ग भी इन्हीं पूँजीपतियों के एक अंग स्वरूप थे। साहूकारों तथा महाजनों के द्वारा शोषण छोटे स्तर पर सूद या ब्याज के माध्यम से होता था। जबकि पूँजीपतियों का शोषण व्यापक स्तर पर होता था। इस वर्ग के शोषण का ढंग जमींदारों से भिन्न रहा है। क्योंकि जमींदार श्रम से अर्जित सम्पत्ति के शोषण के साथ ही साथ शारीरिक यातनायें भी दिया करता था, जबकि पूँजीपति वर्ग श्रम से अर्जित पूँजी का ही शोषण करता था। कहना न होगा कि धीरे–धीरे भारतीय समाज में यही पूँजीपति वर्ग आजाद देश की समस्त पूँजी का स्वामी बन बैठे। पूँजीपतियों का यही शोषण आजादी के पूर्व ही नहीं होता था अपितु आजादी के बाद भी इनकी सत्ता कायम रही। यह बात दूसरी है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय औद्योगिक व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हुआ तथा शोषक और शोषित वर्ग की कटुता की समाप्ति हेतु अनेक राजकीय एवं सरकारी योजनायें कार्यन्वित हुई, जिसके माध्यम से शोषण में काफी कमी आयी, लेकिन उसका सत्ता आज तक किसी न किसी रूप में बनी हुई है। वस्तुतः आजाद भारत में इस उच्च वर्ग का मात्र स्वरूप परिवर्तित हुआ है। अधिकारियों एवं नेताओं तथा विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मालिकों के रूप में यह उच्च वर्ग कायम है तथा वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु समाज के निम्न तथा मध्य तबके के लोगों के शोषण में जुटा हुआ है। इस प्रकार शोषक एवं शोषित वर्ग की विषम स्थिति जो आजादी के पूर्व थी, वही आजादी के पश्चात् भी बनी रही। केवल उसके स्वरूप में ही परिवर्तन हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने जहाँ एक ओर साम्राज्यवादी–पूँजीवादी, समाजवादी समाज व्यवस्था और समाज की पुरातन रूढ़ नैतिकताओं एवं माध्यताओं के खिलाफ अपनी ओजस्वी एवं प्रखर वाणी मुखरित की है तथा उसके ध्वंस की आकांक्षा व्यक्त की है। वहीं दूसरी ओर इन व्यवस्थाओं के विनाश के पश्चात नये समाजवादी ढाँचे पर आधारित कल्याणकारी नव समाज के निर्माण की भी अपनी इच्छा जाहिर की शोषक एवं आतंकवादी शक्तियों के ध्वंस तथा उसके ऊपर नये समाज–सृजन की आकांक्षा से आलोच्य युग का काव्य भरा पड़ा है। स्पष्ट है कि आलोच्य युग का कवि प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति के प्रति उन्मुख होकर उसी के बीच वर्तमान समस्याओं के समाधान स्रोत खोजता है मानव महत्ता की स्थापना करता है शोषितों का पक्ष लेता है तथा नये समाज के निर्माण का प्रयास करता है। कहा जा सकता है कि आलोच्य युग का कवि समस्त रूढ़ियों जड़ परम्पराओं एवं स्तब्ध मानसिकता से मुक्त होकर सब कुछ को मानवता के मानदण्ड से देखता और परखता है।

संदर्भ

1. नामवर सिंह – छायावाद, पृ0 154
2. शिव कुमार मिश्रा – नया हिन्दी काव्य, पृ0 28
3. वही,
4. डॉ0 कौशलनाथ उपाध्याय–छायावादोत्तर हिन्दी काव्य बदलते मानदण्ड एवं स्वरूप, पृ0 77

हिन्दी

डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि

–डॉ० जितेन्द्रकुमार सिंह*

हिन्दी समीक्षा के इतिहास में डॉ. रामविलास शर्मा का योगदान एक 'प्रगतिवादी समीक्षक' के रूप में किया जाता है। इनके आलोचना का क्षेत्र केवल विषय की दृष्टि से नहीं महत्त्वपूर्ण बल्कि कार्य की दृष्टि से भी अत्यधिक विस्तृत है। इन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य, भाषा विज्ञान, इतिहास, मार्क्सवाद उपनिवेशवाद, समाजशास्त्र और दर्शन जैसे–विषयों पर अपनी पैनी दृष्टि डाली है। इनकी आलोचना का काल भी 1938 से प्रारम्भ होकर 2000 ई. तक कुल 62 वर्षों में विस्तृत है। उन्हें आलोचकों में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उपन्यासकारों में 'प्रेमचन्द तथा कवियों में 'निराला सर्वाधिक प्रिय है तथा इन्हीं पर लिखी इनकी तीन चर्चित पुस्तकें–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना 'प्रेमचन्द' और निराला की साहित्य साधना (तीन भागों) में उनकी आलोचना की विशिष्ट उपलब्धि है।

डॉ. रामविलास शर्मा' मूलतः एक मार्क्सवादी रचनाकार है। अपने सर्जनात्मक विवेक से मार्क्सवाद का एक प्रगतिशील संस्करण तैयार किया है। उन्होंने अपनी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' में स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार लेनिन आदि दार्शनिकों ने मार्क्सवाद को परिस्थितियों के अनुकुल बनाया है वैसे ही भारत की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मार्क्सवाद के आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

''सन 1925 ई. में भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी की स्थापना हुई। पार्टी के गठन के पूर्व ही देश में श्रमिक वर्ग का एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय हो चुका था। 1920 ई. में मजदूरों को आखिल भारतीय संगठन 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का निर्माण हुआ। किसानों की छिटपुट संगठनों को परिणाम स्वरूप 1936 ई. में अखिल भारतीय किसान सभा के रूप में हुई 1930 ई. के बाद का काल वह काल था जबकि भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के रूप में एक गुणात्मक परिवर्तन आरम्भ हुआ।''[1]

इस दौर में हिन्दी जगत के जिन साहित्यकारों ने मध्यवर्ग की विचारधारा को त्यागकर मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी दर्शन मार्क्सवाद को स्वीकारा, उनमें डॉ. रामविलास शर्मा अग्रणी ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रगतिशील आलोचना को डॉ. शर्मा ने वैज्ञानिक ढ़ंग से विकसित किया। डॉ. शर्मा न केवल मार्क्सवाद में संशोधन की बात कहते हैं बल्कि करके भी दिखाते हैं। वे सिद्ध करते है कि कि मार्क्स द्वारा विश्लेषित औधोगिक पूँजीवाद चाहे इग्लैण्ड में आया हो किन्तु एक और प्रकार सौदागरी पूँजीवाद 12 वी–13वीं शताब्दी में ही आ चुका था। मार्क्स ने उत्पादित प्रणाली का आधार रचना तथा शेष सामाजिक पक्षों को 'अधिरचना' माना था तथा आधार रचना में परिवर्तन से अधिरचना की स्थिति को माना था, डॉ. रामविलास शर्मा कहते है कि यह बात सौ फीसदी सत्य नहीं है

*सहायक प्राध्यापक, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीयविश्वविद्यालय, अमरकण्टक (म.प्र.)

क्योंकि पुरानी अधिरचना के तत्व लिए बिना नई अधिरचना नही बन सकती । वे आर्थिक कारणों के साथ–साथ सामाजिक कारणों को महत्व देते हैं। क्रान्ति में मजदूरों के साथ किसानों को महत्व देते हैं तथा इस प्रकार मार्क्सवाद का एक नयी दिशा प्रदान करते है।

डॉ. शर्मा ने अपने निबन्धों में 'कला सौन्दर्य और साहित्य' के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। डॉ. शर्मा अपने व्यावहारिक समीक्षाओं में उनके सापेक्ष आचरण करते हुए साहित्यकारों एवं कवियों की समीक्षा की है। साहित्य के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यताएँ या तो मौलिक हैं या सामान्य प्रगतिवादियों से अलग। प्रथम दृष्टिया में वे 'सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबन्ध में सौन्दर्य को केवल विषय या व्यक्ति में नियत करने के स्थान पर दोनों की अंतः क्रिया के रूप में देखते हैं। साहित्य को वे अर्थव्यवस्था, भाषा, समाज, भूगोल से बनने वाली जातीय मानसिकता से जोड़कर देखते हैं।

निराला की महानता को स्पष्ट करते हुए उनकी जन्मजात प्रतिभा स्वीकार करते हैं और प्रगतिशील आन्दोलन में प्रेम की संभावना को घोषित रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं– ''प्रेम और प्रगतिशील विचारधारा में कोई आंतरिक विरोध नहीं लेकिन स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होने वाले क्रांतिकारी यह समझते आये थे कि क्रांति और ब्रह्मचर्य का अटूट सम्बन्ध है जैसे आजकल के बहुत से कवि और कहानीकार समझते है कि आधुनिकता बोध का अटूट सम्बन्ध परकीया प्रेम से है।'' डॉ. शर्मा उस समीक्षा को महत्व देते हैं जो वस्तुवादी चिन्तन पर आधारित हो, जिसमे द्वन्द्वात्मक पद्धति का सहारा लेकर विषय–वस्तु का विश्लेषण किया गया हो ।

डॉ. शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना के सन्दर्भ में वे लिखते है कि ......शुक्ल जी की आलोचना गम्भीर है, इसलिए कि उसका आधार वस्तुवादी है। शुक्ल जी की गम्भीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क चिन्तन पद्धति हैं। इस पद्धति को हम द्वन्द्वनाम दे तो अनुचित न होगा। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामजस्य उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं।[2]

यहाँ स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा के मन में आदर्श समीक्षा का जो रूप दिखाई देता है वह बहुत कुछ आचार्य, रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा में मूर्त हैं,डॉ. शर्मा ने विस्तृत समीक्षा में राष्ट्रीय और जनवादी स्वर का अंकन स्पष्ट रूप से किया ही उन्होंने भारतेन्दु और उनके युग के साहित्यकारों–प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास तथा बदरी नाराणय चौधरी 'प्रेमधन, द्वारा रचित साहित्य की प्रशंसा करते हैं।

भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में भारतेन्दु के योगदान की सराहना विशेष रूप से डॉ. शर्मा ने की है'। डॉ. शर्मा ने बताया है कि भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय और जनवादी तत्वों की स्थापना की है। भारतेन्दु ने ब्रिटिश हुकूमत के शोषणवादी नीति का पर्दाफाश किया और अपनी रचनाओं में इस कुवृत्ति से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने मानवता वाद की स्थापना व स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन किया है तथा इतिहास और संस्कृति से प्रेरणा लेकर जनता के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया।

डॉ. शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी विशेश महत्व दिया है।– वे मानते थे कि द्विवेदी जी पुरानी व्यवस्थाओं को बदलकर उसमें नवीनता का संचार किया है। वे देश के औद्योगिक विकास को महत्व देते थे। द्विवेदी जी हिन्दी भाषी प्रदेश के नवजारण के अग्रदूत थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से भारतीय नवजागरण का बिगुल फूँका। जिसका स्वर सन् 1857 की क्रान्ति में फूटा था। और भारतेन्दु ने मुक्त कण्ठ से इसे समर्थन प्रदान किया था ।

डॉ. शर्मा ने यहाँ स्पष्ट किया ही कि वे स्मृतियों की व्यवस्थाओं को देश काल के सापेक्ष मानते थे और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में वृहस्पति और चार्वाक की विवेकवादी परम्परा पर मुग्ध थे। डॉ.शर्मा ने यहाँ स्पष्ट किया है कि ''साहित्य में जो रीति–विरोधि क्रान्ति से शुरू हुई, उसका पहला चरण है द्विवेदी युग और उसी का विकास छायावाद और प्रगतिवाद में होता है। ये तीनों युग एक दूसरे से भिन्न है, साथ ही एक दूसरे के पूरक भी है। द्विवेदी युग की भूमिका आधुनिक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करने वाले अग्रदल की भूमिका है।''[3]

डॉ. शर्मा ने उन रचनाकारों के महत्व की स्थापना की जो किसी न किसी रूप में साहित्य की जनवादी परम्परा से जुड़े हुए थे। ऐसे रचनाकारों में प्रेमचन्द का नाम अग्रगण्य है। उनके 'सेवासदन' को डॉ.शर्मा ने भारतीय नारी की पराधीनता का पर्दाफाश करने वाला उपन्यास, तो गोदान की ग्रामीण और शहरी कथाओं को मेहनत की दुनियां और मुनाफ की दुनियां में अन्तर बताया। उन्हीं की वैज्ञानिक आलोचना दृष्टि का परिणाम था कि उस समय के द्वितीय श्रेणी के रचनाकार समझे जा रहे प्रेमचन्द प्रथम श्रेणी के साहित्यकार के रूप में स्थापित हो गये। प्रेमचन्द की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए डॉ.शर्मा ने लिखा है। ''प्रेमचन्द की आवाज सुनकर हमें अपने देश और जनता पर गर्व होता है, उस जातीय संस्कृति पर गर्व होता है, जिसे प्रेमचन्द सँवार रहे थे। प्रेमचन्द की आवाज उस समय उठी थी जब पहले महायुद्ध में मानवध्वंसी तोपों की गड़गड़ाहट हवा में गूँज रही थी । आज भी जब विश्व पर तीसरे महायुद्ध के बादल छाये हुए हैं उस स्वाधीनता–संग्राम के सैनिक की वाणी विश्व शान्ति की रक्षा के लिए जनता का आह्वाहन करती है। प्रेमचन्द आज भी हमारे साथ है।[4]

डॉ.शर्मा की आलोचना का चरमबिन्दु 'निराला की साहित्य साधना'(तीन भागों)में है। जो कि वस्तुतः रामविलास शर्मा की ही साहित्य साधना है, इस रचना के पहले खण्ड में उन्होंने निराला के व्यक्तिव तथा उनकी निर्माणक परिस्थितियों की समीक्षा की है। यह हिन्दी समीक्षा का वह दुलर्भ बिन्दु है, जहाँ व्यक्तित्व और कृतित्व अलग–अलग न रहकर एक दूसरे में घुल–मिल गए हैं। 'निराला हिन्दी में प्रायः शक्ति, ऊर्जा तथा ओज के रचनाकार माने गए है, किन्तु डॉ. शर्मा ने उनके साहित्य का गहरा विश्लेषण करते हुए करूणा को उसके मूल भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा उन्हें पश्चिम की महान त्रासदी लेखन की परम्परा से जोड़ा । ट्रेजिक सेंस की दृष्टि से वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसी से और समग्रता की दृष्टि से टैगोर, तुलसी और सूर से निराला की तुलना और मूल्यांकन किया है।

निराला के कवि व्यक्तित्व की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए डॉ. शर्मा ने कहा है–''निराला की रचना–प्रक्रिया का स्रोत है उनका भावबोध। यह भावबोध उनकी विचारधारा से सम्बद्ध है। किन्तु उसका प्रतिबिम्ब नहीं है। निराला का स्वाधिनता–प्रेम उनके साहित्य में अप्रत्यासित नये–नये रूपों में व्यक्त होता है। उनकी आस्था के प्रतीक अनेक है, उनका अधिष्ठान एक है। उनकी दार्शनिक मान्यताएँ अनेक अन्तर्विरोध को पार करती हुई नारी और प्रकृति के मोहक चित्रों के साथ साहित्य में व्यक्त होती हैं। नए मानवतावाद के प्रतिष्ठापक निराला के साहित्य में मनुष्य वीर,क्राान्ति कारी योद्धा, कवि, निरन्तर सघर्षशील साथ ही अन्तर्द्वन्द्वग्लानि और पराजय से पीड़ित साधारण मनुष्य भी हैं, निराला सौन्दर्य और उल्लास के कवि हैं, दुःख और मृत्यु के भी ।''[5]

डॉ. शर्मा ने निराला के बाद अज्ञेय शमशेर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल का प्रयोगशील कविता से प्रेम न होते हुए भी मार्मिक विश्लेषण किया है, डॉ.शर्मा ने मुक्तिबोध के काव्य का विस्तृत मूल्यांकन करते हुए उसके अन्तर्विरोध को पहचाना है। उनकी दृष्टि में 'मुक्तिबोध का काव्य आत्मसंघर्ष का काव्य है। वे कहते हैं– ''उनके आत्म संघर्ष के अनेक स्तर हैं। एक स्तर

है—मन के दुःस्वप्नों—पाप—बोध, मृत्यु—चिन्तन, असामान्य मानसिक स्थिति से निकलकर स्वयं को और संसार को वस्तुगत रूप से देखने का, तीसरा स्तर है अपनी काव्य कला को निरन्तर विकसित करने का।''[6]

डॉ. शर्मा के अनुसार मुक्तिबोध के साथ में अस्तित्ववाद का 'लघुमानव' और रहस्यवाद का विराट पुरूष भी । शमशेर के सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का निश्चित मत है कि उनका काव्य रीतिवादी रूमानी सौन्दर्यबोध और मार्क्सवादी विवेक के द्वन्द्व का काव्य है।

डॉ. शर्मा ने नयी कविता के संदर्भ में जन कवि नागार्जुन की काव्यकला का भी मूल्यांकन किया है। डॉ. शर्मा की दृष्टि में नागार्जुन का काव्य इसलिए प्रासंगिक है कि उसमें दृढ़ क्रान्ति की भावना विद्यमान है। वह लोक संस्कृति के निकट है। उनमें राजनीतिक चेतना का तीव्र स्वर व्याप्त है। उनके काव्य यथार्थ जीवन का चित्रण हुआ है और रहस्यवाद और यथार्थवाद का लेकर कोई द्वन्द्व नही है। समग्र रूप में आलोचना दृष्टि के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विस्तार और गहराई की दृष्टि से वे अद्वितीय है तथा अपने मौलिक चिन्तन तथा लोकबद्ध मान्यताओं के कारण प्रगतिशील समीक्षा के संस्थापक के रूप स्थापित होते है।

संदर्भ

1. हिन्दी आलोचना का विकासः नन्द किशोर नवल, पृ.—217,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : रामविलास शर्मा,पृ0—222
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजारणः रामविलास शर्मा, पृष्ठ—277 राजकमल प्रकाशन—2010
4. प्रेमचन्द और उनका युगः रामविलास शर्मा, पृष्ठ—158
5. निराला की साहित्य साधना(भूमिका भाग—2) डॉ. रामविलास शर्मा,
6. 'नयी कविता और अस्तित्ववादः डॉ. रामविलास शर्मा—पृ. 231

हिन्दी

स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास

–फिरोजअ ालम*

आज स्त्री–मुक्ति को लेकर चारों ओर विचार विमर्श हो रहा है परन्तु वास्तव में क्या यह प्रयास सफलता की ओर बढ़ रहा है? प्रश्न यह है कि क्या स्त्रियों के प्रति पुरुषों की मानसिकता में कोई परिवर्तन आया है? तो उत्तर स्पष्ट है कि अपेक्षानुरूप परिवर्तन नहीं हुआ है लेकिन प्रयास फिर भी जारी है। स्त्री–मुक्ति को लेकर आज लगभग पूरी दुनिया का समाज जागरूक है स्त्री मुक्ति का प्रश्न तब उठता है जब नारी के भीतर भी जागरूकता उत्पन्न होती है। हमारा समाज पुरुष सत्तात्मक समाज है पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की भूमिका मात्र कर्तव्य तक ही सीमित करदी जाती है उनके अधिकारों की बात नहीं की जाती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि स्त्रियों को उनके अधिकार भी दिए जाय। स्त्री–मुक्ति का प्रश्न एक बहुत गम्भीर और उलझा हुआ प्रश्न है।

स्त्री– एक दूसरे के पूरक होते हैं। इसीलिए ईश्वर की भी परिकल्पना अर्द्धनारीश्वर के रुप में की गई है। नारी रूप की कल्पना न किए जाने पर ईश्वर को भी अपूर्ण माना गया है। चिरन्तन काल से नारी अपने स्नेह, उदारता, त्याग, ममता आदि उदात्त गुणों के अमृत से जीवन को अभिसिंचित करती आयी है, फिर भी वह पुरुषों द्वारा समाज में सदैव उपेक्षित तथा शोषित रहीं हैं। शक्ति के सृजनात्मक रूपों का प्रतीक नारी है फिर भी नारी को अबला ही कहा जाता है। चिरकाल से ममता, वात्सल्य, त्याग तथा करूणा इत्यादि गुणों को अपने जीवन का आदर्श मानकर चलने वाली नारी पुरुष पर आश्रित होकर रह गई।

वर्तमान युग में जब सब ओर स्वतंत्रता की आकांक्षा जागृत हुई तो नारी हृदय भी स्वतंत्रता के लिए छटपटाने लगा। नारी पुरातन मान्यताओं, रूढ़ियों के बंधनों को तोड़कर अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्न करने लगी।

भारतीय नारी ने अपनी अस्मिता के लिए तथा समाज में अपना स्थान बनाने के लिए बहुत संघर्ष किया। 'ब्रह्म समाज', 'आर्य समाज', इण्डियन नेशनल कांग्रेस, इत्यादि संस्थाओं ने नारी विषयक सामाजिक कुरूतियों को दूर करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

नारी मुक्ति आंदोलन ने नारी की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों को सुधारने तथा पुरुष के समान अधिकारों को पाने के मुद्दों को उठाया और बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त की। नारी जीवन के विकास के लिए उसे स्वतंत्रता प्रदान करना आवश्यक है। उसके बिना स्त्री का भौतिक, वैचारिक तथा आत्मिक विकास असंभव है आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ उसे मालूम हो। अधिकारों का अनुचित प्रयोग या धर्म तथा मर्यादा को विच्छेद करने का प्रयास नारी स्वतंत्रता नहीं है। नारी–स्वतंत्रता का अर्थ नारी धर्म का पालन करते हुए के समान अधिकारों को प्राप्त कर उसका उपभोग

*शोधछात्र, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0)

करना व अपनी उचित आकांक्षाओं को साकार करते हुए समाज में अपने विशिष्ट अस्तित्व को बनाना है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र में 19 वीं सदी के अंतिम दशकों में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए विशेष प्रयास शुरू किए गए। 20 वीं शदी तक आते–आते स्त्री आंदोलन ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया। पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से स्त्री विमर्श का आरम्भ हुआ साहित्यकारों ने भी इस संवेदनशील मुद्दे पर चिन्ता व्यक्त करना आरम्भ किया और इस विषय को अपनी रचना का आधार बनाया और नारी को समाज में उसकी पहचान बनाने के लिए तथा उसकी स्वतंत्रता की पुरजोर वकालत करते हुए अपने रचनाओं को आधार बनाया। विष्णु प्रभाकर का 'अर्द्धनारीश्वर' ऐसा ही उपन्यास है जिसमें स्त्री स्वतंत्रता और अस्मिता की पुरज़ोर वकालत की गयी है।

विष्णु प्रभाकर ऐसे रचनाकर हैं जो 'नारी मुक्ति' के समर्थक हैं। उनका मानना है कि हमारा समाज युगों–युगों से नारी पर अत्याचार करता आया है। विष्णु प्रभाकर नारी की बंधन, मुक्ति और स्त्री–पुरुष समानता की बात करते हैं। जब तक स्त्री स्वतन्त्र नहीं होगी तब तक वह के समान अपने अधिकारों की बात नहीं कर सकती। इसीलिए विष्णु प्रभाकर अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री को एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करके उसे सशक्त बनाना चाहते हैं।

'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास को सामाजिकता के विभिन्न संदर्भों में रखकर उसका विश्लेषण किया जा सकता है। चाहे वो धार्मिक उन्माद हो नारी की दशा हो मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण हो, या रूढ़िवाद और परम्परावाद। इन्हीं सामाजिक संदर्भों को व्यंजित करते हुए विष्णु प्रभाकर जी का उपन्यास लोकप्रिय हुआ। विष्णु प्रभाकर ने अपने उपन्यासों में नारी के प्रति सर्वाधिक संवेदना व्यक्त की है। परम्परागत मानसिक दासता ने नारी को ऐसी मोम की गुड़िया बनाकर रख दिया है कि आज वह किसी अवांछनीय दबाव का भी विरोध नहीं कर पाती। विष्णु प्रभाकर नारी के प्रति इस दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। वे नारी को सबल बनाना चाहते हैं।

भारतीय समाज सन् 1946–50 तक अनेक अन्तः एवं बाह्य विरोधों से गुजरा। इसमें सभी को नुकसान उठाना पड़ा लेकिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नारी ही इस चक्की में ज्यादा पिसी। सम्प्रदायिकता के नाम पर हो या जाति–पाति के नाम पर हो सभी जगह अबला नारी को ही अपने हवस का शिकार बनाया जाता है। विष्णु प्रभाकर के उपन्यास की मूल चेतना नारी ही है। विष्णु प्रभाकर ने स्त्री जीवन की अनेक समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाया। प्रेमविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, वेश्या समस्या, आदि का चित्रण तो मार्मिक ढंग से किया ही है उसके साथ ही स्त्री शिक्षा और उनके मान सम्मान को पुनःस्थापित करने का भी प्रयत्न किया।

'अर्द्धनारीश्वर' साहित्य अकादमी से सम्मानित प्रमुख उपन्यास है जो 1992 ई0 में प्रकाशित हुआ। 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास में विष्णु प्रभाकर जी ने नारी अस्मिता को बचाने के लिए संघर्ष करते हुए समाज का चित्रण किया है। इस उपन्यास में विष्णु प्रभाकर जी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि स्त्रियाँ स्वयं ही संगठित होकर अपने मान–सम्मान की रक्षा करना चाहती हैं। इस उपन्यास में विष्णु प्रभाकर जी ने बलात्कार की समस्या को केन्द्र में रखकर स्त्री की मुक्ति के प्रश्न को उठाते हुए कई समाजिक समस्याओं को उठाया है। न सिर्फ समस्या को उठाया है बल्कि समस्या का समाधान करने का भी प्रयत्न किया है।

इस उपन्यास में लेखक उस पूरे समाज, पूरे माहौल, पूरी मानसिकता पर प्रहार करता है जो नारी को भोग्या समझता है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज ही प्रमुख है। यह उपन्यास समस्या प्रधान होते हुए भी समस्याओं से कम, समाजिक बुराईयों से ज्यादा साक्षात्कार कराता है स्त्री मुक्ति को लेकर लिखा गया यह एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास दिखाई देता है और यही

इस उपन्यास की मुख्य विशेषता भी है।

आज जिस तरह अपने देश में और अनेक दूसरे देशों में भी स्त्रियों पर खुले आम अत्याचार हो रहे हैं वह समस्त मनुष्य जाति के लिए चिन्ता का विषय है। बलात्कार की घटना आम बात हो गई है। किन्तु एक सजग रचनाकार समाज चिंतक यह कोशिश करता है कि साधारण व्यक्ति के मन में इस बुराई के खिलाफ जागृति पैदा करे और यही काम 'अर्द्धनारीश्वर' में विष्णु प्रभाकर जी ने किया। इस उपन्यास में लेखक नारी विषयक प्रश्नों से पाठकों का पूर्ण, साक्षात्कार कराना चाहता है। केन्द्रिय पात्र सुमिता, विभा, वर्तिका, राजकली, श्यामला, शालिनी, शाहिदा, रमा, किरण आदि पात्रों की कहानियों के माध्यम से बलात्कार पीड़ित स्त्री की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याओं तथा स्त्री पुरुष सम्बन्धों की जटिलता का अंकन किया गया है। इसके साथ ही 'अर्द्धनारीश्वर' में परम्परागत नारी संहिता से परिचालित सम्पूर्ण नारी नियति का विश्लेषण करने का भी प्रयास किया गया है।

उपन्यास में लेखक ने नारी के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त की है। यह संवेदना समाज में उसके प्रति सोच को बदलने का प्रयास है। बलात्कार पीड़ित स्त्री शारीरिक और मानसिक पीड़ा को झेलती है। उसे सहानुभूति और अपनत्व की जरूरत होती है परन्तु समाज और परिवार उसे ही दोषी मान कर कटघरे में खड़ा करती है। इससे मुक्ति तभी संभव है जब स्त्री और दोनों समान सहभागिता को प्राप्त करें दोनों एक–दूसरे को अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ स्वीकार करें।

उपन्यास की कथा बलात्कार की घटना को लेकर ही शुरू होती है सुमिता अपने पति अजित और ननद विभा के साथ रात के शो वाली सिनेमा देखने जाती है शो खत्म होने पर वापस जाने के लिए अपना स्कूटर देखते है तो उसमें गड़बड़ी नजर आती है। अजित को शक होता है कि शायद ये किसी की साजिश है। वहीं पर कुछ युवक आते हैं और स्कूटर को ठीक करने की बात कहकर अपने वहशीपन पर उतर आते हैं वे युवक सुमिता और विभा दोनों में से किसी एक स्त्री की मांग करते हैं। अजीत कशमकश में पड़ जाता है कि वो क्या करे तभी सुमिता अपनी ननद को गुंडों के बलात्कार से बचाने के लिए खुद को समर्पित कर देती है। पति और ससुर उसे पूर्ण सम्मान और अपनत्व देते हैं फिर भी सुमिता के लिए अपने पाप–बोध से मुक्ति पाना असम्भव हो जाता है। सुमिता का त्याग कभी–कभी उसके पति अजीत को भी संदेह में डालता है और वो सोचता है कि–''क्या यह सम्भावना नहीं कि रतिक्रिया में वह मुझसे संतुष्ट नहीं हो सकी पर परम्परागत मूल्यों के कारण हिन्दू नारी के नाते उसने इस बात की शिकायत नहीं की और उस दिन अनायास ही यह कारण बन गया हो, उसकी अपनी इच्छा से उनके साथ जाने का''[1] सुमिता को सबसे ज्यादा यह बात खटकती है कि अपनी सतीत्व को जिस ननद के लिए लुटाया था, वह भी उसे समझ नहीं पायी। यह हादसा परिवार में आपसी सम्बन्धों में गांठ डाल देता है। अंत में सुमिता ही अपने पति व ससुर के सहयोग से अपने अंतः बाह्य संघर्ष के बाद इस गाँठ को खोलकर मुक्ति का रास्ता खोज निकालती है। इसमें सुमिता का साथ वर्तिका देती है जो खुद भी समाज की थोथी नैतिकता का शिकार है। अजित और सुमिता के रिश्ते में कड़वाहट बहुत बढ़ जाती है। दोनों साथ तो रहते है परन्तु अविश्वास की स्थिति हमेशा बनी रहती है। सुमिता की पीड़ा के माध्यम से उपन्यासकार समाज के सामने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाता है कि स्त्री की देह की पविव्रता के खण्डित होने पर उसे अपवित्र क्यों मान लिया जाता है और अपनी ही पत्नी के त्याग की कीमत को भी क्यों नहीं समझ पाता है।

सुमिता अपने ऊपर हुए अत्याचार को चुपचाप समाज की अन्य नारियों की भांति नहीं सहती बल्कि समाज में इस हादसे की शिकार हुई महिलाओं को

लेकर बलात्कार के विरुद्ध अभियान शुरू करती है। इस सिलसिले में वह उन स्त्रियों से संस्थाओं के माध्यम से जुड़ती चली जाती है। सुमिता, विभा, वर्तिका, किरण, शाहिदा आदि ऐसी ही स्त्रियाँ हैं। जो मानसिक और शारीरिक पीड़ा से ग्रस्त हैं।

अपने शोध के सम्बंध में सुमिता सबसे पहले प्रौढ़ पम्मी से मिलती है। नवविवाहित पम्मी पर उसके नौकर ने ही बलात्कार किया था। पति उसे सहारा देता है, फिर भी वह खुद को समाज के सामने अपमानित और अपराधिनी समझती है। पम्मी का पति उस सत्य को जानता है इसलिए वह अपनी पत्नी को समझाते हुए कहता है कि ''बात अंततः तुम पर है, तुम्हारी अपनी शक्ति और तुम्हारी अपनी क्षमता पर है। तुम गिरोगी, समाज तुम्हें रौंदता चला जाएगा। तुम खड़ा होना चाहोगी, मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। तुममें चलने का संकल्प होगा तो मेरी शक्ति तुम्हें अजेय कर देगी।''[2] पम्मी के माध्यम से उपन्यासकार एक ऐसे स्त्री पात्र को प्रस्तुत करता है जो स्वयं को अपराधिनी समझती है। चूँकि परम्परागत समाज की मानसिकता यही थी इसलिए पम्मी भी ऐसा सोचने के लिए विवश है परन्तु उसका पति उसे इस मानसिकता से बाहर निकलने की प्रेरणा देता है। लेकिन पम्मी को समाज की कठोरता का आभास है इस लिए समाज की क्रूरता और अपनी विवशता का उल्लेख करते हुए कहती है। ''सच सुमिता! सब कुछ के बावजूद मैं वह नहीं रही थी जो स्नानघर से निकलते समय थी। समाज की नीति–नैतिकता शास्त्र में पाप–पुण्य की व्याख्या नर–नारी के संबंध सबने मिलकर मेरे अन्तःकरण में यह भावना पैवस्त कर दी थी कि कुछ अघटित घट गया है और जो कुछ घटित हुआ है वह पाप है। ऐसा पाप जिसका प्रतिकार नहीं हो सकता। मुझे अपराधिनी उस दरिंदे ने नहीं बनाया बल्कि मेरे समाज ने बनाया। भीतर से मैं जिसे स्वीकार नहीं कर सकी थी, वही मुझ पर थोप दिया गया। जिसके प्रति अपराध किया गया सजा भी उसी को मिली। आहत, अपमानित मैं किसी की करूणा की अधिकारिणी भी नहीं रह गई......''[3] ऐसी स्त्री को यदि परिवार सब कुछ भूलकर स्नेह और प्यार देता भी है तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता और उसे हिकारत की निगाह से देखता है –''कितना बड़ा संसार है मेरे भीतर दर्द से सना। किसी को दिखा भी नहीं सकती, किसी की सहानुभूति भी नहीं चाह सकती। इसलिए पति–परिवार का मुक्त स्नेह–सत्कार पाकर भी मुझे आज भी लगता है कि जैसे हर कोई मुझे हिकारत की निगाह से देख रहा है। उस आत्मग्लानि से मैं कांप –कांप उठती हूँ, इसलिए नहीं कि कोई मुझे दोषी समझता है बल्कि इसलिए कि मैं स्वयं अपने को इस दोश से मुक्त क्यों नहीं कर पा रही समाज को झटक क्यों नहीं देती?''[4] जो पम्मी की आत्मग्लानि है वो इस थोथी रूढ़िवादी समाज की ही देन है। सुमिता की अगली मुलाकात शालिनी जो नारी 'मन–पत्रिका' की उप–सम्पादिका है से होती है शालिनी जब सात वर्ष की भी तभी उसके साथ एक सत्तर वर्ष के वृद्ध व्यक्ति ने बलात्कार किया था मिठाई का लालच देकर। शालिनी जब भी कोई वृद्ध व्यक्ति को देखती है तो आज भी चीख उठती है। शादी के बाद शालिनी उसके पति के साथ वैवाहिक जीवन नहीं बिता पाती और वह तलाक ले लेती है। निम्नवर्ग के एक परिवार की बेटी राजकली भी इसी प्रकार हवस की शिकार होती है। सुमिता राजकली से मिलकर उसकी यातना से साक्षात्कार करती है, राजकली पुलिस की हवस का शिकार हुई। बाद में उस पर दारू का व्यापार करने का इल्ज़ाम लगाकर हवालात में भी बन्द कर दिया गया। जिस पुलिस को समाज का रक्षक कहा जाता है वही अगर भक्षक बन जाए तो क्या होगा इस समाज का। ''पर उन्होंने क्या किया उसके साथ? उसी थाने में मूंछो पर ताव देता वह आबरू लूटता है मेरी जैसी असहाय औरतों की और धमकी देता है। और मुझे अपना घर छोड़ना पड़ा जैसे मैं –जैसे मैं ....''[5]

हमारे देश में निम्न जातियों के उत्थान एवं कल्याण के लिए नियम और कानून तो खूब बनाए जाते हैं पर यथार्थ के धरातल पर सिर्फ हवा हवाई ही साबित होती है जिस निम्न वर्ग की राजकली को घर मिलना चाहिए उसी कानून ने उसे अपना घर छोड़ने पर विवश किया। राजकली के साथ थाने में घटी हुई घटना इस बात की ओर संकेत करती है कि पुरुष सत्तात्मक समाज की मानसिकता से ही पूरा समाज पूरी न्याय व्यवस्था परिचालित होता है। राजकली के पिता के माध्यम से उपन्यासकार इसी ओर संकेत करता है। ''यह कानून का नहीं संस्कारों और उससे निसृत सामाजिक मूल्यों का प्रश्न है। युग–युग से जिस संस्कारों ने मूल्यों का निर्माण किया है, उन्हीं से आतंकित है हमारा मन, हमारा चिंतन। वैसा ही बन गया है हमारा मनोविज्ञान............ अहेरी है, नारी शिकार; स्वामी है, नारी आलोकमंडित दासी; पुरूष भू–स्वामी, नारी भूमि। इसी से उद्भूत हुई है व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वामित्व की भावना। धरती का स्वामित्व नारी के स्वामित्व का ही रूप है।''[6] इसी प्रकार शाहिदा, किरण, मार्था और श्यामला आदि ऐसी ही स्त्रियाँ हैं जो दुखी और पीड़ित हैं और इस सत्तात्मक समाज की मानसिकता से पूरी तरह मुक्ति चाहती है।

विष्णु प्रभाकर ने 'अर्द्धनारीश्वर'' उपन्यास में स्त्री सुचिता के प्रश्न पर गहरायी से विचार करते हुए स्त्री जीवन से जुड़े अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों से उसे जोड़कर देखते हैं। इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य परस्पर साथी और मित्र के रूप में देखने की इच्छा है। पति–पत्नी एक दूसरे के पूरक हों, दास और स्वामी का भाव वहाँ पर नहीं आना चाहिए। सुमिता के प्रति अजित का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है– ''मैं सुमिता को अपनी दासता से मुक्त कर दूँगा। मैं उसकी दासता से मुक्त हो जाऊँगा। तभी हम सचमुच पति–पत्नी हो सकेंगे निःशंक हो सकेंगे।''[7]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में स्त्रियों की दशा के प्रति चिन्ता व्यक्त की गयी है नायिका के माध्यम से स्त्रियों के भीतर चेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। स्त्री और एक दूसरे के पूरक हों इस विचार को केन्द्र में रखकर ही अर्द्धनारीश्वर की परिकल्पना को पूरा किया जा सकता है। इस उद्देश्य की सिद्धि तभी होगी जब नारी स्वयं अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगी।

इस उपन्यास के विषय में गोपाल राय की यह टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–

''नारी विषयक संवेदना और चिंतन के लिए निरन्तर जिस औपन्यासिक ढाँचे की तलाश में विष्णु प्रभाकर जी थे वो उन्हें 'अर्द्धनारीश्वर में प्राप्त हो सका''।

संदर्भ

1. विष्णु प्रभाकर– 'अर्द्धनारीश्वर', किताब घर प्रकाशन, संस्करण –2016, पृ0 76
2. वही पृ0 17
3. वही पृ0 16
4. वही पृ0 17
5. वही पृ0 61
6. वही पृ0 65
7. वही पृ0 121
8. गोपाल राय–हिन्दी उपन्यास का इतिहास– पृ0 235

हिन्दी

भारतीय धर्म, अध्यात्म,दर्शन एवं मुस्लिम कवि अमीर खुसरो

–(श्रीमती)स ोनलद ालभ*
–डॉ०म ुकेशच न्द्रग ुप्ता*

भारत धार्मिक देश है। हिन्दू, जैन, बौद्ध, फारसी, मुसलमान, ईसाई इत्यादि धर्मो का पवित्र निलय भारत है। हिन्दू और मुसलमान, साम्प्रदायिक दृष्टि से अलग–अलग अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके मानव हृदय में ऐक्य की भावना है। भारतवर्ष में मुसलमान कवियों की रचनायें उस कालखण्ड की हैं, जब भारत में इस्लामी राज्य था। भारतवर्ष में धर्म की धारणा जिस रूप में प्रचलित रही है, इस्लाम–धर्म की धारणा उससे कुछ भिन्न दिखायी देती है। भारतवर्ष में धर्म का अर्थ स्वभाव, कर्तव्य–निष्ठा इत्यादि का द्योतक है, परन्तु इस्लाम में धर्म का अभिप्राय सम्प्रदाय से है। भारत में इस्लाम, राजनैतिक शक्ति के रूप में आने से पहले धर्म के रूप में आ चुका था। मुसलमान कवियों ने हिन्दू धर्म की ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का सहारा लेकर जो कविता लिखी, उससे तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण को भारतीयता का पुट मिला। इन कवियों ने सभी कथाओं को भारतीयता के रंग में रंगकर सांस्कृतिक सामंजस्य की नींव डाली ।

पं0 परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि ''इन्होंने हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैशणव सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मांतरवाद आदि बातें ग्रहण कीं। बौद्ध धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यमार्ग इत्यादि अपनाये तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृवाद और सूफी सम्प्रदाय से प्रेम भावना को लेकर, सबका सम्मिश्रण कर एक नया पंथ चलाया'' [1]। वस्तुतः वह युग ही ऐसा था। हिन्दू जनता सैंकड़ों देवी–देवताओं के साथ पशु–पक्षी, नदी–तालाब तक को पूज रही थी। यज्ञ, बलि, तंत्र–मंत्र, ताजियों, गाजियों, पीरों, फकीरों, औलियों, पण्डितों, जिन्नों, चुड़ैलों का ऐसा मकड़जाल था कि कोई भी संत जनता को सीधा मार्ग दिखाये भी तो कैसे! इसीलिए कबीर आदि ज्ञानमार्गियों ने सिद्धों और योगियों की शैली, वैशणव भक्तों की भक्ति और सूफियों का प्रेम लेकर जनता में धूम मचा दी। निश्चित रूप से अपने समय में कबीर ने लोकनायक का काम किया, जो आगे चलकर तुलसी में पूर्ण हुआ। संत–साहित्य अत्यन्त विशाल है। अब तक लगभग पांच सौ संत कवियों की बानियां उपलब्ध हो चुकी हैं । इनमें प्रबंध, मुक्तक एवं स्फुट सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। मुस्लिम संत कवियों का दृष्टिकोण, हिन्दू संत कवियों से भिन्न नहीं है।

संत कवि प्रेममार्गी अधिक हैं, ज्ञानमार्गी और योगी कम, तथापि इन तीनों मार्गों के मूलभूत सार तत्व ही

*शोधछात्रा, एम.एच. पी.जी. कॉलेज,मुरादाबाद (उ0प्र0)
**एसोसिएट प्रोफेसर, एम.एच. पी.जी. कॉलेज,मुरादाबाद (उ0प्र0)

इन्हें साधना मार्ग में अभीष्ट हैं। दार्शनिकों एवं मत–मतान्तरों के प्रर्वतकों द्वारा प्रचारित एकेश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अद्वैतवादी और द्वैतवादी विचारधाराओं के संग्रहणीय तत्वों की अन्विति इनके आध्यात्मिक विवेचन में मिलती है। किसी एक को ग्रहण कर चलना उनका स्वभाव नहीं था उनकी योगमूलक बानियों में जहां कुंडलिनी, शट्चक्र, इला–पिंगला–सुशुम्ना, नाद, बिन्दु स्फोट, शटकर्म, सुरति–निरति, शब्दयोग आदि ज्ञानपरक अभ्यासमूलक विषयों की चर्चा मिलती है, वहीं नाम–संकीर्तन तथा परमात्मा से नाना प्रकार के पारिवारिक संबंधों से उद्भूत भक्ति के सहज उद्गार मिलते हैं। वैराग्य मूलक उपदेश तथा संसार की असारता के चित्र भी मिलते हैं। प्रेम तत्व ऐसा सामान्य विषय है, जिसको सभी महत्त्व देते हैं।

इस प्रकार प्रायः सभी मुसलमान कवि निर्गुण परम्परा के विश्वासी हैं, यद्यपि अवतार और पुनर्जन्म संबंधी पंक्तियां यत्र–तत्र दृष्टिगोचर हो जाती हैं। इन सभी कवियों ने प्रचलित एवं प्रासंगिक दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख किया है, किसी गूढ़ तत्ववाद का विश्लेषण इनका लक्ष्य नहीं था।

अध्यात्म एवं दर्शन :

अध्यात्म और दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर, आत्मा, जगत, माया, मोक्ष, मृत्यु इत्यादि की चर्चा होती है। मध्यकालीन कवियों ने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष अध्यात्म और दर्शन पर पर्याप्त विचार किया है। यहाँ हम मध्यकालीन मुस्लिम कवि अमीर खुसरो के दार्शनिक दृष्टिकोण का अध्ययन करते हुये उनके ईश्वर, आत्मा, जगत, माया इत्यादि से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करेंगे।

ईश्वर :

अमीर खुसरो के अनुसार ईश्वर एक है। वह सभी के द्वारा जानने योग्य है, परन्तु कोई उसे नहीं पहचानता। कोई नहीं जानता कि उसका रूप कैसा है? जिसने उसे जिस प्रकार लिखा है, उसे उसी प्रकार जानता है। जो उसका दर्शन प्राप्त कर लेगा, वही इसके अर्थ को खोज लेगा । वह सर्वशक्तिमान, न्यायशील और इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है [2]। खुसरो ईश्वर को इन गुणों से सम्पन्न मानते हुए एक पहेली के माध्यम से लिखते हैं –

बखत बेबखत मोय बाकी आस,
रात दिन रहे मोय पास ।
मेरो मन को सब करत है काम,
ऐ सखि साजन? ना सखि राम।।

खुसरो ने ईश्वर का स्मरण अनेक नामों से किया है। वे उसे कहीं करतार, कहीं सरजनहार, विधना, अल्लाह, राम, खुदा आदि अलग–अलग नामों से पुकारते हैं। ईश्वर अनन्त गुणों से सम्पन्न है। खुसरो स्वयं को अवगुणों से भरा हुआ तथा ईश्वर को गुणों से सम्पन्न मानते हुए उससे क्षमा प्रार्थना करते हैं– मैं अपनी दयनीय अवस्था को देखकर अत्यन्त दुखी हूं। हे ईश्वर तू सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न है मुझे मेरे पापों से मुक्ति दे दे ,मैं बहुत पापी हूँ –

देख मैं अपने हाल को, रोऊँ जार औ जार ।
वे गुनवान बहुत हैं, हम हैं औगुन हार [3] ।।

आत्मा :

आत्मा के सम्बन्ध में अमीर खुसरो का मानना है कि आत्मा शाश्वत है और उसका अस्तित्व हमेशा बना रहता है। मानव आत्मा का स्थायी घर यह संसार नहीं है, बल्कि समय आने पर एक दिन उसे इस संसार से अवश्य चले जाना है। खुसरो मायके व ससुराल के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुये लिखते हैं – ऐ दुल्हन, तू अपने बाबुल के घर बहुत दिनों तक रही। अब तुझे यहां से जाना पड़ेगा, क्योंकि तेरे प्रियतम की ओर से तेरे लिये बुलावा आ चुका है –

बहुत रही बाबुल घर दुल्हिन,
चल तेरे पी ने बुलाई। [4]

एक अन्य स्थान पर खुसरो ने इस सम्बन्ध में लिखा

है– ऐ सखी! जब तक मैं अपने प्रियतम के दर्शन नहीं कर लेती, तब तक जीवन की यह अन्धेरी रात काटना बहुत ही कठिन है –

सखी पिया को जो मैं न देखूं
तो कैसे काटूँ अंधेरी रतियाँ ।[5]

जगत :

जगत का आदि मूल एक ईश्वर ही है, उसने ही विश्व की रचना की है। अमीर खुसरो ने एक पहेली के माध्यम से इस भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है– उसने एक ऐसे आश्चर्यजनक बंगले का निर्माण किया है जिसकी नींव तो उसने ऊपर की ओर रखी है और घर का निर्माण नीचे कर दिया है। उसको घर बनाने के लिए न तो बांस की आवश्यकता पड़ी और न बांधने के लिए रस्सी की। फिर कहो खुसरो यह घर कैसे बना–

अचरज बंगला एक बनाया,
ऊपर नींव तरे घर छाया ।
बांस न बल्ला बंधन धनै,
कह खुसरो घर कैसे बने ।।[6]

खुसरो का मानना है कि सृष्टि के निर्माण में ईश्वर ने –शुभ और अशुभ– दोनों तत्वों का सहारा लिया है । वे लिखते हैं– उसने प्रेम से ही एक बीज को उत्पन्न किया। उस बीज से दो वृक्ष श्याम (अशुभ) तथा श्वेत (शुभ) निकले –

तेहि के प्रीति बीज अस जामा।
भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा।।[7]

मोक्ष :

हृदय की सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग तथा ईर्ष्या और ममता जैसे विकारों से अलग होकर जो मनुष्य जीवनयापन करता है, वही मृत्योपरान्त मोक्ष पाने का अधिकारी होता है। ऐसे मनुष्य की आत्मा शरीर त्यागकर अपने परम तत्व को प्राप्त कर लेती है। मध्यकालीन मुस्लिम कवियों ने अपने काव्य में इस भावना को अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। अमीर खुसरो ने अपने उस प्रियतम से विरह और मिलन के लिए व्याकुल होते हुए लिखा – प्रियतम के विरह ने मेरे नेत्रों से नींद को छीन लिया है और शरीर भी बेचैन है। वे न तो पत्र लिखकर मेरी खबर लेते हैं और ना ही अपना दर्शन ही मुझे देते हैं –

न नींद नैना, न अंग चैना।
न आप आवै, न भेज पतियां।।[8]

ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बड़ा कठिन है खुसरों के अनुसार–पनघट तक पहुंचने का मार्ग बहुत कठिन है मैं अपनी आत्मा रूपी मटकी में ईश्वर के प्रेम का रस कैसे भरूं –

बहुत कठिन है डगर पनघट की
कैसे मैं भर लाउं मधवा की मटकी।[9]

मोक्ष की प्राप्ति के लिए खुसरो गुरू की आवश्यकता महसूस करते हैं। संसार में मार्ग दर्शन के लिए गुरू ही सबसे उपयुक्त हैं। अपने गुरू निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर उन्होंने जो दोहा लिखा, वह उनकी इसी आवश्यकता की ओर संकेत करता है –

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भयी चहुँ देस।[10]

खुसरो प्रेम के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति मानते हैं। प्रेम ही परमात्मा से सम्बन्धित विरह को जन्म देता है और वही मोक्ष प्राप्ति का साधन बनता है।

मृत्यु :

अमीर खुसरो ने एक बाबुल गीत के माध्यम से मनुष्य के संसार से पलायन (मृत्यु) का विस्तार से वर्णन किया है। वे लिखते हैं– विदाई के समय में कुटुम्ब के सारे लोग आ गये हैं, इसके अतिरिक्त और भी लोग आये हैं। चार कहार डोली उठाने के लिए हैं, साथ में पुरोहित और नाई भी आये हुए हैं। यहां पर इसका निहितार्थ इस प्रकार है– मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसके कुटुम्ब और परिवार के अतिरिक्त और भी बहुत से लोग अन्तिम क्रिया में सम्मिलित होते हैं। चार व्यक्ति

उसके पार्थिव शरीर को उठाने के लिए आते हैं, साथ में नाई व पुरोहित भी अपना कार्य करते हैं। मृत्यु पर किसी का वश नहीं। ईश्वर का सन्देश आने पर मनुष्य की मृत्यु निश्चित है। खुसरो लिखते हैं– जब दुल्हन की विदाई का अन्तिम समय आ जाता है, उस समय किसी का कोई वश नहीं चलता, मनुष्य संसार से अकेला ही जाता है –

विदा करन को कुटुम्ब सब आये सिगरे लोग लुगाई।
चार कहारन डोली उठाइ। संग पुरोहित नाई।।
अंत विदा ह्वै चलिहैं दुल्हन काहु की कछु न बसाई।।[11]

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि खुसरो के अनुसार नित्य पारमार्थिक सत्ता केवल एक ही है। संसार के अनेकत्व में उस एक का ही आभास मिलता है। मध्यकालीन अन्य कवि भी अद्वैतवाद के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा के एक रूप का ही आश्रय लेते हैं, तथा इस सारे जगत में उस परम सत्ता के ही सौन्दर्य, शील एवं गुणों का दर्शन करते हैं। स्रष्टा की अद्भुत शक्तियों का उल्लेख इन कवियों में बड़ी प्रचुरता से किया है। साधना के क्षेत्र में जहां इन कवियों की दृष्टि, आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर रही है, वही काव्य क्षेत्र में वे प्रकृति की नाना विभूतियों में उसे व्याप्त पाते हैं। इसीलिए मध्यकालीन कवियों ने लौकिक सम्बन्धों तथा भौतिक सौन्दर्य का निरादर नहीं किया है। संसार त्याग की भावना का वर्णन भी इनके काव्य में अत्यधिक नहीं है। ये कवि भौतिकता को ही आध्यात्मिकता का आधार मानते हैं, इसीलिए केवल संसार के मिथ्यास्वरूप के अति ममत्व की ही उन्होंने अवहेलना की है। मध्यकालीन कवियों की संसार त्याग की भावना पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। खुसरो भी इनसे भिन्न नहीं हैं।

खुसरो ने प्रेम में ही ब्रह्म की स्थिति मानी है अथवा यों कहें कि ब्रह्म ही प्रेम है। हृदय में प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर फिर परमात्मा से तादात्म्य न हो, यह असम्भव है। समग्रतः खुसरो के दार्शनिक विचारों पर भारतीय धर्म–साधना एवं वेदान्त का प्रचुर प्रभाव है।

सन्दर्भ

1. उत्तरी भारत की संत परम्परा– पं0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 सं0–184
2. अमीर खुसरो–भावात्मक एकता के अग्रदूत–डॉ0 मलिक मुहम्मद–पृ0 सं0–51
3. अमीर खुसरो और उनका साहित्य – डॉ0 भोला नाथ – पृ0 सं0 –131
4. वही–पृ0सं0 – 121
5. वही – पृ0 सं0 – 128
6. वही–पृ0सं0 – 131
7. वही–पृ0सं0 – 59
8. वही–पृ0सं0 – 129
9. अमीर खुसरो भावात्मक एकता के अग्रदूत – डॉ0 मलिक मुहम्मद, पृ0सं0–4
10. अमीर खुसरो और उनका साहित्य – डॉ0 भोला नाथ , पृ0सं0–130
11. वही–पृ0सं0 – 121

नूर मुहम्मद के काव्य में सामाजिक उतार-चढ़ाव

–डॉ०म ुहम्मदअ रशद*

नूर मुहम्मद के काव्य में सामाजिक उतार–चढ़ाव की प्रक्रिया कथा–संयोजन के माध्यम से ही व्यक्त होती है। 'इन्द्रावत' में मुख्य कथा के साथ अनेक कथाएं सन्निहित हैं। अवान्तर कथाओं में सामाजिक उतार–चढ़ाव की व्यंजना का ही मुख्य कथा को विस्तार देती है। यह उतार–चढ़ाव की प्रक्रिया में उल्लेखनीय तथ्य हे कि नूर मुहम्मद ने अनेक स्वप्नों का चित्रण किया है। स्वप्न का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक स्तर पर मनुष्य की सोच और प्रवृत्ति से भी होता है। जो जिस तरह की सामाजिक संस्कृति और अवस्था में पलता–बढ़ता है, उसी तरह के स्वप्न देखता है। 'इन्द्रावत' में सात स्वप्न–कथाएं हैं और इन सभी का सकारात्मक अन्त होता है। चूंकि 'इन्द्रावत' की पूरी कथा काल्पनिक है और नूर मुहम्मद की अभिवृत्तियों के प्रतिफलन में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसलिए उसमें निहित स्वप्न–कथा का विवेचन भी उतार–चढ़ाव के विश्लेषण के लिए जरूरी हैं राजा जगपति स्वप्न देखते हैं तो कन्या पैदा होती है। राजकुंवर स्वप्न देखते हैं तो उनके भीतर प्रेम का अंकुरण होता है। इन्द्रावती स्वप्न देखती है तो उसके मन के अनुसार प्रिय मिलता है। मंत्री बुद्धसेन स्वप्न देखता है तो उसे यह ज्ञात होता है कि राजकुंवर संकट में फंसे हुए हैं, रानी सुन्दरी स्वप्न देखती है कि राजकुंवर आये हुए हैं और उसके स्वप्न के आधार पर उसकी सखियों ने राजा की शीघ्र वापसी की भविष्यवाणी की। नूर मुहम्मद ने अनेक अवान्तर कथाओं के माध्यम से सामाजिक उतार–चढ़ाव को प्रदर्शित करते हुए अपने काव्य को रससिक्त तो किया ही है, उद्देश्यमय भी बनाया है।

'इन्द्रावत' में बारहमासा खण्ड का अगर सूक्ष्मता से विवेचन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मनुष्य की प्रवृत्तियों और प्रकृति के विभिन्न रूपों के अन्तःसंयोजन के माध्यम से नूर मुहम्मद ने अपने काव्य में उतार–चढ़ाव को कितनी सहजता से प्रस्तुत किया है। भादो महीने का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :–

भादों रैन अधिक अंधियारी।
चमके दामिनि डरै पियारी।।
गरजि मघा बरसै झर लाई।
जीउ धन्धेव कया मों जाई।।
प्रीतम बिनु धन कैसे जीये।
सेज अकेल रक्त गीत पिये।।
मिलत आइ पिय जब लगि जीऊ।
झार भये का मिलिहे पिऊ।।
राज–पाट धन तन तरुनाई।
बिनु पिय एको मोहिं न सुधाई।।

रानी सुन्दरी राजकुंवर के वियोग में बेचैन हैं। भादों की अंधेरी रात है, बिजली चमक रही है। मघा का मेघ बरस रहा है। सुन्दरी का दिल विकल है। अकेले शैय्या पर उसे रक्त पीना पड़ता है। वह कहती है कि शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर प्रियतम के मिलने से क्या

*शोधछात्र, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0)

फायदा! राजपाट धन, शरीर और जवानी प्रियतम के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। भादों में पानी से नदी और नाला भरा होता है। इसमें कोई बटोही अर्थात् यात्री चल नहीं सकता। भादों के इस वर्णन में समय की एक अवस्था का चित्र है। फिर क्वार का महीना आता है। कार्तिक में भी उसे वियोग सताता रहता है। नूर मुहम्मद लिखते हैं :–

भा अगहन मन भा बैरागी।
बाढ़ी अधिक विरह की आगी।।
दिवस घटा निस बैरिन बाढ़ी।
अधिक विरह पावक तन डाढ़ी।।
जासंग पिय सो तिय रंगराती।
तिन्है मीठ अगहन की राती।।
दर्द भार सों पिण्ड बनाया।
तामों जीउ प्यारा बैठावा।।
जीउ को प्यारा पिसु हमारा।
पियु बिना नहीं जीउ प्यारा।।

अगहन के चढ़ते ही मन और वैरागी हो गया। विरह की आग और तेज हो गयी। शरीर में विरहाग्नि अधिक तीव्रता से प्रज्ज्वलित हो रही है। यह उस रानी सुन्दरी की स्थिति है, जिसका प्रियतम साथ में नहीं है, किन्तु जिसका प्रियतम साथ में होता है, उस स्त्री के लिए अगहन की रात खूबसूरत लगती है। इस तरह नूर मुहम्मद ने ऋतुओं के बहाने भी सामाजिक उतार–चढ़ाव को व्यक्त करने की कोशिश की है। यह पारम्परिक मान्यता है कि जब कागा बोलता है तो प्रिय के आने की संभावना बढ़ जाती है, किन्तु सुन्दरी कहती है कि हे कागा! तुम्हारा बोलना झूठा है। यदि तुम्हारा बोलना सही होता तो प्रियतम अवश्य आता।

सामाजिक संघर्ष के अनेक स्वरूप होते हैं, अनेक स्थितियां होती हैं। 'इन्द्रावत' में इस संघर्ष की अभिव्यक्ति में जो उतार–चढ़ाव दिखायी देता है, उसका सम्बन्ध कथा के विकास से है और कवि के मंतव्य से भी है। जैसे समय परिवर्तनशील है, वैसे ही समाज परिवर्तनशील है। माघ के महीने में पाला पड़ता है। उससे मुक्ति के लिए अग्नि और सूर्य का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु एक वियोगिनी के लिए प्रियतम के साथ रहने पर वही माघ का महीना आनन्दकारी होता है। फागुन का महीना आनन्द, उमंग और उल्लास का होता है, किन्तु जिसका प्रियतम उसके साथ नहीं है, उसके लिए फागुन और भी कष्टकारक होता है। नूर मुहम्मद ने उदाहरणों के माध्यम से मनुष्य के भीतर के संघर्ष को बाहरी संघर्ष से जोड़कर प्रस्तुत किया है :–

फागुन चौगुन विरह जनावा।
फाग राग नर नारी गावा।।
सेन्दूर भरैं मांग भरा पूरा।
रचि–रचि बांधैं कुन्तल जूरा।।
मानहिं केलि पुरुष और नारी।
भरि सुरंग भरहिं पिचकारी।।
मन आनन्द सों खेलैं फागुन।
हम सिर परा बिरह बैरागू।।
सदा बिरह दुर्जन होइ आवै।
मोहिं तन होलिका आइ लगावै।।

एक ओर फागुन लोगों के मन में मस्ती भर देता है, नर नारी फाग गाते हैं, स्त्रियां मांग में सिन्दूर भरती हैं और खूबसूरत रंग से बालों का जूड़ा बांधती हैं। पुरुष और स्त्री आपस में केलि करते हैं। एक–दूसरे पर रंग और गुलाल छोड़ते हैं। दूसरी ओर वियोगिनी स्त्री विरहरूपी दुर्जन से तंग है। होलिका उसके शरीर में आग लगाती है। सुन्दरी कहती है कि अगर यह शरीर राख होता तो हवा के साथ उड़कर प्रियतम के पास पहुंच जाता, किन्तु मुझे तो यह भी सुख उपलब्ध नहीं है। नूर मुहम्मद लिखते हैं :–

चैत मांस लै आव बसन्तू।
केहि लाहै जो घर नहिं कन्तू।।
सुख मों कामिनी रहैं भुलानी।

सेजिया कुसुम बिछावै आनी।।
हम कहं कुसुम कांट सम भयऊं।
सुखद भोग प्रियतम लै गयऊं।।
मोहि लेखे टेसू रतनारा।
फूल रहा निर्धूम अंगारा।।
है पलास मों सम अनुरागी।
मोहि तन आग बोहु तन आगी।।

चैत के महीने में बसंत का आगमन होता है, लेकिन उसके लिए इस बसंत का क्या मतलब, जिसका उसका घर पर पति नहीं है। स्त्रियां बसंत के महीने में प्रसन्न रहती हैं और उनकी शैय्या पर जैसे फूल बिछा रहता है, किन्तु हमारे लिए फूल कांटा बन गया है। मेरे लिए तो खूबसूरत रतनार टेसू बिना धुएं के अंगारा है, वही स्थिति पलास की भी है। नूर मुहम्मद ने प्रकृति के विविध रूपों के माध्यम से मन की अन्तःवृत्तियों का निरूपण ही नहीं किया है, बल्कि यह दिखाने का भी प्रयत्न किया है कि एक ही प्राकृतिक और सामाजिक अवस्था में भिन्न–भिन्न मनुष्यों की भिन्न–भिन्न अवस्थितियों और प्रतिक्रियाएं होती हैं। जो चीजें सम्पन्न लोगों के लिए प्रीतिकर होती हैं, अभावग्रस्त लोगों के लिए वही चीजें कष्टकर होती हैं।

'इन्द्रावत' की पूरी कथा ही अनेक उतार–चढ़ावों से होकर गुजरती है। सन्तानहीन भूपति, सन्तानहीन जगपति सुन्दर–सुन्दर सन्तानों के पिता बनते हैं। अपने राज्य में धर्म और न्याय की स्थापना करने वाले राजकुंवार अनेक कष्टों को सहते हुए योगी वेश धारण कर आगमपुर चले जाते हैं। हंसराज के समक्ष भी अनेक कठिनाइयां आती हैं और फिर वह अपनी मंजिल को प्राप्त कर लेते हैं। उपकथाओं में भी नूर मुहम्मद ने उतार–चढ़ाव को सामाजिक सम्बन्धों से सम्पन्न कर ही व्यक्त किया है। जिस रम्भा पर हंसराज मोहित हैं, उसकी मृत्यु हो जाती है और हंसराज व्याकुल हो जाते हैं :–

भोर भये राजा सुध पावा।
रम्भा गई रहा पछतावा।।
नां वह बांस बसेरा नीको।
नां वह प्रेम पियारी जी को।।
नां वह ठांव सुगन्ध जेहि लागी।
मधुकर फिरैं भये अनुरागी।।
पात परै वीरा जेहि मांहीं।
परसुन परै बांस पै नाहीं।।
ठावं रहन हारे सों नीको।
तेहि बिन ठांव रंग है फीको।।

रम्भा के बिना वह स्थान अच्छा नहीं लगता। वह सुगन्ध जहां मधुकर मंडराते रहते थे, अब उड़ गयी। अब उन फूलों में सुगन्ध नहीं रही। अर्थात् सुख में जो चीजें अच्छी लगती हैं, दुःख में वही चीजें कष्टकारक हो जाती हैं। दुःख और सुख दोनों के बीच एक ऐसा रिश्ता है, जो कभी खत्म नहीं होता। यदि इनके बीच का रिश्ता खत्म हो जाये तो फिर न किसी प्रकार का संघर्ष होगा और न कोई उतार–चढ़ाव ही देखने को मिलेगा। हंसराज रम्भा के लिए पश्चाताप करता है, लेकिन करें क्या! लोग उसे समझाते हैं। फिर रात्रि हो जाती है और लोग अपने–अपने घरों को चले जाते हैं। इस तरह नूर मुहम्मद ने जीवन के माध्यम से भी उतार–चढ़ाव को प्रदर्शित किया है। धीरे– धीरे हंसराज रम्भा के रूप को भूल जाता है और उसका प्रेम उसके शरीर में समा जाता है। यही जीवन का, प्रकृति का और समाज का नियम है, किन्तु प्रेम करने वाला कभी अपनी प्रेयसी को भूलता नहीं क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध शरीर से ही नहीं, आत्मा से भी होता है।

हिन्दी

समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी विमर्श

—नरेन्द्रप्रताप सिंह*

हिन्दी साहित्य में धीरे–धीरे आदिवासी विमर्श अपनी पहचान 21 वीं शताब्दी के 10 वें दशक के बाद बनाता जा रहा है। आज हिन्दी साहित्य की हर विधा में आदिवासी सन्दर्भ गंभीर स्वरूप लेकर सामने आ रहा है। भारत के आदिवासी समाज के लोग मौखिक साहित्य के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक हलचल को अनादिकाल से व्यक्त करते रहे हैं। यह अलग बात है कि उनकी कोई लिपि न होने की वजह से उनके मौखिक साहित्य का स्वरूप साहित्य जगत में पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पा रहा है, लेकिन सभ्य समाज से अलग उनकी साहित्यिक अनुगूँज कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में सुनाई पड़ती रही है। आदिवासियों को हमारे प्राचीन धर्म ग्रंथ में भी रेखांकित किया गया है। वेदों में, रामायण में, महाभारत में इनकी चर्चा की गयी है। इधर आजादी के पूर्व कई आदिवासी रचनाकारों ने उनके जीवन पर, उनके मिथकों पर और उनके मौखिक साहित्य पर लिखने की कोशिश की। इंग्लैण्ड, जर्मनी, नार्वे, हालैंड आदि के पादरी गण औपनिवेशिक दौर में आदिवासी क्षेत्रों में काम करते हुए उनकी भाषा और साहित्य पर, उनकी लोककथाओं पर उनके लोकगीत पर, मिथकों पर कुछ न कुछ लिखते रहे।

भारतीय आदिवासी समुदाय पर लेखन की शुरुआत गुलामी के समय से ही प्रारम्भ हो गयी और भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों विद्वानों ने आदिवासी जीवन और साहित्य को केन्द्रित करके बहुत कुछ लिखने की कोशिश की। आदिवासी साहित्य की अवधारणा के संदर्भ में है कि आदिम जीवन जीने वाले आदिवासी समाज को लेकर जो लिखा जा रहा है वह आदिवासी साहित्य है। यह ऐसा साहित्य है जो आदिवासियों को मुक्ति देने वाला है।

साहित्य की अवधारणा को लेकर पक्ष चाहे जितने हों लेकिन इतना सत्य है कि हर वह साहित्य आदिवासी साहित्य के अंतर्गत आता है जिसमें आदिवासी पक्षधरता हो। आदिवासी साहित्य के मूल्य को लेकर भी आलोचकों ने अपनी बात कहते हुए यह दिखाया है कि आज के इस युग में चतुर्दिक मूल्यों का अवमूल्यन दिख रहा है, ऐसे में आदिवासियों के सामुदायिक मूल्य और प्रकृति के साथ उनके बंधुत्व से सीख ली जा सकती है। उनकी सभ्यता का आलम यह है कि आदिवासी समाज के लोग फल तोड़ने से पहले पेड़ों से, दूध दुहने से पहले बछड़ों से क्षमा याचना करते हैं। आदिवासी संस्कृति मानवीय मूल्यों का भण्डार है। उनके साहित्य में इन्ही मूल्यों को देखा जा सकता है। आदिवासी साहित्य में समाज, देश और दुनिया को बेहतर बनाने की अभिलाषा है। विद्वानों का अभिमत है कि आदिवासी साहित्य दो रूपों में हमारे सामने है मौखिक या वाचिक साहित्य तथा लिखित साहित्य।

आदिवासी कविता को लेकर भी आदिवासी चिन्तक अपनी अवधारणा व्यक्त करते हैं और यह मानते हैं कि आदिवासी कविता से तात्पर्य यह है कि

*इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (मध्यप्रदेश)

आदिवासी एवं उनकी संस्कृति, नृत्य, भाषा, संवेदना आदि समग्र जीवन से अपना रहे संबल रखने वालों द्वारा ऐसी ही भावना से ओतप्रोत लिखी कविता को हम आदिवासी कविता कह सकते है। अर्थात आदिवासी कविता वह कविता है जिसमें आदिवासियों का जनजीवन, त्रासद, उनकी संस्कृति एवं मान्यताओं को उनके वास्तविक रूप में अभिव्यक्ति मिलाती है। आजादी के बाद हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को लेकर गैर आदिवासी लोगों ने लिखने का प्रयास किया जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र द्वारा जनाजातीय माँ का वर्णन करते हुए निम्नलिखित कविता द्रष्टव्य है–

"एक माँ
चल रही है सड़क पर
अपने बच्चों को
छाती से चिपकाए हुए
और अस्वस्थ है वह
कि प्रलयकाल तक
ले जायेगी उसे निकाल कर
चारो तरफ से
उमड़कर आ सही है आफतों से ।"[1]

हिंदी रचनाकारों ने आदिवासी समाज की पीड़ा को, इनकी सामाजिक वेदना को आधार बना कर जो लिखा है उसमें आदिवासी समाज की पीड़ा के विविध रूप देखने को मिलते हैं –

1. "हमारी धरती हमें वापस दे दो
हमें झंडे वाली आजादी नहीं चाहिए
वापस ले के रहेंगे, हम अपने जंगल
अपनी पगडंडियाँ अपनी लाल मिट्टी
खबरदार ! खबरदार !!
हम भूले नहीं है तीर धनुष चलाना
हमें नहीं चाहिए तुम्हारा पटना
नहीं चाहिए तुम्हारी नई दिल्ली ।"[2]

2. "पुलिस वाले पर आदमियों की आँख थी
इसलिए रंगतू की नंगी औरत
बाहर नहीं आ सकी
लेकिन भीतर
बच्चे उसके शरीर से पहनावे की तरह चिपके हुए थे"[3]

3. "अकेला चीख रहा है कुआरी रात का अवैध बच्चा
बादलों की जवान बेटियाँ
जिस्म की दुकान कर रही हैं ।"[4]

इन हिंदी के गैर आदिवासी रचनाकारों के अलावा आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन के संघर्ष को जैसा महसूस किया उसकी अभिव्यक्ति स्वानुभूति के आधार पर यथार्थ की कसौटि पर कसकर सामने लाया। आदिवासी कविता में केवल आदिवासी पक्षधरता की बात हुई है। आदिवासी रचनाकार अपने आदिवासी समाज के इर्द गिर्द जो जीवन संघर्ष और आत्म संघर्ष है उसी को ही शब्द दिया है। अनुज लुगुन की इस कविता में इस सत्य देखा जा सकता है–

''हमने कभी सल्तनत की कामना नहीं की
हमने नहीं चाहा कि हमारा राज्याभिषेक हो
हमारे शाही होने की कामना में रहा है
अंजुरी भर सपनों का सच होना
दम तोड़ते वक्त बाहों की अटूट जकड़न
और रक्तिम होठों की अंतिम प्रगाढ़ मुहर
हमने चाहा कि
पंडुकों की नींद,
गिलहरियों की धमाचौकड़ी से टूट भी जाये
तो उनके सपने न टूटे।''[5]

'विरसा मुण्डा याद' लिखते हुए हहिराम मीणा यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि विरसा मुण्डा ने किस तरह आदिवासी समाज के लिए ब्रिटिस हुकूमत के खिलाफ संघर्ष किया। वह अच्छी तरह से यह जानते थे की ब्रिटिश हुकूमत उन्हें बर्बाद कर देगी लेकिन वह हार

नहीं माने और संघर्ष करते रहे। कविता द्रष्टव्य है–

"मैं केवल देह नहीं
मैं जंगल का पुश्तैनी दावेदार हूँ
पुश्तें और उनके दावे मरते नहीं
मैं भी मर नहीं सकता
मुझे कोई भी
जंगलों से बेदखल नहीं कर सकता
उलगुलान!
उलगुलान!!
उलगुलान!!!"[6]

निर्मला पुतुल आदिवासी चिंतकों में अपनी अलग पहचान रखती हैं। मूलतः संथाली भाषा की कवयित्री हैं। 'नगाड़े की तरह बजते बजते शब्द' आदिवासी जीवन का जीवंत दस्तावेज है। उनकी सारी कविता स्वानुभूति पर आधारित है और वो निरंतर आदिवासी पक्षधरता पर लिखती रही हैं। निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्रियों की पक्षधरता देखने को मिलती है और वे ऐसे पुरूषों के खिलाफ हैं जो नारी को केवल भोग की वस्तु समझते हैं–

"ये वे लोग है जो दिन के उजाले में
मिलने से कतराते हैं
और रात अंधेरे में
मिलने को मांगते आमत्रण
ये वे लोग हैं जो
हमरे ही नाम पर लेकर
गटक जाते हैं हमरे हिस्से का समुद्र।"[7]

शोषण और उत्पीड़न आदिवासी समाज का अनादिकाल से हो रहा है। इतिहास विदित है कि कई महिलाओं ने अपने राज्य के रक्षार्थ लड़ाइयाँ लड़ी हैं। रोहतासगढ़ के रक्षार्थ आदिवासी महिलाओं की वीरता दर्ज है । उनके संकल्प का स्वर निम्न कविता में बड़ी सच्चाई के साथ उभर कर सामने आया है–

"संगी रे!
तानो अपना तरकस
नहीं हुआ है भोथरा अबतक
'बिरसा बाबा तीर'
कसकर थामो
टहनी पर अटके हुए
सूरज के लाल 'गोढा' को
गला दो अपनी हथेलियों की
गर्मी से
और फैला दो झारखण्ड की
फुनगियों पर
भिनसरिया में उजास
चटकने से पहले
बेध डालो
हां, बेध डालो
दामोदर की स्वर्ण रेखा को
काली नागिन बनने से पहले
कि देख सको तुम
उसके निर्मल जल में
सिर्फ
मछली की आँख
अर्जुन की तरह"[8]

इन कविताओं को पढ़ने के बाद इतिहास टटोलने पर यह साफ हो जाता है कि प्रकृति के साहचर्य में शांत जीवन जीने वाला आदिवासी अपनी अस्मिता के लिए भारी प्रतिरोध करते हैं और उस प्रतिरोध में महिलाएं बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेती हैं अर्थात तथाकथित सभ्य समाज से देश और समाज के प्रति उनकी भूमिका न कहीं कम है न जरूरत पड़ने पर कम होने वाली है। यह सत्य है कि प्रकृति का आदिवासी समाज ने दोहन किया लेकिन प्रकृति के साथ कहीं छेड़छाड़ नहीं की और न उनके अस्तित्व पर अपनी जरुरत का बोझ डाला। ऐसे

आदिवासी समाज के लोगों को सभ्य समाज के लोगों ने समय–समय पर विस्थापन का दर्द दिया जो न केवल हमारे देश में बल्कि पूरे विश्व के इतिहास की सच्चाई है। हरिराम मीणा 'खत्म होती नस्ल' कविता में इस सच्चाई की अभिव्यक्ति करते हुए लिखते है कि–

"हमें पता नहीं
हम बंदर की औलाद हैं
या भगवान की मंसा
मगर पैदा आदम–जात ही में हुए
x x x x
मगर–
जिन्होंने हमें गोलियों से भूना
वे इंसान थे
जिन्होंने हमें टापुओं के इधर–उधर खदेड़ा
वे इंसान हैं
और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेंगे
वो इंसान होंगे! "[9]

पूरे विश्व के साहित्य पर दृष्टि डालें हर कालखण्ड के इतिहास में सभ्य समाज के लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए भोले–भाले आदिवासियों को विस्थापित और प्रताड़ित किया है हरिराम मीणा 'कैसे करोगे साबित' कविता में इसको व्यक्त करते हुए लिखते हैं–

"सभ्यता के नाम पर
सभ्यता के नाम पर
आखिर कर ही दिये जाओगे बेखल
हजारों सालों की तुम्हारी
पुश्तैनी भौम से
कोई और होंगे अब कानूनी हकदार
नारियल के इन दरख्तों के
x x x x
ना ही है कोई दस्तावेजी सबूत
चश्मदीद गवाह भी तो नहीं है
बस अपने सिवा
तुम्हारी गवाही
कैसे होगी काबिले एतबार
फिर कैसे करोगे साबित
सभ्यता की इस अदालत में
कि यह 'भौम' तुम्हारी थी?"[10]

आदिवासी समाज के लोंगों के साथ सभ्य समाज के लोंगों का व्यवहार हमेशा छद्म और नोमाइशी रहा है लेकिन ऐसे भी सभ्य समाज के लोग रहे हैं जो आदिवासी समाज के साथ स्नेह और प्रेम का सम्बंध रखते थे; उनका प्रेम दिखावटी नहीं जमीनी था। लेखक हरिराम मीणा अपने अण्डमान निकोबार प्रवास के समय डी. एस. पी. रहे श्री बख्तावर सिंह से मिले जो मूलतः लुधियाना पंजाब के थे अब पोर्ट ब्लेयर के स्थायी निवासी हैं। लेखक ने उनसे बातचीत करके 'जारवा' आदिवासी के संदर्भ में बहुत कुछ जाना और प्रश्नों के माध्यम से आदिवासी समाज के जीवन के नीजी अनुभवों को देखने और महसूस करने की कोशिश की। इसी भेंट के आधार पर उन्होंने एक कविता लिखी; जिसमें आदिवासी समाज की पीड़ा और बख्तावर सिंह के आदिवासी प्रेम को दर्शाया है–

"इस बदहवासी
और स्वार्थी सभ्यता के बीहड़ों में
एक तुम ही तो नजर आये
प्रेम के पाखी
नहीं तो हमें लोग ऐसे मिले
जैसे कोई 'क्रेज' पाले हों
किसी बिरले वन्यजीव को देखने का
या बीड़ा उठा रखा हो
हमें हमारी भौम से खदेड़ने का
या फिर हमें बंदरों की तरह मान
खाद्य सामग्री देने का
ताकि खींच सके वो फोटो
और दिखाते रहें जिंदगी भर
कि वे भाग्यशाली हैं"[11]

आदिवासी औरतों के साथ सदियों से बाहरी लोगों ने अन्याय, अत्याचार और उनका शारीरिक शोषण किया। परिणामस्वरूप वो अपने समाज के द्वारा भी उपेक्षित की गयी। उनका उपयोग तो ईसाई मशिनरियों ने किया उन्हें अपने यहाँ शरण दी धर्म परिवर्तन करवाया। इस यथार्थ को हरिराम मीणा की इस कविता में बखूबी देखा जा सकता है–

"अब निकोबार में है वह
एक क्रिश्चियन मिशनरी में
उसका नाम मुझे याद नहीं
होगा कोई 'मेरी' या 'ऐनी"[12]

विकास ने सबसे ज्यादा नुकसान वनों का किया है। धीरे–धीरे नगरीकरण के कारण वन कटते गये पूरे विश्व में पर्यावरण का संकट गहराने लगा। अनियमित वर्षा और अन्य प्राकृतिक प्रकोप पर्यावरण असंतुलन के कारण होते जा रहा है। आदिवासी समाज का व्यक्ति इसीलिए जंगल की रक्षा करना चाहता है। इसी संकल्प की अभिव्यक्ति डॉ. रामदयाल मुंडा की इस कविता में देखने को मिलता–

"जंगल का आदमी
जंगल काट कर बर्बाद कर रहा है
इसीलिए इसकी रक्षा होनी चाहिए"
शायद इसीलिए इसकी
रक्षा हो रही है
टिम्बर मर्चेन्टस के गोदामों में
उनकी तिजोरियों में
नोटों के बंडलों के रूप में !
जंगल के आदमी को क्या मिला?
फल–फूलहीन कंटीली झाड़ियाँ
पानी के बहाव से निरंतर
छंटती जा रही
अनुर्वर जमीन ?"[13]

आदिवासी विमर्श या संदर्भ की जितनी कविताएं हैं सब प्रतिरोध की कविता इसलिए हैं क्योंकि वह लगातार सभ्य समाज के खिलाफ अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि मानवता के लिए लड़ रहा है। वह प्रकृति को बचाने के लिए लगातार प्रतिरोध कर रहा है। अगर तुम नहीं माने तो वह धनुष भले न उठाए कलम उठाकर उन सारी परिस्थितिओं के विरुद्ध लेखन के माध्यम से प्रतिरोध करेगा और अपनी वेदना को और संजीदा बनाने के लिए मादर तथा बासुरी बजायेगा। महादेव टोप्पो की कविता 'जंगल का कवि' में यह देखा जा सकता है–

''वह धनुष उठायेगा
प्रत्यंचा पर कलम चढ़ायेगा
साथ में बांसुरी और मादर भी
जरूर उठायेगा
जंगल के हरेपन को
बचाने की खातिर
जंगल का कवि
मांदर बजायेगा
बांसुरी बजायेगा
चढाकर प्रत्यंचा पर कलम''[14]

आदिवासी समाज आज भी विकास के अंतिम सोपान पर बैठा है। न तन ढकने के लिए उसके पास कपड़ा है, न शिक्षा, न घर में अन्न का एक दाना है। फिर भी अपने सारे तनाओं के बीच मादर की धुन पर नृत्य करता है, उसके पास दया है, प्रेम है, सहानुभूति है लेकिन न घर है न जीवन का कोई सुख। इस अनुभूति को कवि सहदेव सोरी 'वह आदमी' शीर्षक कविता के माध्यम से व्यक्त करते हैं साथ ही आदिवासी व्यक्ति का और उसके व्यक्तित्व का, उसकी जीवन चर्या का, उसके संघर्ष और वेदना का, उसके सुख दुख का रेखांकन करते हुए लिखते हैं–

''कई बार आज भी
लिए शरासन तीर से भरा निषंग
निर्जन वन की ओर

पाटने
चल पड़ता है
उदर की खाई
विकास के नाम पर उसके
छल / कपट
चांदी की कुर्सी पर बैठे
कई नर पिपासु
यह और बात है
फेहरिस्त में नहीं उसके
रंज का हिसाब
बैठा सुकून अट्टालिका पर जो
उतार कर हलक में रस ताड़ का
थिरक उठता है
मांदर की मधुर आवाज में
गलत नहीं होगा जिसे कहना
संसार का अद्वीतीय मानव"[15]

वन–प्रांतर में रहने वाला आदिवासी समाज अपनी जरूरत की चीजों की पूर्ति के लिए शहर आता है और जंगली उत्पाद को बेचता है । कभी महुआ, कभी शहद, कभी कंदमूल, कभी चिरौंजी, कभी जंगली मूर्गा, कभी जड़ी बूटिया सभ्य समाज के लोगों को औने–पौने दाम पर बेचता है और अपनी जरुरत की चीजों को लेकर जंगल की ओर लौट जाता है। वह हर नई सुबह शहर एक नई आस लेकर आता है पर प्रश्न है कि वह आस कितनी पूरी होती है। यह सवाल बने रहने की परिस्थितियाँ उसके सामने कल भी थी और आज भी है लेकिन वह उजाले की तलाश कर रहा है। भुवन लाल सोनी जिसको 'उजाले की तलाश में' शीर्षक कविता में तलाशने का प्रयास कर रहे हैं–

''दिन की खाक छानने के
बाद लुप्त होने लगते
धीरे–धीरे वनखण्ड की
अंधी गलियों में
मद–मस्त सराबोर हो
चले जाते गोद में
वन देवी की
हर सुबह
वे निकलते हैं
नई आस लेकर
विरक्तियों में
धूंधने उजाले का पता"[16]

हिंदी आदिवासी कविता के साथ–साथ कई आदिवासी भाषाओं में भी आदिवासी विमर्श देखने को मिलता है। हिंदी में उनके अनुवादित रूप आदिवासी समाज के जीवन संघर्ष को रेखांकित करने में कामयाब हुई हैं। भीली भाषा के कवि चामूलाल राठवा की एक कविता का हिंदी अनुवाद फूलचंद गुप्ता ने 'शूर हम मर्द हम' शीर्षक से किया है, जिसमें आदिवासी समाज के जीवन को रेखांकित करने में रचनाकार को कामयाबी मिली है। कवि चामूलाल राठवा ने भीली समाज के संघर्ष की ऐतिहासिक गाथा एवं महाराना प्रताप के साथ किये गये युद्ध की गाथा तथा मिथकीय संदर्भों के माध्यम से भीली समाज के इतिहास को इस कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है जो निम्न है–

''शूर हम मर्द हम धर्मी हम भील
जंगल के राजा हैं हम
हम बाघ के सवार
x x x x
बारह वर्ष तक लड़े हम
खाकर कंदमूल
राणा प्रताप का वेष धरकर
वही धर्मी हम भील
सच्चे मर्द हम भील
सच्चे मर्द हम भील
x x x x
वंसज हम एकलब्य के हैं

शबरी भील के वंशज हैं
हम धर्मी भील
दोनों के वंशों की लाज रखी हमने
दोनों के वंशों की लाज रखी हमने
हैं हम धर्मी भील
सच्चे मर्द हम भील
सच्चे मर्द हम भील"[17]

निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी स्त्रियों की पक्षधरता रखते हुए उनके विद्रोह के स्वर को उद्‌घाटित किया है। आदिवासी स्त्रियों के शारीरिक शोषण ने उन्हें मूलतः विद्रोही बना दिया यही वजह है कि निर्मला पुतुल ने 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' शीर्षक कविता में नारी शोषण के कई रूपों को प्रकट किया है और अंत में आदिवासी स्त्रियों की विद्रोही चेतना को निम्न कविता के माध्यम से प्रकट किया है वे लिखती हैं–

"चाहती हूँ मैं
नगाड़ों की तरह बजे
मेरे शब्द
और निकल पड़े लोग
अपने अपने घरों से सड़कों पर"[18]

नव निर्मित झारखंड राज्य खनिज सम्पदा की दृष्टि से सम्पन्न राज्य है लेकिन यह राज्य निर्माण और विकास के नाम पर विनष्ट होता जा रहा है, क्योंकि प्रकृति का दोहन संतुलित तथा पर्यावरण के नहीं हो रहा है। विकास के रथ पर सवार मनुष्य अपने स्वार्थ की अंधी दौड़ में दौड़ते हुए वह सोच नहीं पा रहा कि जिस अंधी दौड़ में वह दौड़ रहा है वह विकास का उजाला नहीं है विनास का अंधेरा है और सवाल यह भी है कि जिस विकास का लालच देकर आदिवासी क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा है, वहाँ आदिवासी समाज इस विकास की अंधी दौड़ से कितना लाभांवित हो रहा है। इस चिंता और मनुष्यता को महसूस कराने की कोशिश करती हुई सरिता सिंह बड़ाईक अपनी कविता 'सपनों का छोटा नागपुर' में लिखती हैं–

"विकास हो रहा है, ऊंचे–ऊंचे भवन बन रहे हैं
जंगलों को काटकर सजावट के उपस्कर बन रहे हैं
इधर गरीब खासते हैं
टूटी खाट में
रेजा, कूली कमाते आदिवासियों की रेंगती जिंदगी
अज्ञानता– निरक्षरता – डायन बिसाहिन के जाल में
उलझा हुआ छोटा नागपुर
बाल मजदूर, बंधुआ मजदूर
हाँडी– डारू का जानलेवा दस्तूर
खानों– खदानों, कच्चे माल की खान हैं
ह्रास है बस ह्रास है
कहाँ निर्माण है"[19]

इतिहास पर दृष्टि डालें तो पूरे मध्यकाल में धन सम्पदा के साथ–साथ भारतीय महिलाओं की आबरू लूटने वाले आक्रमणकारी विदेशी थे। आदिवासी स्त्रियों के साथ उनके समाज के लोगों ने कभी कुदृष्टि नहीं डाली बल्कि जंगल लूटने वाले व्यापारी, दलाल और सभ्य लोगों ने हमेशा आदिवासी स्त्रियों का शारीरिक शोषण किया जिसका उल्लेख निर्मला पुतुल 'बिटिया मूर्मु के लिए तीन कविताएं' शीर्षक से करती हैं–

वे दबे पांव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं
वे तुम्हारी आंखों की प्रशंसा में
कसीदे पढते हैं
वे कौन हैं....?
सौदागर हैं वे..... समझो....
पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू...पहचानो !
पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं
उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का
बचपन चित्कारता है

उन्हीं की गाड़ियों पर
तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग देखने
कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में
उतरती हैं
नगाड़े की आवाजें
कितनी असमर्थ बना दी गई हैं
जानो उसे ....।"[20]

अनेक कानून बनने के बाद भी यह परम्परा आज भी बे रोक–टोक जारी है। आदिवासियों ने समय–समय पर अपने अधिकार और स्वतंत्रता के लिए कभी शासन के खिलाफ, कभी जमींदारों के खिलाफ तो कभी विकास के नाम पर लूट रहे लोगों के खिलाफ विद्रोह किये। इतिहास साक्षी है राजस्थान, झारखण्ड में अपनी अस्मिता, संस्कृति और अपने जंगल को बचाने के लिए आदिवासियों ने बड़े आंदोलन किये हैं। समय–समय पर आदिवासियों द्वारा किए गये आंदोलनों को सरकार द्वारा बड़े बर्बर तरीके से दबाया गया। उनके नेताओं को जेल में डाल दिया गया। इसी तरह का एक आंदोलन झारखण्ड के नेतरहाट में हुआ था। नेतरहाट के फायरिंग रेंज के खिलाफ चलाए जा रहे आंदोलन में गाये जाने वाले मूल रूप से कुडुख भाषा के गीतों का हिंदी अनुवाद सुनील मिंज द्वारा किया गया जिसमें विद्रोह की अभ्व्यक्ति निम्न शव्दों में हुई है–

"हमारे क्षेत्र में कैसी लड़ाई उठी है
कैसी लड़ाई उठी है कैसी लड़ाई उठी है
नरसंहार होगा रक्तपात होगा
इस लड़ाई में इस लड़ाई में
नेतरहाट में फायरिंग रेंज के विरुद्ध
उठी है लड़ाई उठी है लड़ाई
नरसंहार होगा रक्तपात होगा
इस लड़ाई में इस लड़ाई में
x x x x
लुट जाएंगे गाछ–वृक्ष
होगी बेदखली
इन्हें बचाने की खातिर
नरसंहार होगा
रक्तपात होगा
इस लड़ाई में इस लड़ाई में"[21]

आदिवासी समाज को जब लगने लगता है कि दिकुओं (बाहरी) के द्वारा उन्हें लूटने की कोशिश होगी तब अपने अस्तित्व को बचाने लिए अपने पूरे समाज के साथ आंदोलन के लिए तैयार हो जाता है । जिसकी अभिव्यक्ति निम्न कविता में देखने को मिलती है, जो मूल रूप से कुडुख भाषा में है जिसका हिंदी अनुवाद सुनील मिंज ने किया है–

"चलो भाई लड़ाई करने जाएंगे
चलो बहना लड़ाई करने जाएंगे
डेकची–बासन बर्तन लेकर
कपड़े और लत्ते भी लेकर
बाल–बुतरू को भी बुलाकर कर
करो जमा / सभी बैठेंगे सत्याग्रह में
चलो भाई लड़ाई करने जाएंगे
लड़ाई करने जाएंगे''[22]

आदिवासी समाज का व्यक्ति अपनी मातृ–भूमि से बहुत प्रेम करता है। वह जानता है कि इस मातृ–भूमि, इस जंगल ने सदियों से उनके पूर्वजों और उनका पालन पोषण किया। इसलिए सभी छोटा नागपुर रहने वाले आदिवासियों को अपने वतन न छोड़कर जाने को सलाह देता है क्योंकि अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उनके पूर्वजों ने समय–समय पर बड़े बलिदान दिये हैं। बिरसा मुण्डा झारखण्ड में ब्रिटिस हुकूमत की नीव हिला दी थी और लम्बे समय तक आदिवासी समाज की अस्मिता हेतु संघर्ष किया। इसीबात की अभिव्यक्ति निम्न कविता में देखने को मिलती है इसका भी कुडुख भाषा से हिंदी में अनुवाद सुनील मिंज द्वारा किया गया है–

''ऐ रे नागपुरियो
किधर जा रहे हो ?
अपने राज्य को सूना करके
अपने देश को सूना करके
लौट जाओ लौट जाओ मेरे भाई
ऐ रे नागपुरियो ......
मां–बाप भाई–बहन
और हमारे पुरखों ने
असह्य दुख–तकलीफ झेला
अपने प्राण तक दिए गवां
न जाओ मेरे भाई–बहनों
लौट आओ–लौट आओ मेरे भाई
ऐ रे नागपुरियो.....''[23]

खड़िया भाषा में प्यारे केरकेट्टा ने कई आदिवासी कविताएं लिखी और हिन्दी में उसका अनुवाद स्वयं किया जिनमें आदिवासी समाज और परिवेश का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। आदिवासियों का प्रकृति से बड़ा गहरा सम्बंध है। प्रकृति की सारी हलचल आदिवासी चेतना की कविता में देखने को मिल जाती है। प्रकृति हमेशा अनुकूल ही नहीं रहती प्रतिकूल भी होती है। अभाव की जिंदगी जी रहा आदिवासी प्रकृति के प्रकोप में भी भयभीत नहीं होता बल्कि बासुरी बजाकर अपनी खुशी का इजहार करता है। प्यारे केरकेट्टा की आंधी कविता में इसी भाव की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है–

"आंधी तूफान आता है
पूरब–पश्चिम चारों ओर
अंधकार छा जाता है
तब जाने कौन युवक बजाता है बांसुरी
आवाज गूंजती ऊपर नीचे
आंधी तूफान आने पर बजती है बांसुरी
साफ साफ सुनाई पड़ता है
अगुवा जब बजाता बांसुरी
कहता वह–
नींद तोड़ो   नींद तोड़ो
उठो जागो   उठो जागो !"[24]

खड़िया आदिवासी भाषा के कवि नुअस केरकेट्टा सभ्य समाज के कारण आदिवासियों पर आये संकट के लिए अपने समाज को जगाता है, क्योंकि कवि जानता है कि दिकुओं के खिलाफ सशस्त्र युद्ध नहीं करेगा तो उसकी अस्मिता आक्रमणकारियों द्वारा समाप्त कर दी जायेगी। इसलिए खड़िया समाज के लोगों को बराबर ललकार उठाने की सलाह देते हुए कहता है कि चाहे जीवन रहे या न रहे युद्ध भूमि से वापस नहीं आना है। हमें तब तक लड़ते रहना है जबतक हम युद्ध भूमि में विजय नहीं प्राप्त कर लेते। इस भाव की अभिव्यक्ति उनके इस कविता में देखने को मिलती है

"जागो नींद त्यागो ऐ खड़िया वीरों
आंखें खोलो
उठो रात समाप्त हुई
ऐ खड़ियां वीरो !
x x x x
बैरी दुश्मन अनाथ देखकर
चाहते रौदना खनकाओ अपनी तलवारें
ऐ खड़िया वीरों
ऐ खड़िया वीरों .
x x x x
माथ ऊंचा रखो
हाथ उठाओ और
करो जय–जयकार
खड़ीया जन की जयकार करो
खड़िया जन की जय
खड़िया जन की जय"[25]

सत्य नारायण मुण्डा द्वारा मुण्डारी आदिवासी कविताएं आदिवासी समाज की संवेदना को प्रकट करती

है। सदैव से आदिवासी समाज का व्यक्ति संतोषी रहा है और अपने क्षेत्र के लोगों को और उनके परिवेश को सहज और समृद्ध माना है। अपने क्षेत्र का प्रकृति सौंदर्य देखकर वह आह्लादित होता है। वह चाहता है कि आदिवासी समाज का व्यक्ति हर तरह से अपने आस पास की प्राकृतिक सम्पदा को बचाये रखे। सत्य नारायण मुण्डा ने 'धन सम्पदा से परिपूर्ण राज्य' (मूल रचना मुडारी भाषा में है स्वयं द्वारा हिंदी में अनुवाद) शीर्षक कविता में अपनी अभिलाषाओं को निम्न शब्दों में प्रकट किया है–

"हमें सौंपा है हमारे पूर्वजों ने
धन संपदा से संपन्न
अपना देश
मानवता से परिपूर्ण
अपना देश सौंपा है
चलो–चलो
बचाने चलें मानवता का अस्तित्व
मुर्गा बोल रहा है
कर रहा है आह्वाहन
चलो–चलो उठो भाई
हमारे पूर्वज हमें रहे हैं देख
चलो–चलो धन संपदा से
परिपूर्ण देश बचाने– चलो चलो !"[26]

आदिवासी मौखिक परम्परा में ढेर सारे लोक गीत देखने को मिलते है जिनमें इनकी सांस्कृतिक हलचल प्रकट होती है। उनके अलग–अलग अवसरों पर गाये जाने वाले संस्कार–गीत की अलग–अलग बानगी हमें देखने को मिलते है। अनुज लुगुन की कविताओं में आधुनिक समकालीन आदिवासी लेखन, आदिवासी जीवन के ढेर सारे स्वर जिसमें विद्रोह, संघर्ष और पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है आज की कविताओं में बिरसा मुण्डा प्रतिरोध के महान प्रेरक नायकों की तरह स्वाभाविक ढंग से आते हैं परन्तु आज का दृश्य विवसता से भरा है–

"इसी जंगल के बीच
लगती है अदालत
जहाँ जमींदार की जमीन पर
लालझंडा गाड़कर
उसकी जमीन बांट दी गई
इसी अदालत में मुनिया के साथ
हुई बदसलूकी की सजा
मौत दी गई
इसी अदालत में
जनता को दिखी थी
पहली बार अपनी परछाई ।"[27]

इस तरह हम देखते हैं कि आदिवासी संदर्भों पर केंद्रित रचनाएं आदिवासी समाज के विस्तृत यथार्थ को सामने लाती है चाहे वह हिन्दी आदिवासी कविता हो चाहे विभिन्न आदिवासी भाषाओं में लिखी आदिवासी कविता। इन सारी कविताओं का मूल कथ्य यही है कि आदिवासी समाज की पक्षधरता के साथ–साथ उनकी अस्मिता, उनकी पीड़ा, शोषण और उनकी संघर्षगाथा के अनेक चित्र आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों की कविताओं में प्रकट हो रहे हैं जो समकालीन हिन्दी कविता में एक नए स्वर के रूप में संग्रहित हो रहे हैं।

संदर्भ

1. मिश्र भवानि प्रसाद, व्यक्तिगत (काव्य संग्रह), 1974 सरला प्रकाशन पृ. 33
2. सम्पादक शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली भाग 2 पृ. 38, उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ. 214
3. लीलाधर जुगड़ी बची हुई पृथ्वी, 2003 राजकमल पृ.101–102,उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में

आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ.214
4. डॉ. रणजीत, हिंदी के प्रगतिशील और समकालीन कवि पृ. 306,उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ. 215
5. सं. मीणा, हरिराम, 'समकालीन आदिवासी कविता', अलख प्रकाशन, जयपुर प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 15
6. सं. मीणा, हरिराम, 'सुबह के इंतजार में', शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008 पृ. 9
7. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ. 53, उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ. 217
8. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 22–23
9. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 28
10. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 29
11. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 31–32
12. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 32
13. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 46
14. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 47–48
15. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 56
16. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 58
17. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 67–68
18. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द पृष्ठ 93, उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ. 220
19. सरिता सिंह बड़ाईक की कविताएँ पृ. 28, उद्धृत डॉ. इसपाक अली, हिन्दी में आदिवासी साहित्य, साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2016. पृ. 224
20. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 72–73
21. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ. 79–80
22. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ. 81–82
23. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ 83–84
24. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ. 87–88
25. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ. 90–91
26. संपा. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर नई शताब्दी वाणी प्रकाशन 2014. पृ. 112–113

हिन्दी

निराला के गीतों में युगबोध

–डॉ०श्‍ यामसुन्दरप्र साद*

महाकवि निराला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे युगान्तरकारी कवि है, जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है, अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोह की घोषणा सुनाई पड़ती है, और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है। ऐसा क्रांतिकारी कवि एक ओर अपनी ओजस्वी कविता द्वारा ज्वालामुखी का विस्फोट भी करता है, तो दूसरी ओर नारी के दिव्य सौदंर्य की अलौकिक झॉकी प्रस्तुत करता हुआ प्रेम के मर्मस्पर्शी गीत भी गाता है।

निराला के गीतों में तत्कालीन समाज का युगचित्रण भरा पड़ा हैं। निराला का कवि हृदय तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था मानव की पीड़ा ने उन्हें व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन वेदना टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट–कूट कर भर दिया था। उच्चवर्ग की तानाशाही ने उन्हे वर्ग –विद्रोह के लिए विवश किया था, सामाजिक वैषम्य ने उन्हे तत्कालीन समाज में क्रांति उत्पन्न करके एक नये समाज की रचना हेतु प्रेरित किया था। अतएव निराला ने ऐसे गीतों का सृजन किया है, जिसमें क्रांति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है, जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है, यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'वादल–राग' कविता में बादल से समाज में नवक्रांति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल–पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करते हुए कवि लिखता है–

''झूम–झूम मृदु गरज–गरज धन घोर !
राग –अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर –गिरि –सर में,
घर, मरू, तरू–मर्मर, सागर मे,
सरित–तड़ित–गति–चकित पवन में,
मन मे, विजन–गहन कानन मे,
आनन–आनन मे, रव–धोर कठोर–
राग–अमर! अम्बर में भर निज शोर!''

कवि का युगवोध और देखिए, कवि अपने आगमी 'बादलगीत' में भारत के जीर्ण–शीर्ण किसानों की दयनीय स्थिति पर ऑसू वहाता हुआ बादल से अनुरोध कर रहा है कि– ''हे वज्र गर्जन के घनी एवं विप्लव के वीर वादलों। तुम भारत के इन भयभीत, नयन–मुख ठॉपे हुए, जीर्ण बाहु एवं शीर्ण शरीर कृषकों– की पुकार को सुनकर यहाँ विप्लव मचाने के लिए अवश्य पधारों–

''जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,

*एसोसिएट प्रोफेसर, नालन्दा कॉलेज, बिहारशरीफ (नालन्दा), बिहार

ऐ विप्लव के वीर ।
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार ! ''

उक्त भावनाओं से कवि उस समय का जो युग चित्र था, उसे खीचने का सार्थक प्रयास अपने गीतों के माध्यम से किया है। कवि अपनी लेखनी के माध्यम से सामाजिक विषमता, दरिद्रता एवं पराधीनता से व्यथित वेचैन होकर समाज में नई क्रांति मचाना चाहता है, जिससे सारे समाज में नव चेतना का उदय हो, सभी समान रूप से सुख–समृद्धि के अधिकारी हो, सबको स्वतन्त्रता के साथ जीवन यापन करने की सुविधाएँ प्राप्त हों और सभी समाज के अभिन्न अंग बनकर संगठित रूप में जीवित रहें। कवि तो अपने युग के सशक्त हस्ताक्षर थे तभी तो मस्ती में गाते हुए लिखते हैंः–

''गीत गाने दो मुझे तो, वेदना को रोकने को।
चोट खाकर राह चलते, होश के भी होश छूटे ,
हाथ जो पाथेव थे , ठग– ठाकुरों ने रात लूटे, ।।[59]

कविवर निराला ने समुन्नत विचारों से ओत प्रोत होकर 'माँ सरस्वती' की वन्दना करता है और उनसे भी भारत में स्वतंत्रता की अमर ध्वनी को भरने की प्रार्थना करता है। साथ ही वह समस्त बँधन को काटने, कलुष एवं अन्धकार को हटाकर प्रकाश भरनें और स्वातन्त्रय नभ के विहय–वृन्द सरीखें भारतवासियों को नव गीत, नवलय, अवीन ताल छन्द, नवल कंठ, नव ध्वनी नवीन पंख एवं नवीन स्वर प्रदान करने की याचना करता है जिससे सर्वत्र स्वाधीनता का अनर राग सुनाई दे।

''वर दे, वीणावादिनी वर दे !
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत– मन्त्र नव,
भारत में भर दे।
काट अन्ध–उर के वन्धन –स्तर
बहा जननि, ज्योर्तिमय निर्झर !
कलुष भेद तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

यह है महाकवि निराला का उदार राष्ट्रीयता की भावना जिससे प्रेरित होकर कवि अपने युग के लोगों का अपनी लेखनी एवं गीतों के माध्यम से आहवान करता है, यह सबसे बड़ा युगबोध है। कवि स्वातन्त्रय देवी के प्रति अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदैव उद्यत रहता है।

कवि का ध्यान उस विधवा की ओर भी जाता है। जो समाज से पूर्णतः आज भी हेय दृष्टि से देखा जाता है। कवि की पैनी दृष्टि उस युग का चित्रण कितना सटीक एवं मार्मिक ठंग से किया है। यह इनके युगबोध का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें कवि ने 'वह तोड़ती पत्थर' नामक कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। जिसमें कवि कहता है कि कुछ व्यक्ति तो आलीसान भवनों मे सुख और चैन की जिन्दगी वसर करते हैं, और कुछ व्यक्ति दिन–रात जी तोड़ परिश्रम करके भी अपना पेट नहीं भर पातें है। इसी समाज की विषमता ने उस पत्थर तोडने वाली श्रमिक युवती के जीवन की करूण गाथा को काव्यरूप देने के लिए कवि को बाध्य किया है, जो इलाहाबाद पथ पर पत्थर तोड़कर अपना पेट पालती है।

''वह तोड़ती पत्थर।
मैने देखा उसे इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बधाँ यौवन,
नत नयन , प्रिय कर्म रत मन।''

कवि की संवदेना एवं सहानुभूति, जो सामाजिक वैषम्य से प्रताड़ित मानवों से प्रति सहसा उसके हृदय से फूट निकली है, और हिन्दी काव्य की अमर पंक्ति बनकर आज विद्यमान है। तभी तो कवि निराला का हदय उस 'भिक्षुक' को देखकर अत्यधिक व्यथित एवं बेचैन हो उठा

है, जिसके भूख के मारे पेट और पीठ दोनों मिलकर एक हो गये है, जो लाठी के सहारे जैसे–तैसे चल रहा है, जो मुट्ठी भर दाने के लिए अपनी फटी पुरानी झोली फैला देता है, जिसके साथ उसके दो बच्चे भी हाथ फैलाकर चल रहे हैं, जो कभी सड़क पर पड़ी जूठी पत्तलों को चाटने लगते हैं, और जो सामाजिक वैषम्य के ज्वलंत प्रतीक बनकर समाज की कठोर छाती पर जीवित है।

''वह आता –
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को भूखमिटाने को,
मुहँ फटी पुरानी झोली को फैलाता ।
वह आता
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।''

इस तरह कवि निराला के इन गीतों में युग–युग से प्रताड़ित, प्रपीड़ित एवं प्रवंचित मानवता पर होने वाले वज्र प्रहार की प्रतिक्रिया गूँज रही है, मानव को कायरता एवं क्लीवता से जगाकर नये युग के निर्माण की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा भरी हुई है, और हीनता की भावना को दूर करके मानव–महत्ता को जाग्रत करने के लिए आत्मविश्वास की प्रबल भावना जगाने की अदम्य शक्ति मुखरित हो रही है, जिससे भारतीय मानव परतन्त्रता के दुर्दमनीय अत्याचारों से मुक्त होने के लिए बल प्राप्त कर सका है, और भारत माता के बन्धनों को काटकर नये स्वर, नयी गति नयी लय और नये ताल छंद में स्वाधीनता के नये–नये गाने में सर्मथ हुआ है। कविवर निराला के काव्य में प्राचीन रूढ़ियों का विध्वंस करके नवीन युग के निर्माण की अदम्य शक्ति एवं परतन्त्रता के कठोर बंधनों को काटने की अदभूत क्षमता भरी हुई है। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में उस समय का युगबोध है, जो मानवों के कल्याणार्थ ही लिखी गई है। ऐसे गहाकवि विरले ही होते है, जिनके बताए रास्तों पर चलकर 'मानव–कल्याण ' संभव है।

संदर्भ

1. 'बादल राग' (कविता)– महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –53)
2. 'बादल राग' (कविता) – महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –56)
3. 'अर्चना' (काव्य संग्रह) – महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –171)
4. 'गीतिका' (काव्य संग्रह) – महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –74)
5. 'अनामिका' (काव्य संग्रह) – महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –118)
6. 'भिक्षुक' (कविता संग्रह) – महाकवि निराला (पृष्ठ संख्या –203)
7. 'राग विराग' (कविता संकलन)– सम्पादक पं0 रामविलास शर्मा
8. 'निराला' (मूल्यांकन) – डॉ0 इन्द्रनाथ मदान
9. 'महाप्राण निराला'– गंगा प्रसाद पाण्डेय
10. 'निराला की कविताएँ और काव्य भाषा' – डॉ0 रेखा खरे

हिन्दी

प्रसाद की सृजन चेतना

–डॉ०ऋ चा सिंह*

''जयशंकर– प्रसाद'' छायावाद के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार के रूप में समादृत है। छायावाद द्विवेदी युगीन इतिवृत्तमकता के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह माना जाता है। छायावाद रीतिकालीन रूढ़िता और ऐद्रिक विलास प्रियता का अपवर्जन कर के उपयोगितावाद के प्रति भावुकता, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातत्य का और के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह है। छायावाद पीड़ा, अभावों और दबावों के बीच पनपी हुयी वह परम्परा है जो नवीन उत्साह, सुखद जीवन की अभीप्सा का आलेख प्रस्तुत करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ''छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत कथन'' सही अर्थो में छायावाद जीवन के अनुभूति पूर्ण मार्मिक भावों को अभिव्यक्ति है। वह अर्न्तजगत की छायावत सौन्दर्य समन्वित सुकुमार भावानाओं का नवीनता पूर्ण शैली साथ चित्रण है जिसमें केन्द्रीय तत्व के रूप में विद्यमान है।

छायावाद वेदना के आध्यात्मिक सौर्न्दय ने सबसे अधिक आकृष्ट किया है इसमें संयोग जनित प्रेम की अपेक्षा वियोग जन्य प्रेम का आधिक्य ही अधिक दिखायी देता है वियोग से प्रेम के मधुर समारम्भ की परिकल्पना 'प्रसाद' में अधिक मुखर है। कविता पर अंग्रेजी रोमान्टीसिज्म के प्रख्यात कवियों वर्डसवर्थ, कीट्स, शेली तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्व0 जयशंकर प्रसाद प्राचीन चेतना से जोड़ कर चलने वाले एक विशिष्ट रचनाकार है जो नारी तथा प्रकृति के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण, लाक्षणिक प्रयोग, व्यंजकता, नये प्रतीकों तथा नये बिम्बों के प्रति आग्रही रहे है वे रूप साम्य तथा धर्मसाम्य से आगे बढ़कर प्रभाव साम्य प्रकृति के आधार पर करते है।

ब्रज भाषा में काव्य–रचना का आरम्भ करने वाले 'प्रसाद' ने आगे चलकर खड़ी बोली, साहित्यिक हिन्दी की परिवर्तित होती हुयी स्थिति को आत्मसात किया तथा उसका रचनात्मक प्रयोग प्रारम्भ किया। गद्य–भाषा के रूप में वे खड़ी बोली का प्रयोग अपनी ''इन्दु'' पत्रिका में तथा कथा रचनाओं में करने लगे थे। भाषा के स्तर पर 'प्रसाद' निरन्तर प्रयोगशील बने रहे तथा समर्थ भाषा में अपने को ढालते रहे।

रचनाओं मे ''चित्राधार'' कानन–कुसुम, करूणालय, 'महाराणा का महत्व', 'प्रेम–पथिक' तथा 'झरना' में निरन्तर भाषिक प्रयोग करते रहते है। आंसू, 'लहर' तथा कामायनी तक आते–आते वे शुद्ध संस्कृत निष्ठ शब्दावली का साभिप्राय, साहित्कार प्रयोग करते है। वे वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत से सीधे शब्दों को खड़ी बोली की रचनाओं में प्रयासपूर्वक रचते जोड़ते चलते है अभिव्यंजना की इसी विशेषता का उल्लेख एक विशेष पद्धति के रूप में आचार्य शुक्ल ने छायावादी रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में किया है स्मृति प्रधान, विकल्प–प्रणय गाथा का विरह प्रधान ''आंसू'' की एक

*एसो0 प्रोफेसर, हरिश्चन्द्र पी.जी. कालेज, वाराणसी (उ0प्र0)

निष्ठता, प्रेम की पदिमता, उपालम्ब और वेदना के लोक मांगलिक उन्नयन का अद्रभुत संसार प्रस्तुत करते चलते है। मर्मस्पर्शी भावनाओं के प्रकाशन, रहस्य की झलक और अभिव्यंजना की सूक्ष्म पद्धति की दृष्टि से ''आंसू'' प्रसाद की एक अप्रतिम रचना है रचना प्रक्रिया, भाषिक संरचना की प्रौढ़ता का परिचय उनकी 'लहर' रचना में मिलता है संगीततत्मकता, प्रवाह, प्रणय—भावनाओं की सरल तथा निमग्न कर देने वाली तन्मयता की लहरें इसकी प्रत्येक रचना उठाती है। ''कामायनी'' 'प्रसाद' की अप्रतिम रचना है जो 15 संग्रह में निबद्ध प्रबन्ध— है इसमें सृष्टि के विकास की मनोवैज्ञानिक कथा है जो मनु एवं श्रद्धा के माध्यम से वर्णित है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' के 'आमुख' में लिखा है..'' यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक कामी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है'' कामायनी की कथा मानवन्यन के विकास की वास्तविक रूपक—कथा है।

'कामायनी' 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ अन्तिम कृति है इसका प्रकाशन वर्ष 1936 में हुआ है 'कामायनी' मानवीय संस्कृति और मानव—मन के इतिहास के क्रमिक विकास का प्रतीकात्मक आख्यान है। इस में न मंगला चरण है नही रीतिकालीन शास्त्रीयता का गतानुगतिक मोह इसकी कथा प्रकृति के विराट चित्रफलक पर उभरती है यह देव जाति के विगत वैभव और मानव के इतिहास की आकुल चिन्ता से प्रारम्भ हो कर समरस प्रौर अखण्ड आनन्द की उपलब्धि तक ऊपर तक उठती है। प्रेम, सौन्दर्य प्रकृति, मानवतावाद, मनौवैज्ञानिकता, अद्वैत दर्शन, मानवीकरण, नारीभाव, मिथक, प्रतीक, बिम्बविधान, संगीतमयता और भाषा की उदात्त रचनाशीलता की दृष्टि से ''कामायनी'' अद्‌भुत व विशिष्ट संरचना है। 'प्रसाद' की प्रारम्भिक रचनाओं ''कामना'' तथा 'एकघूंट' के पात्रों में प्रतीकात्मकता संकेत उभरता है। इन रचनाओं में पात्रों के लिए मनाविकारों का प्रयोग किया गया है कामगोजा श्रद्धा की, 'मनु' मन का तथा 'इड़ा' बुद्धि की प्रतीक है।

'कामायनी' जलप्लावन के विश्रत मिथक के आधार पर सृजित, देव सृष्टि के एक मात्र अवशेष 'मनु' की चिन्ता से प्रारम्भ आख्यान को समास आनन्द की भूमि तक उठाने वाला महाकाव्य है। हम 'कामायनी' की सृजनात्मक चेतना की चर्चा यही से प्रारम्भ कर सकते है भारतीय साहित्य में चेतना का सामान्य अर्थ है संज्ञा—ज्ञान और विशिष्ट अर्थ है परम सत्य की अनुभूति महर्षि अरविन्द ने परम तत्व की सतत् अनुभूति को ही सच्ची चेतना का अवतरण कहां है। प्रत्येक आस्थावादी आस्तिक चेतना की अनुभूति के बल पर ही सतत् शान्त और प्रसन्न रहता है कामायनी चेतना है, मूलशक्ति है, श्रद्धा है वह मनु को जड़ता से चेतनता की ओर, चिन्ता से आनन्द की ओर और प्रेम से श्रेय की ओर उन्मुख और अग्रसर करती है।

'मनु' 'चिन्ता' से संघर्ष तक ममता के लिये व्यस्त अनुरक्त रहते है। वे श्रद्धा को गर्भवती छोड़कर ईर्श्यावश यायावर बनते है। इड़ा को पाकर श्रद्धा को विस्मृत कर देते है। वे जीवन में केवल सम्पन्नता, सर्वाधिकार के मद में झूमते रहने को आतुर है यही राजमद—कामकद और ममता मद उनके सम्पूर्ण पतन का कारण बनता है वे विषम स्थिति में, भंवर में फंस जाते है घृणा और प्रतिशोध से वे विक्षिप्त हो जाते है उन्हे लगने लगता है कि जीवन चारों ओर से अंधकार से घिरा है। कहीं आशा नहीं, प्रकाश की किरण नहीं वे 'निर्वेद' सर्ग में कहते है—

''शापित—सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूं,
उसी खोखलापन में जैसे कुछ खोजता अटकता हूं।''

मनु मार्ग भ्रष्ट है उन्हे जीवन मे कोई रस नहीं मिल रहा है उन्हे जीवन खोखला, शून्य और असफल लगने लगता है। उन्हे लगने लगता है कि जीवन में चारो ओर अन्धकार और वेदना है दर्द है पीड़ा है वे संसार से भागना चाहते है उनके भीतर ग्लानि—पश्ताप की आंधी उठती है। इड़ा उन्हे असहाय छोड़ देती है ऐसी द्वन्द्वमें मनु से श्रद्धा का पुर्नमिलन होता है मनु को अपनी मूल का एहसास होता है वे अर्न्तमुखी होकर सत्यज्योति की

खोज में संलग्न होते है 'प्रसाद' आसक्ति से मुक्ति के लिए दिव्य चेतना की दिशा में अग्रसर होने पर बल देते हैं ''प्रकृति की ओर वापस लौटो'' की पाश्चात्य चेतना को नायक से, मनु से जोड़ देते है ''अपनी भीतरी शक्ति को हृदय तत्व को मनु पहचानते हैं और अन्त में समरसता को प्राप्त होते है। योग मुक्त ही शांति का, सहजता का अधिकारी हो सकता है गीता में अध्याय–दो के 66वें श्लोक में कहा गया है

''नास्ति बुद्धियुक्तस्य न चायुक्तभावना।

न चामावयतः शान्तिशाकुतः सुखम्''

(गीता 2–66)

योग मुक्ति की स्थित स्थिति प्रज्ञ की स्थिति है, यह अखण्ड आनन्द का भाव है योगी अथवा भगवद् भक्त की एक ही कामना होती है–

''बीना बजाओ हे मम अन्तरे।

सजने बिजने बन्धु, सुखे,दुखे,विपदे,

आनन्दित तान सुनाओ हे मम अन्तरे (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) यह आनन्द की तान हृदय की रागिनी है यही ''तुमुन कोलाहल कलह में ''हृदय की बात है यही समदृष्टि है यही अभेदत्व है 'कामायनी' महाकाव्य में श्रद्धा आत्मा वही यहां कल्याणी है वह विश्व–चेतना है वह दिव्य है, सर्वमंगला है वह मनु–इड़ा को चेतना से जोड़ने वाली कड़ी है 'मनु' ने श्रद्धा को पाकर भी ममत्व की महती महत्वाकांक्षा के कारण छोड़ दिया था वे केवल श्रद्धा के शरीर को चाहने लगे, उसकी आत्मा को, दया, माया ममता, मधुरिमा को वे भूल गये। यही भूल उनके लिए शूल बन गयी कामने इसी मूल ओर मनु आगाह किया है

'मनु तुम श्रद्धा को गये भूल'

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।

समरसता है सम्बध बनी अधिकार और अधिकारी की। (इड़ा सर्ग)

पुरुषार्थ–काम के मोह में मनु का विवके नष्ट हो गया। ''वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी'' 'चेतनता' आत्मा का प्रकाश तत्व है। प्रसाद ने 'कामायनी' को विश्व–चेतना जाग्रत करने वाले प्रबन्ध के रूप में सृजित किया है यजुर्वेद (19/19) में प्रार्थना है, हे ईश्वर तुम तेज हो, मुझे तेजस्वी बनाओ, तुम वीर्य हो, मुझे वीर्यवान बनाओ, तुम बल हो मुझे बलवान बनाओ, तुम शक्ति हो मुझे शक्तिशाली बनाओ, तुम साहस हो मुझे साहसी बनाओ।'' मनुष्य स्वंय आत्मा है। वह चेतनता का भण्डार है सम्यक ज्ञान विवक के लिए ध्यान और सतत चिन्तन की आवश्यकता होती है प्रार्थना हमे उस परमशक्ति से जोड़ती है, जो सारी चेतना का स्त्रोत है।

भगवान बुद्ध ने कहां था ''मनुष्य अपने में स्वंय पूर्ण है, आत्म साक्षात्कार कहीं बाहर से न होकर, उसके भीतर ही मूलतः होता है। उनका आर्कवचन है''– अप्पदीपोभव'' स्वयं अपना प्रकाश बनो। मनु अपनी दृढ़ता से चिन्ता निराशा से मुक्त होकर आत्म दर्शन करते हैं। श्रद्धा की प्रेरणा से इड़ा भी स्वंय को पहचान पाती है प्रसाद आस्थावाद से विश्व–चेतनावाद का आख्यान 'कामायनी' में प्रस्तुत करते है और भाग लेने नही देने के भाव को सर्वोच्च सम्मान देते है।

हिन्दी

नागार्जुन : जनचेतना के कवि

–गीता*

नागार्जुन के जन में शोषित–पीड़ित, किसान–मजदूर शामिल हैं, की मुक्ति के लिए साहित्य रचे हैं। इस वर्ग के साथ उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता स्पष्ट है। इसकी घोषणा करते हुए वे लिखते हैं–

"प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ

बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त [8]

नागार्जुन का यह 'जन' इस देश का बहुसंख्यक आम आदमी, किसान, मजदूर हैं। जो सदियों से शोषित–पीड़ित रहा है और जो आज भी मुक्ति की राह देख रहा है। इस दृष्टि से इस वर्ग के साथ उनकी गहरी प्रतिबद्धता बेहद प्रशंसनीय हैं उनके संबंध में रोचक तथ्य यह है कि उनसे उनकी प्रतिबद्धता उनके साहित्य तक सीमित नहीं है, बल्कि वह उनके सार्वजनिक जीवन में भी दिखायी देती है। एक सक्रिय राजनीतिक, सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में विभिन्न आंदोलनों से न सिर्फ जुड़ना बल्कि जरूरत पड़ने पर जेल तक की यात्रा करना उसकी इसी प्रतिबद्धता के ज्वलंत उदाहरण हैं।

जब समाज के सर्वहारा–वर्ग द्वारा पूँजीपति वर्ग का प्रभुत्त्व खत्म कर अपनी सत्ता स्थापित की जाती है, तो उसे जनताका जनवाद कहते हैं। इस क्रांति को सर्वहारा क्रांति कहा जाता है। सर्वहारा क्रांति का उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था कायम करना होता है। इसलिए इसे समाजवादी क्रांति भी कहा जाता है। इस जनवाद में जनता सामंती व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकती है। इस जनवाद की स्थापना में सामान्य जनता अर्थात् किसान, मजदूर स्वयं क्रांति का नेतृत्त्व करते हैं। वे पूँजीवादी व्यवस्था ध्वंस कर सामान्य जनता की सत्ता स्थापित करते हैं। इस प्रकार बहुसंख्य शोषित जनता की सत्ता को जनता का जनवाद अथवा जनतंत्र कहा जाता है। इस संबंध में अंतोनीना ओर वालेन्तीन का कथन द्रष्टव्य है– "सर्वहारा का अधिनायकत्त्व शोषक वर्गों के प्रभुत्त्व के युग का अंत कर देता है और सच्ची जनसत्ता के युग के द्वार खोल देता है।" इसी कारण सर्वहारा या जनता के जनवाद को सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है।

जनवादी कवि अपने समय तथा समाज का यथार्थ चित्रण करता है। वह साहित्य को 'सोद्देश्य–कर्म' मानता है। वह यथार्थ की भूमि पर विचरण करते हुए अपने आसपास की जिंदगियों से गुजरता है और उसे अपने साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जन–साधारण की दुख–दर्दभरी जिंदगी को देखकर उसका हृदय आहत होता है। जनवादी कवि की इस

*शोधछात्रा, महात्मा ज्योतिबाफूले रुहेलखंड, विश्वविद्यालय, बरेली (उ0प्र0)

सरोकारिता को बयान करते हुए जनकवि नागार्जुन अपनी 'प्रत्यावर्त्तन' कविता में लिखते हैं–

"कल्पना के पंख सुंदर तोड़ डाले

भूमि पर चलने लगा तो पड़े छाले।"

जनकवि नागार्जुन अपने दायित्त्व को भली–भाँति समझते थे। अपने प्रारंभिक जीवन में उन्होंने भी कल्पना का काव्य लिखा। परंतु जनसाधारण के बीच जीवन निर्वाह करते नागार्जुन को मिथ्या कल्पना की बातें अधिक दिन तक न रिझा सकीं। सच्चे जनकवि का दायित्त्व बोध जगते ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन तथा काव्य जनसाधारण के प्रति समर्पित किया। वे एक 'जनकवि' के दायित्त्व को अभिव्यक्त करते हुए 'जनकवि' कविता में लिखते हैं–

"मैं भी तो पहले देखा करता था सपने

साथी, अब तो रंग–ढंग ही बदल गए हैं

समझ गया हूँ

जीवन में इस धरा–धाम का क्या महत्त्व है

कैसे कहलाता कोई धरती का बेटा

आसमान में सतरंगी बादल पर चढ़कर

कैसे जनकवि धान रोपता

समझ गया हूँ

कैसे जनकवि जमींदार के उन अमलों को मार भगाता

हरे बाँस की हरी–हरी वह लाठी लेकर"

नागार्जुन की कविताओं की भावभूमि वही है, जो पीड़ित जनता की भाव–भूमि है। जनता के इस तबके की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ उनके काव्य की विषय–वस्तु है। सामाजिक समस्याओं से कवि की सृजन–प्रक्रिया अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। वे उन्मुक्त हृदय और खुली दृष्टि से हर सामाजिक घटना को देखते हैं। इसलिए प्रयोगवादियों की वैयक्तिकता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा–

भिंचा–भिंचा, सिकुड़ा–सिकुड़ा

है हृदय तुम्हारा,

आओ उस पर लोहा कर दे।

हमारा आज का समाज भुखमरी, अकाल, दरिद्रता, बेरोजगारी, महँगी, मुनाफाखोरी, अशिक्षा, भ्रष्टाचार से पीड़ित है। किंतु इसी समाज में एक दुनिया और है जो ऐशो–आराम के साधनों, मौज–मस्ती के सामानों से भरी हुई है। यही द्वंद्व, यही अन्तर्विरोध आज का सामाजिक यथार्थ है, आज का मानवीय सत्य है। नागार्जुन की कविताएँ इस यथार्थ और सत्य को निर्भीकता और निमर्मता से व्यक्त करती हैं। आज का सत्य यह भी है कि अब मनुष्य जीवन की वर्तमान की स्थिति को नियति की दिशा बदल देने को तत्पर है और उसके लिए सक्षम भी है। नागार्जुन की काव्य–चेतना सत्य के इस रूप को भी पूरी आस्था के साथ आत्मसात कर लेती है। इसे मार्क्सवादी भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि नागार्जुन वर्ग–संघर्ष के कवि हैं। उनका यह संघर्ष जीवन और चेतना दोनों ही स्तरों पर चलता है। इस संघर्ष को सामाजिक रूपान्तर की अवस्था तक, शोषितों की विजय तक, वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना तक पहुँचना है, यह बोध कवि को है। उनका इस सामाजिक चेतना इन पंक्तियों में देखिये–

अधिकाधिक योग–क्षेम

अधिकाधिक शुभ–लाभ

अधिकाधिक चेतना

कर लूँ संचित लघुतम परिधि में!

असीम रहे व्यक्तिगत हर्ष–उत्कर्ष!

अकेले ही जी लूँ सौ वर्ष!

यह कैसे होगा?

यह क्यों होगा?

उपर्युक्त पंक्तियों से झाँकती हुई चेतना बताती है कि नागार्जुन साहित्य को जनता के जीवन–संघर्ष का अभिन्न अंग मानते हैं। आम, जामुन, लीची और कटहल यथा समय फूलें और फलें, किंतु कवि ही अपनी परिणत प्रज्ञा का फल नहीं दे पाये, यह कैसे होगा? कवि आम–जामुन का उल्लेख कर जैसे यह कह रहा है कि अपनी चेतना समाज को अर्पित कर देना उसके लिए नितांत स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि कवि समाज से, समाज के संघर्ष से, उसके सुनहले भविष्य के निर्माण के प्रयत्नों से प्रतिबद्ध है। प्रतिबद्धता उसका प्राकृतिक गुण है, जैसे कि यथार्थ उसके सृजन का प्रेरणा स्रोत है और प्रतिबद्धता उसका धर्म। इसीलिए वह मैथिली में कहता है–

छठह कवि तों दहक ललकार थने

गिरि शिखर पर पथिक दल बढ़तैक रे।

कवि नागार्जुन कहते हैं कि स्वार्थ तथा सत्ता के लालच में पैसे बाँट–बाँटकर वोट बटोरना, बापू जी का नाम ले–लेकर ऐलानों के भारी–भारी गोले छोड़ना, दंगल करवाना, टिकटों के लिए आपस में लत्तम–जुत्तम करना और देशभक्ति तथा जनसेवा का नाहक दम भरना और अपा सिंहासन सुरक्षित रखना यही आज के राजनेताओं का असली चरित्र है। उन्हें आवास में रंजोगम से कोई वास्ता नहीं है। सामान्य जनता तथा सच्चा जनकवि इस राजनेता को भली–भाँति पहचान लेता है। यही कारण है कि सामान्य जनता के मन में इन राजनेताओं के खिलाफ बढ़ती क्रोध की भावना को वाणी देते हुए जनकवि सवाल पूछता है कि– "अब तक तुम यों प्रजातंत्र का भुर्त्ता चखा करोगे"?

नागार्जुन ने सामाजिक मनुष्य के दैनिक जीवन की विभिन्न घटनाओं के बीच विभिन्न सामाजिक शक्तियों की गतिशीलता देखी है। उन्होंने उस सामाजिक मनुष्य के संघर्षों के व्यापक और सामान्यीकृत चित्र अंकित किये हैं। प्रयोगवादी कवियों में व्यक्ति और समाज के बीच स्वार्थों के टकराव और खाईं की खोज की। इसीलिए वे मनुष्य के संकट को सही रूप में समझ नहीं पाये, इसीलिए संकट से मुक्ति की राह खोज पाने का तो उनके सामने प्रश्न ही नहीं उठता। यथार्थवादी होने के कारण ही नागार्जुन व्यक्ति को समाज–विकास की धारा में देखते हैं और इसी कारण वे जहाँ दृष्टि डालते हैं वहीं भीतर तक झाँक लेते हैं। नागार्जुन की अपनी विशेषता है कि वे भीतर तक झाँककर जो कुछ उपलब्ध करते हैं, उसे व्यंग्यात्मक शैली में व्यक्त करते हैं। ऐसा संभवतः इसलिए कि वे मनुष्य के उत्पीड़न को बरदाश्त नहीं कर सकते और उस उत्पीड़न के जो उत्तरदायी हैं, उन पर तीखा प्रहार करना चाहते हैं और तीखा प्रहार करने के लिए व्यंग्य से बढ़कर दूसरा कोई उपर्युक्त माध्यम नहीं है।

नागार्जुन 'श्रमशील जागरुक जग के असीम पक्षधर, गोर्खी मखीम' को प्रणाम करते हैं, जिससे उन्होंने सर्वप्रथम 'बहुजन समाज के अंतर की अभिव्यक्ति का कौशल' सीखा है। उनकी यह जनवादी चेतना विश्व के शोषित पीड़ित जनता के प्रति संवेदना रखती है। इसी कारण उन्हें 'वियतनाम' का संघर्ष समस्त शोषितों–पीड़ितों का संघर्ष लगता है' और साम्राज्यवादी चर्चिल, ईडन, अटली, बीवन का संपूर्ण गुट खूँखार लगता है। जहाँ एक ओर वे अफ्रीका की

आत्मा का आक्रोश सुनते हैं और 'नव अफ्रीका के नवनेता, अश्वेतों के त्राता' जोमो के न्याता की जयजयकार करते हैं तो दूसरी ओर वे राष्ट्रसंघ की छलनामय चुमकार को भी भली–भाँति भाँप लेते हैं। यही कारण है कि विष्णुचंद्र शर्मा उनके संबंध में कहते हैं– "नागार्जुन सक्रिय जनवाद के पक्षधर कवि हैं।"

संदर्भ

1. नागार्जुन रचनावली, खंड–1 सम्पा. शोभाकांत, (राजकमल प्रकाशन, 2003), पृ० 38
2. वही, पृ० 93
3. वही, खंड–2, पृ० 130
4. वही, पृ० 119
5. वही, पृ० 218
6. वही, पृ० 119
7. वही, खंड–1, पृ० 213
8. वही, पृ० 346
9. नागार्जुन एक लंबी जिद, विष्णुचंद्र शर्मा, (वाणी प्रकाशन 2001), पृ० 89

हिन्दी

जंगल कहाँ शुरू होता है

–आकाशव र्मा*

संजीव एक नये कथात्मकता ढाँचे के साथ हमारे सामने आते हैं। उनका कोई भी उपन्यास देखा जाय तो अलग ही टाईप की शैली में दिखायी देता है। वह चाहे 'किशनगढ़ का अहेरी' हो या 'सर्कस', 'सावधान! नीचे आग है', 'धार', 'पाँव तले की दूब', 'सूत्रधार' या चाहे 'जंगल जहाँ शुरू होता है' हो। संजीव ने हर कहीं अपनी इस विशेष शैली को अपनाया है ।वह शैली है कि जिस भी पृष्ठभूमि अथवा विषय पर कथा बुननी है, पहले उस पर शोध करना। व्यक्ति अथवा घटनाक्रम अथवा जीवन को महसूस करने का प्रयास करना। वहाँ की भाषा एवं संस्कृति को जीने का प्रयास करना। उस स्थान पर जाकर उसके भौगोलिक क्षेत्र, जातीय समीकरण, सांस्कृतिक बनावट, रीति–रीवाज, रहन–सहन इत्यादि का गहनता से अवलोकन–अध्ययन करना। उनकी यही शैली उनकी रचनाओं को एक नये पड़ाव पर स्थापित करती है। यह भी कह सकते हैं कि उनकी यही शैली आधुनिक कथा यात्रा को एक नया पड़ाव प्रदान करती है। उनकी इसी प्रकार की रचनाओं मे से एक रचना है– 'जंगल जहाँ शुरू होता है' ।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' की कहानी वस्तुतः तो सरकार के डाकू उन्मूलन के ताने बाने से शुरू होती है और डाकू के पनपने की तलाश के ताने–बाने में उत्कर्ष पाती है। खतम होती है इस निर्णय पर कि जंगल कहीं भी उग सकता हैं। इसकी पूरी कहानी में ये प्रश्न हमेशा पृष्ठभूमि में बने रहते हैं कि वे कौन होते हैं जो डाकू बनते हैं? उनका उद्देश्य, उनकी पृष्ठभूमि, उनका जीवन चरित्र क्या है? वास्तव में संजीव इस उपन्यास के माध्यम से यही बताना भी चाहते हैं। एक तरफ कथा के साथ लोकवृत्ति, लोकजीवन तो दूसरी तरफ जंगल की पहचान और तलाश, इस उपन्यास में एक साथ चलते हैं। संजीव का उद्देश्य भी यही है और वे तलाश करते हैं जंगल के बनने की, एक के बाद एक नये जंगल के बनने की। उस जंगल की जो कभी रुकता नहीं, किसी न किसी बहाने से आदमी के भीतर पैदा होता रहता है। वह किसी 'आपरेशन ब्लैक पाइथन' या किसी अभियान से नहीं रुक सकता। ये जंगल किन वजहों से पनपता है, कैसे विकास पाता है और क्या करने से रुक सकता है। इसी के तलाश की कहानी है। एक लेखक का दायित्व होता है– सच को सामने रखना। उसकी पड़ताल करना। यह उपन्यास जंगल (डाकूपन) के जनमने और आदमी के भीतर उसके समा जाने का ही विश्लेषण है। सूत्रों में पिरो कर कथा कहने वाले उपन्यासकार संजीव ने इस जिम्मेदारी को बखूबी निभाया है।

यह उपन्यास लोक विश्वास, आस्था, रहन–सहन तथा उसकी संस्कृति का यथार्थ और सार्थक चित्र तो प्रस्तुत करता ही है, उसके बुनियादी सवालों की तलाश को भी नहीं भूलता। इसकी कहानी जातीय पहचान तथा संघर्ष, जनजातीय जीवन संघर्ष, राजनीति के अपराधीकरण (अथवा अपराध के राजनीतिकरण) सभी कुछ के साथ अपना विस्तार करती है। कह सकते हैं

*हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर– असम

कि यह कथा एक भले ही एक अंचल की समस्या पर लिखी गयी हो, लेकिन वह स्वतंत्रता के पश्चात की साधारण जनता के जीवन संवेदना को प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। राजनीतिक अपराधीकरण, जमींदारों द्वारा शोषण, अर्थव्यवस्था तथा देश की प्रशासनिक व्यवस्था का चरमराया हुआ ढाँचा, देश की अस्सी प्रतिशत से अधिक गरीब जनता के सामने भयावह स्थितियाँ पैदा कर रहीं थीं। इसमें जंगल कहीं भी उग सकता था। उसी में से एक स्थान पश्चिमी चंपारण की कथा है यह उपन्यास, कि जंगल जहां शुरू है।

आदमी के भीतर जंगल कहाँ शुरू होता है। मौका परस्त राजनेताओं में, परिस्थिति को समझकर भी सिर्फ आदेश देने वाले अधिकारियों में, भेड़–बकरियों से होकर औरत बेचने तक पहुँचे जोगी के भीतर, अपना सबकुछ गवां देने वाले काली, नोनिया, परेमा जैसे लोगों के भीतर या समानान्तर सरकार जैसी व्यवस्था चलाने वाले परशुराम जैसे डाकुओं के भीतर... या धनलोलुप अफसरों के भीतर... कहाँ? कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता है, लेकिन ये ढेरों शेड्स हैं, जिनके माध्यम से संजीव ने मिनी चंबल (बिहार प्रान्त के पश्चिमी चंपारण जिला) के सामाजिक जीवन एवं वहाँ की प्रशासन व्यवस्था तथा वहाँ के अथाह जंगल का सजीव चित्रण किया है। संजीव ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से हर आदमी के भीतर बैठे जंगल को खोजने का भरसक प्रयास किया है। सबसे बड़ी बात की जंगल कहाँ शुरू होता है, कम से कम एक पूरी प्रक्रिया को संजीव ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। 'काली' ऐसे ही प्रयास का पात्र है, जो सामान्य मनुष्य से जंगल बनने का बिम्ब बनकर उभरता है। कथा सूत्र की तरह इस उपन्यास का पूरा अर्थ स्पष्ट करता है कि जंगल कहाँ, कैसे और क्यों शुरू होता है।

यद्यपि संजीव ने उस जंगल को अपना उद्देश्य बनाया है जिस कारण पश्चिमी चंपारण को मिनी चंबल कहा जाने लगता है, लेकिन इसी जंगल से होकर सभी जंगल गुजरते हैं। डाकू उन्मूलन के लिए आपरेशन ब्लैक पाईथन लेकर आये डी.एस.पी. कुमार इस जंगल को पहचानने और जानने की कोशिश करता है। वह वहाँ के जीवन को, संस्कृति को, मानसिक संरचना को पहचानने की कोशिश करता है, जिससे वह जान सके कि आखिर यह जंगल इतना असाध्य और जटिल क्यों हो गया है। यह संजीव के शोधपरक ज्ञान का ही परिणाम है, जिससे कुमार जान पाता है। लेकिन उसके साथ विडम्बना यह हो जाती है कि जब तक वह जंगल की संरचना को ठीक से समझने की कोशिश करता है, वह जंगल नया रूप बदल लेता है। उसके लिए समझना कठिन ही हो जाता है सच क्या है?

जंगल के भीतर पनपता हुआ जंगल भी तेजी से रूप बदलता है। परशुराम डाकू से सांसद बन जाता है। सरकार से संरक्षण मिल जाता है। जनता का क्या है? जमीदार जनता का शोषण करते रहते हैं। जनता का क्या है? कोई भी व्यवस्था, कानून माल लूटने का जरिया बन जाता है। जनता का क्या है? वह पिसती रहती है, मरती रहती है। वह चाहे थारू जनजाति का हो, चाहे धांगड़, या चाहे पिछड़ी जाति का हो। संजीव ने इस उपन्यास के माध्यम से पूरी आम जनता की सम्वेदना तथा संरचना को प्रकट का प्रयास किया है। देश की स्थितियों–परिस्थितियों से उपजे इस जंगल का लेखा–जोखा अपने सच के साथ हमारे सामने आता है।

'परधान मंत्री आएँ,चाहे परधान मंत्री का बाप, हमको तो एही नरक में रहना है ।'[1]

'जमीन दखलियाते जा रहे हैं लल्लन बाबू, इत्ते बड़े जमींदार, फिर भी गरीब–गुरबा की थोड़ी सी जमीन हड़पने से बाज नहीं आते ।'[2]

'घर में एक दाना नहीं है। ये धान के बीज डालने के दिन हैं। मगर कहाँ के बीज, कहाँ का खेत? बीज होते भी तो क्या होता? खेत तो बंधक पड़े हैं मलिकार के यहाँ। सोचा था, भैंस गाभिन है, इसे बेचकर जुगाड़ कर लेंगे, कुछ काली के पैसे बकाया हैं नहर ठेकेदार के

पास। फिर भी कम पड़ा तो गाय बेच देंगे और इधर–उधर से उधार ले लेंगे।.... मलिकार से मुकदमा चल रहा है– पूरे एक बीघे धनहर खेत कब्जिया लिये हैं उन्होंने।.... जंगलों में बेत है। हाथ में हुनर है, झूड़ी, खाँची तो बना ही सकता है वह । लेकिन उसे लाने के लिए कौन देगा? बेंत का ठेकेदार एक जल्लाद, दूसरे जल्लाद वन विभाग वाले। कहाँ से ले आये रकम घूस पाती के लिए।'[3]

'तोहार माई को तो पुलिस पकड़कर ले गई है। हम होते तो हमको भी ले जाते। लेकिन हम तो गये थे बेंत के ठीकेदार के पास! वहाँ से लौटे खाली हाथ तो भैंस छुड़वाने गये। भैंस बिया गई है– हाँ अपनी भैंस पड़िया बियाई है। अपने पास होती तो दूध मिलता। नहीं मिली न! मलिकार के खेत में पड़ गयी थी। ले गये, बाँध ली। जबरा हैं। तू तो जानती है, खेत भी अपने थे, भैंस भी। अरे बहुत चिरौरी–मिनती की, गोड़ पर गिरा, हरजाना भरने की भी किरिया खाई।'[4]

उपन्यास के इन उदाहरणों से साफ देखा जा सकता है कि साधारण जनता किस प्रकार से शोषण एवं गरीबी तथा अभावों के बीच जी रही थी। जीने का कोई नियम कानून नहीं, कोई व्यवस्था नहीं। वहाँ जंगल तो उगेगा ही। वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जो कुछ हमें मिला, उसके भीतर खोखलापन भरता चला गया। माना कि ऊपरी स्तर पर संसदीय व्यवस्था थी, नौकरशाह थे, लेकिन मालिक बनकर उपभोग करने का सपना सबके भीतर था। गरीब और साधारण जनता जैसी थी, वैसी ही रही। और अधिक शोषित होती रही। पिसती और मरती रही। वैसे ही बेवकूफ बनायी जाती रही। जंगल को तो उगना ही था, ये जंगल पूरे देश में व्याप्त था। काली ऐसी ही जनता का एक प्रतिरूप होता है, सीधा–सादा ईमानदार आदमी। सरकारी तंत्र, पुलिस, जमीदारों द्वारा प्रताड़ित और शोषित। अंततः उसके भीतर जंगल जाग ही जाता है। मलारी उसे रोकती है और साफ संकेत कर देती है– 'इस जंगल में कूदना जितना आसान है, निकलना उतना ही मुश्किल। मतलब यह है कि अब घर–परिवार और समाज में उसके वापस लौटने का हर रास्ता बंद है, अब भैया, भाभी, भतीजी, गाय–बाछी, कुटुंब और बचपने में ही ब्याही गई दुलहन के नाम पर सिर्फ रो सकता है, उनके पास वापस नहीं जा सकता। फिर बचता क्या है– जंगल, और जंगल मे जिंदा रहने के लिए उसे वही करना होगा जो जंगल के लिए जरूरी है।'[5] मगर वह नहीं रूकता है। एक आदमी अपना भोलापन छोड़ के, अपने मन के भीतर बनी कोमलता को कठोर करके क्यों जंगली और हिंस्र पशु बन जाता है। वह नहीं चाहता था कि वह ऐसा करे मगर वह लाचार हो जाता है। उसे अहसास हो जाता है कि छीनने से ही अधिकार मिलता है। संजीव ने इस कारण को साफ–साफ समझाने और संकेत करने के लिए तीन पात्रों को रचा है, एक हैं मुरली पाँडे (मास्टर साहेब) जिसने उस जंगल को उगते और विकसित होते देखा है, दूसरा है डी.एस.पी. कुमार जो डाकू उन्मूलन का मुख्य अधिकारी है और तीसरा है काली। कुमार और मास्टर साहेब यहाँ उद्घोषक के रूप में दिखायी देते हैं और काली क्रियानवयन के रूप में। तीनों में से कोई नहीं चाहता है कि आदमी के भीतर यह जंगल (डाकूपन) जागे। अगर ठीक से देखें तो तीनों पात्र– मास्टर साहेब, काली और डी.एस.पी. कुमार एक की दिशा में एक ही जगह के लिए अलग–अलग राहों से चल रहे हैं। संजीव का यह पूरा उपन्यास इसका उत्तर देता है। काली जैसा गरीब और लाचार आदमी डाकू बनना नहीं चाहता, पर बन जाता है। कुमार जो इस जंगल के उपजने का कारण जानना चाहता है। वह केवल डाकुओं के खत्म नहीं करना चाहता, वह डाकू बनने की प्रक्रिया और उसके कारणों को जानना चाहता है। जिससे इस समस्या का जड़ से हल ढूँढा जा सके, 'मैं दरअसल उस बिन्दु को पकड़ना चाहता हूँ, जहाँ से एक डाकू का जन्म लेता है'[6]। मगर वह भी पूरी व्यवस्था के आगे लाचार होता है। और मुरली पांडे (क्षेत्र के सभी

के लिए मास्टर साहेब) ने बड़े गौर से सबकुछ देखा और समझा है, वे भी चाहते हैं कोई भी इंसान बन्दूक न उठाये, पर वे भी सरकारी तंत्र और व्यवस्था से नाउम्मीद हैं। वे कुमार को पूरी रामकहानी सुनाते हैं। हम कह सकते हैं कि लेखक ने अपनी ही वाणी को मुरली पांडे के कण्ठ से निकलवायें हैं–

"यह जो आज परेमा है, उस पर एक लाख का इनाम है, पहले पंडित के दल का ही था, लेकिन था अहीर। उधर गद्दी भी एक तरह से मुसलमानी अहीर। अब सोचिए कि जात–पात के चलते परेमा गद्दी की ओर खिंचता और दल हिन्दुआपे के चलते अविनाश पंडित की ओर। किस्सा लम्बा है, मुख्तसर में ई जान लीजिए कि परेमा ने पहले अविनाश पंडित को मारकर जाति का ऋण उतारा, फिर गद्दी को मारकर धर्म का। अब चूँकि पंडित नहीं रह गये थे, सो हिंदुओं का संरक्षण भी मिलने लगा उसे।... यह तो एक अन्तर्कथा हुई, दूसरी... दूसरी रामफल यादव की है। आपको पता होगा, पुलिस में सूबेदार था, पहलवानी करता था, नौकरी छोड़कर डाकू हो गया। ऐसे बहुत से होमगार्ड्स और दूसरे सैनिक बल के जवानों को यह धंधा सूट करता था। तीसरी कथा में लछिमन गोकुल और गामा जो यादवों के गुंडे थे, अचानक मंत्री जी के नाक के बाल बन गये। ये गुंड़े मंत्री जी के लिए बूध कैप्चर करते, चंदा उगाहते, बदले में मंत्री जी इन्हें संरक्षण देते। माने क्या कहते हैं– मेड फॉर इच अदर।....

....आपको अफसरशाही को भी सर्च करना पड़ेगा ।....

....जी एक बार एक डी.एम. आये। इत्तेफाक से वह भी यादव थे और ज्यादातर डाकू भी यादव। यानी रक्षक भी उसी जाति का, भक्षक भी उसी जाति का। डी.एम. अगर स्वजातीय दरिंदों को खिलाफ स्ट्रांग ऐक्सन लेते तो जाति बिरादरी से जाते और न लेते तो बदनाम होते। सो एक बार उन्होंने उन डाकू सरदारों को बुलाया और बिरादाराना अपनत्त्व के तहत अपनी मुश्किल पेश करते हुए सुझाव दिया, 'आप लोग ऐसा कुछ क्यों नहीं करते कि कानून की गिरफ्त से आप भी बचे रहिए, हमें भी बचाते रहिए... (ऊ कैसे साहेब).... हत्या और डकैती छोड़कर अपहरण कीजिए और फिरौती वसूलिए.... आपको मालूम है डाकुओं के लिहाज से सबसे बदनाम जगह थी चंबल– मोहर सिंह, मलखान, मानसिंह वगैरह का नाम आपने सुना ही होगा। वे भी यही सब करते थे मोटे–मोटे आसामी पकड़ लिए और उन्हें छोड़ने के लिए फिरौती मांगते हैं !.... माने हेल्प अस टू हेल्प यू !'...

(ज्यादातर डाकू यादव ही हैं क्यों)

'सर मिलिटेंसी भी कोई मुद्दा है। अत्याचार तो सभी पर होता है, मगर प्रतिवाद तो वही करते हैं जो मिलिटेंट हैं। यह तो रहा एक फैक्टर, दूसरा यह कि जिलें एवं प्रान्त में इनकी संख्या भी ज्यादा है, जो कहीं गहरे इमोशनल सिक्योरिटी, वो क्या कि भावात्मक सुरक्षा भी देती है, तीजे ये सभी अपहरणकर्त्ता रेता के अंचल से आते हैं, जहाँ नारायणी नदी हर साल तबाही मचाती रहती है। दो–चार गाँवों को तो उसके पेट में जाना ही है। मकान ढहा, जमीन गई। क्या खाये, कहाँ रहें फिर वे आते हैं यहाँ के जमींदरों के पास, मिल के सेठों के पास। जबरन वसूली, बेगारी, बलात्कार, दमन– इसकी ट्रेनिंग यहीं मिलती है। कुछ दिनों के बाद वे सोचते हैं कि जमींदार औ सेठ हमारे ही बल पर यह सह करते हैं तो हम खुद क्यों न करें। तब शुरू करते हैं स्वतंत्र डकैती। नाम कर गये प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हो गया तो मंत्री लोगों का काम करने लगते हैं। जबरन चंदा वसूली, पार्टी फंड बूथ कैप्चरिंग, लाठी! परेमा, परशुराम, बिन्दा, गोकुल सबकी एक सी दास्तान।'....

(ये जमींदार– इनकी शक्ति का स्रोत)

....'ये एक लंबा इतिहास है। ये थारूओं के इलाके में पैरासाइट बनकर आये। यह आगमन सन् 1857 के सिपाही विद्रोह से शुरू होता है जब अंग्रेजों से देशी रजवाड़ो और सिपाहियों ने लड़ाई ली और खंड–खंड स्वार्थ के चलते हार गये और जान बचाने के लिए भागे।

कुछ लोग जो ईधर भाग आये उन्हें यह नेपाल की तराई, यानी थारूओं का यह अंचल सिर छुपाने के लिए ज्यादा माकूल लगा। मुख्यतः थे तो थारू ही यहाँ, इफरात जगह, प्रतिरोध न के बराबर। पाँव जमते ही इन्होंने थारूओं का शोषण करना शुरू कर दिया– कहीं कम कहीं ज्यादा। अब देखिये, बीस–बीस वर्ष पहले रेता के डकैतों ने थारूओं से कहा कि हमारा साथ दो, हम तुम्हें ठेकेदारों, जमींदारों से तुम्हारी जमीन, तुम्हारी इज्जत वापस दिलायेंगे। मगर यह तो झाँसा था। एक भी डाकू, जो कहिए किसी जमींदार के खिलाफ बोला हो, जमीन दिलानी तो दूर की बात, उलटे ये भी थारूओं, धाँगड़ों का ही शोषण करने लगे– ए डॉग इन द मैंजर पॉलिशी!' चोर दरवाजे अभी और भी हैं... यहाँ का विशिष्ट भूगोल, यहाँ की परजीवी सामन्ती व्यवस्था, यहाँ के मारवाड़ी महाजनों का उपनिवेश... और भी कई।"[7]

इस पूरे उपन्यास में पड़ताल करे तो मुरली पाण्डे द्वारा कहीं गयी उपरोक्त बातें डी.एस.पी. कुमार को आसपास पनपते जंगल के कारणों का स्पष्ट पता देती हैं। मुरली पांडे की बातों से कुमार सारा सच समझ जाता है। वह समझ जाता है कि चारो ओर छाया जंगल यूँ ही नहीं है। इस जंगल के भीतर पाँच तत्त्व हैं– जाति–धर्म के विकृत रूप, जमींदारी की तानाशाही, पुलिस या अर्द्धसैनिक बल के आज के सत्तावादी– सर्वाधिकारवादी मानसिकता, मौजूदा अफसरशाही और राजनीति द्वारा अपराधियों का संरक्षण और उसके साथ अपराधियों द्वारा राजनीति का उपयोग (अपराध का राजनीतिकरण)। संजीव अपने इस उपन्यास में इसी की पड़ताल करते नजर आते हैं। पड़ताल क्या करते हैं– इन्हीं के ताने बाने से इस कथा को बुनते हैं और वे पूरी तरह से पाठकों को अपने बातों से सहमत भी कराते गये हैं। एक तरफ काली के डाकू बनने की पूरी प्रक्रिया, तो दूसरी तरह सरकारी मुलाजिम को मुरली पाँडे के माध्यम से सारी स्थिति परिस्थिति को विश्लिषित करते हुए। अन्त तक इस बात को वे मजबूती से पकड़े रखते हैं कि डाकू एक समस्या नहीं हैं। समस्या है डाकू बनने की पृष्ठभूमि। कुमार आया तो था डाकुओं के उन्मूलन के लिए पर जब वह सब कुछ जानने समझने लगता है। काली के बारे में सोचते हुए उसके मन में काली के साथ–साथ कई चेहरे आते हैं, उस" धुँध में परेमा, परशुराम, नोनिया, पुत्तन के भी चेहरे थे...। ये चेहरे कितने एक जैसे थे, कितने अलग–अलग, सीधे–सादे किसान परिवारों की गरीबी और जहालत के बुदबुदे की मानिंद खिलते चेहरे, मगर इन बुदबुदों में क्या है, प्रतिशोध या भोग और लूट की राष्ट्रीय संस्कृति में अपने–अपने शार्ट कट्स के शेयर्स की तलाश?" वह अनुत्तरित रहता है, लेकिन वह जान जाता है कि आदमी के भीतर जंगल कहाँ शुरू होता है। प्रशासनिक व्यवस्था उन्हें आदमी नहीं समझती, वह उन्हें सिर्फ डाकू समझती है, जो उच्च वर्ग, व्यापारियों, जमींदारों तथा पूँजीपतियों से छिनैती और लूटपाट करते हैं। सरकार इन्हें अराजक तत्त्व तथा आतंकी भी मानती है। यहाँ पर यह भी सवाल खड़ा होता है कि क्या देश आजाद हुआ था तो केवल उच्च वर्ग के शासनाधिकार के लिए? भूखी और अभावों में किसी तरह जी रही जनता का कुछ भी नहीं है? उनकी बुनियादी जरूरतों के लिए कुछ भी नहीं? और जब उसी जनता में से कोई प्रतिरोध करता है, तो वह डाकू बन जाता है, वह आतंकी कहलाता है, उन लोगों के लिए जिन्होंने सबकुछ पर कब्जा कर रखा है ।

कुमार (के माध्यम से लेखक) अपने अधिकारियों और ऊपर की व्यवस्था को बताना चाहता है कि इनको मार देने ये समस्या खतम नहीं होने वाली। वे फिर पनपेंगे। और ये सिलसिला चलता रहेगा। जरूरत तो वाजिब प्रश्नों को हल करना है, जिसके कारण यह जंगल कहीं भी उग सकता है। वह कहता है, "डाकू समस्या कोई ऊपर का आवरण नहीं है कि आप उसे खरोंचकर फेंक दें। इनकी जड़ों में भूमि सुधार का न होना, ढीला प्रशासन, पॉलिटिकल सेलटर, रोजगार की

समस्या, धर्म, टिपिकल भौगोलिक स्थिति वगैरह हैं– से सभी इन्टरकनेक्टेड हैं, सारा कुछ दुरुस्त कर दीजिए, रोग खुद–ब–खुद खतम हो जायेगा।"[8] लेकिन सरकार यह सब नहीं मानती। वह समझती है वह सारे सुधार कर रही है। अंत–अंत तक सरकार उन्हें अपराधी ही मानती रही, डाकू समस्या को उनके खात्मे के साथ देखती रही। जाहिर है आजादी के बीस–पचीस बरस बाद, जो जनता जानती है सोचती है कि अपना राज आ गया है सब कुछ ठीक हो जायेगा, सबको अपना जमीन मिलेगा, हक मिलेगा पर ऐसा कुछ नहीं होता। मगर वह धीरे–धीरे सारा सच जान जाती है। वह देखती है कि रहने की खातिर थोड़ी सी जमीन के लिए वही संघर्ष, खाने के लिए अन्न प्राप्ति की खातिर वही शोषण, जीने के लिए पहले से भी बदतर संघर्ष करना पड़ रहा है। वह देखती है कि अंग्रेजी शासन से बदतर लूट और शोषण तंत्र विकसित हो गये हैं, सरकार की नीतियाँ या तो कागजी हैं या बंदरबांट में खतम हो जाती हैं, लोगों को पता तक नहीं चलता, तो वह क्या करे? उसी में से सवाल और बन्दूक दोनों के साथ कोई खड़ा हो जाता है। वह लूट और अपहरण का सहारा लेने लगता है। अब उसे जंगल कहें या प्रतिरोध कहें या अधिकार की लड़ाई या अपराध या कुण्ठा? यह लेखक की ओर से विचारणीय प्रश्न है। ये सवाल मुरली पांडे के पास भी है, डी.एस.पी. कुमार के पास भी है और काली के पास भी है। पर इस सवाल का हल किसी के पास नहीं है। यह उपन्यास ऐसे निर्णय के साथ खतम होता है, जो बताता है कि जंगल कभी समाप्त नहीं हो सकता है। यह सबके भीतर उगता रहेगा पलता रहेगा। और कभी भी भड़क सकता है।

संजीव ने इसके सहारे सरकारी नीति नियामकों, सामान्य जनता की समस्याओं, पूँजी तथा सत्ता तक पहुँच रखने वालों के वर्चस्व के यथार्थ को एक अंचल (पश्चिमी चंपारण, थारू जनजाति का क्षेत्र जिसमें धांगड़, नोनिया, मल्लाह, दुसाध आदि कई जातियाँ रहती हैं।) के माध्यम से सामने रखने का प्रयास किया है। अपराध और राजनीति के खेल को बहुत बारीकी से संजीव ने हमारे सामने रखा है जिसके भीतर कहीं न कहीं मनुष्य के बचे रहने की तलाश छिपी हुई है।

सन्दर्भ

1. जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव, पृष्ठ– 29, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2000
2. तदेव, पृष्ठ– 16
3. तदेव, पृष्ठ– 22–23
4. तदेव, पृष्ठ– 25
5. तदेव, पृष्ठ– 114
6. तदेव, पृष्ठ– 104
7. तदेव, पृष्ठ– 103–105
8. तदेव, पृष्ठ– 146

हिन्दी

स्त्री मुक्ति : एक विश्लेषण

–प्रियंकाब ोरा*

जब से मनुष्य ने सभ्यता की द्वार पर कदम रखा है तब से वह निरन्तर आगे बढ़ता गया है और अपने अनुभवों संवेदनाओं तथा विचारों की आवाज देता रहा है। साहित्य को समाज का आईना माना गया है। इसीलिए साहित्य के माध्यम से सामाजिक परम्परा, समसामयिक यथार्थ, समाजिक विसंगतियों और विकृतियों के चित्रण भविष्य का पूर्वाभ्यास होकर चलता है। मुक्ति की कामना प्रत्येक व्यक्ति के मन में होती है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति सचेत होती है। मनुष्य की चिरन्तन समस्याएँ साहित्य का आधार बनती है और इसीलिए ही साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को कुण्ठित करने वाले परिवेश और परम्पराओंको अस्वीकार करते हुए नए मागों को अपनाते है। इसीलिए कृष्णा सोबती कहती हैं – ''जो सार्थक नहीं है उससे छुटकारा पाना उतना ही जरुरी है जितना नए को अपनाना।''[1]

स्त्री मुक्ति का स्वरूप :

सृष्टि का विधान है, प्रत्येक स्त्री में एक पुरुष और प्रत्येक पुरुष में एक स्त्री। जिसे भारतीय मनीषा ने अर्द्धनारीश्वर के रूप में व्यक्त किया है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही जगत उत्पन्न हुआ है। नैसर्गिक विषमता को न मानकर ज्यों ज्यों भेद मिटाने की कोशिश करते है त्यों त्यों विघटन बढ़ता जाता है। एक ओर जहाँ नारी की निंदा होती गयी वही दुसरी ओर नारी को शक्तिरूपा के रूप में भी स्वीकार किया। परम्परागत मानसिकता ने जँहा स्त्री को देवी स्वरूपा और दुसरी ओर दानवी के रूप में बाँट दिया। एक ओर जहाँ स्त्री को प्रार्थनाओं तथा आनुष्ठानिक कार्यो में स्थान प्रदान कर गौरवमयी दर्शाया गया और राक्षसी गुण बतलाकर उसे दानवी कहकर भत्सर्ना की गई। ''स्त्रियों के साथ जो असमानता, भेदभाव, शोषण व अन्याय किया जाता रहा है उसके पीछे पुरुष प्रधान समाज का पूर्वाग्रह, अधिपत्य स्थापित करने का दुराग्रह ही प्रमुख कारण है।''[2] इसीलिए स्त्री अपनी अस्मिता तालाश रहे है। ''अस्मिता का अर्थ है अपने आप को जानना। अपने अस्तित्व को पहचान पाना। व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है तभी वह अपनी सार्थकता को पहचान सकते है। किन्तु वर्तमान समय में कुछ लोग स्त्री मुक्ति को गलत तरीके से व्याख्यायित करते हैं। इस सम्बन्ध में मृणाल पाण्डे का कथन है कि– ''कहना न होगा कि सही नारी मुक्ति का एक बेहद खतरनाक अवमूल्यन 'मुक्तस्त्री' की इस गलत सलत छवि ने किया है, जिसके तहत कोई तारिका ढुहेजु से व्याह करके 'मैं' खोज रही है, तो कोई अविवाहित मातृत्व अपनाकर और कोई मर्दाना–जनाना बनकर चमड़े के बूट और जाकेट से लैस अत्याधुनिक

*शोध छात्रा, असम विश्वविद्यालय (असम)

हण्टरवाली बनी बैठी है। अन्ततः ये सभी छवियाँ इन स्त्रियों के 'मैं' की सच्ची प्रतिकृति नहीं, सच्ची चुनौनियों से बचने को दूसरों द्वारा गढ़े स्त्री मिथकों की दूनीया में उनका पलायन है।''[3]

नारी मुक्ति सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए मृणाल पाण्डे ने यह भी कहा है– ''यदि स्त्रियाँ तनिक हठ के साथ अपनी बेटी और खुद अपने स्वास्थ्य, सौन्दर्य और साम्पत्तिक अधिकारों के प्रति रत्ती भर भी सचेत रूख दिखाएँ तो उन्हें स्वार्थी, धन लोलुप, फैशनपरस्त या परिवार–विरोधी करार दिया जाता है। यही वजह है कि कई स्त्रियाँ सुरक्षा और सामाजिक वाहवाटी के लालच में आकर खुद अपनी जाति की निन्दक या उत्पीड़क बन जाती है। स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में पहले खुद स्त्रियों को इस भ्रान्तिजाल को तोडना होगा और एक दुसरे के माध्यम से अपनी सही कीमत जाँचनी होगी।''[4] नारी को मुक्ति तभी मिल सकती जब वह अपनी स्वभावगत दुर्बलता से मुक्ति की कोशिश करेगी। पहले अपनी समर्थता और व्यक्तित्व की कमजोरियों से मुक्ति करने की कामना करनी होगी तभी वे एक दूसरे का सहयोग करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती है।

स्त्रीमुक्ति : पाश्चात्य दृष्टि

प्राचीन काल से लेकर आज तक नारी को केवल शोभा और प्रदर्शन की वस्तु के रूप में ही देखा गया है। पाश्चात्य देशों में भी नारी की लगभग वही स्थिति रही है, जो भारत में है। पश्चिमी देशों में भी नारी को शारीरिक–मानसिक रूप से शोषण किया जाता रहा है। पाश्चात्य आलोचक अरस्तु ने स्त्री को केवल मात्र एक उद्देश्य तक सीमित माना है। उनका कहना है– ''सृजन का सक्रिय पक्ष पुरुष निभाता है। स्त्री तो केवल एक खाली गर्भाशय है।'' इससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि का प्रमुख पुरुष है और नारी का अस्तित्व पुरुष मात्र के लिए है यह भावना पाश्चात्य देशों में भी प्रचलित थी। सर्वप्रथम 1674 में मागारेट ब्रेटन ने मेरीलैण्ड विधानसभा में स्त्रियों के लिए मताधिकार की माँग की, जिसे ठुकरा दिया गया। 1830 से 1840 के बीच स्त्रियों के मताधिकार के लिए अनेक आन्दोलन चलाए गए। इन्हीं आन्दोलनों के परिणामस्वरूप अनेक देशों में स्त्री मताधिकार प्राप्त हुआ। जैसे न्युजीलैण्ड (1883), आस्ट्रेलिया (1920), अमेरिका (1920), रूस (1917), इंग्लैण्ड (1918) आदि।

1850 के आस पास इंग्लैण्ड में कैरालिन नार्टन आदि ने महिला समानाधिकार के लिए आन्दोलन चलाए जिसे कंजरवेटिव अखबारों ने चुड़ैल और कुतिया कहकर अपमानित किया। 8 मार्च, 1857 का दिन अमेरिका के नारी संघर्ष इतिहास के लिए प्रसिद्ध है। न्यूयार्क की कपड़ा मिलों में काम करने वाली स्त्रियों ने सहयोग होकर संघर्ष किया। अधिक वेतन और काम के घण्टे 15–16 से घटकर 10 किए जाँए, यह उनकी माँग थी। आशारानी व्होरा ने इस सन्दर्भ में कहा है– ''विश्व की महिलाओं का यह प्रथम प्रदर्शन था जिसे उस समय की ट्रेड यूनियनों ने भी पसन्द नहीं किया। किसी भी प्रकार के समर्थन के अभाव में यह आन्दोलन पुलिस द्वारा कुचल दिया गया था। पर महिला इतिहास में एक अमिट लकीर छोड़ गया था।''[5] बाद में कपड़ा मिलों की महिला कर्मचारियों की अलग युनियन बनाई गई और जिसे कर्मचारी संघटनों द्वारा मान्यता मिली। 1910 में समाजवादी महिलाओं की एक सभा में 8 मार्च का दिन ''महिला संघर्ष दिन'' के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया। वहीं से 8 मार्च ''महिला दिवस'' के रूप में मनाया जाने लगा। 1865 में अमेरिका में एलिजाबेथ मिलर, लुसी स्टोन आदि स्त्रियों ने आन्दोलन को आगे बढ़ाया। 1869 में टैक्स भरने वाली महिलाओं को मताधिकार

दिया गया। पूर्ण मताधिकार 1918 में मिली और जिसके कारण महिलाओं को लम्बी लड़ाई लडनी पड़ी। 1869 में ही हेग में महिलाओं की युद्ध विरोधी कान्फ्रेंस हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही महिला आन्दोलन में गति आई। 1946 में घोषित ''मानव अधिकार घोषणा पत्र'' के कारण महिला आन्दोलन को प्रेरणा मिली और महिला आन्दोलन फैलाता गया। उसके बाद 1975 को महिला वर्ष घोषित किया गया। इस प्रकार नारी का यह मुक्ति संघर्ष आकार लेता गया और सफलताएँ मिलती गई। सन् 1963 में अमेरिका में बेट्टी फ्रीडन की ''फेमिनिन मिस्टन'' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसके कारण स्त्री संघर्ष को एक नई दिशा मिली।

1949 में प्रकाशित सीमेन द बउवार की प्रसिद्ध पुस्तक ने महिला आन्दोलन को बहुत प्रेरित किया। सीमन द बउवार का यह कथन कि– ''स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि उसे बना दिया जाता है।''[6] उन्हों ने स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों और अन्यायों का विश्लेषण करते हुए कहा कि पुरुषों ने स्वयं को विशुद्ध चित्त के रूप में परिभाषित किया है और स्त्रियों की स्थिति का अवमूल्यन करते हुए उन्हें अन्य के रूप में परिभाषित किया है। उन पुस्तक को वह न्यायपूर्ण नहीं मानता जिसमें स्त्रियों को स्त्रियों के रूप में व्यवहृत किया जाता है। वह पुरुष और स्त्री को मानवप्रेमी के रूप मे स्वीकार करने में पक्षपाती है।

इस प्रकार कैरोलिना गिल्लीगैन, टालस्टाय, दास्तावस्की, गोर्की जैसे साहित्यिकारों के लेखनी में स्त्री अस्मिता के प्रतिसमर्थन भाव उभरकर सामने आया।

नारी के मुक्ति संघर्ष ने नारी को मुक्त किया। परन्तु वैचारिक मतभेद के कारण नारी मुक्ति संघर्ष दो भागों में बँट गया। एक ओर वामपंथी लोगों ने नारी मुक्ति का नेतृत्व किया तो दुसरी और मध्यम मार्गियों की अनेक संस्थाएँ खड़ी हूई। दक्षिणपंथी विचारधारा के लोगों ने महिला संगठन बनाए, जिस में उन्हों ने स्त्री की अपेक्षा माता रूप पर ही बल दिया। और धीरे धीरे इन दोनों के बीच का अन्तर कम होता गया, नारी मुक्ति संघर्ष समान रूप में होने लगे। पश्चिम का नारी मुक्ति आन्दोलन भारतीय नारी मुक्ति से भिन्न है। पश्चिम में महिलाओं को पुरुषों के विरूद्धसंघर्ष करना पड़ा। परन्तु भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी, भारत के पुरुष समाज सुधारकों ने नारी उत्थान की लड़ाई लड़ी।

स्त्रीमुक्ति : भारतीय दृष्टि

भारतीय समाज संकल्पना में सृष्टि के आधार शिव और शक्ति ये दो तत्व के रूप में बताया गया है। यहाँ लक्ष्मी धन की देवी, दुर्गा शक्ति की देवी, सरस्वती विद्या की देवी, गंगा पवित्रता की देवी, रति सौन्दर्य की देवी के रूप में सुशोभित किया गया है। वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति बड़ी अच्छी रही। वैदिक युग में स्त्रियों को शिक्षा, धर्म, यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। अर्थात् इस युग में स्त्री गरिमापूर्ण रूप से जीवन यापन करती थी। मातृत्व को दैवी शक्ति माना जाता था। उपनिषदों में वर्णित पुत्र सत्यकाम और माता जाबाला की कथा इसका श्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें पिता का अज्ञात रहना उसकी शिक्षा–दीक्षा में बाधक नहीं बनता।

कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति नीचे गिरती चली गई। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, क्रय–विक्रय, शिक्षा व्यवस्था से दूर रखा गया और घर की चार दीवारियों तक सीमित रखा गया। उत्तर वैदिक काल में नारी का स्थान गौण होता गया और नारी मुक्ति संघर्ष वहीं से प्रारम्भ हुआ। भारत पर मुस्लिम आक्रमण में अनेकों महिलाओं ने आक्रमणकारीओं से संघर्ष किया और अपनी

श्रेष्ठता सिद्ध की। रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल, रानी तपस्विनी आदि स्त्री मुक्ति के दिशा में उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में अंग्रेजों के आगमन से बहुत सी बुराइयाँ पैदा हुई किन्तु स्त्रियों की मुक्ति का भाव भी उत्पन्न हुआ। आधुनिक युग के प्रतिष्ठाता भारतेन्दु हरिचन्द्र की यह आकोक्षा ''नारि नर सम होहिं जग आनन्द हैं'' तथा यह कथन कि ''जो बातें तुम्हारे उन्नतिपन में कांटा हो उनको जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो''[7] ने नई विचारधारा को गति दी।

ब्रह्म समाज (1828 ईं), रामकृष्ण मिशन प्रार्थना समाज (1967 ईं), आर्यसमाज (1887 ईं), थियो साफिकल सोसाइटी द्वारा राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण और विवेकानन्द, गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऐनी बेसेन्ट आदि ने नारी मुक्ति संघर्ष प्रारम्भ किया। जैसे राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का विरोध किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह का समर्थन किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्त्री की समान शिक्षा और समान अधिकारों की बात सिद्ध की। 1917 में सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में ''सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया'' ने महिलाओं के लिए मताधिकार की माँग की। महामानव महात्मा गान्धी नारी मुक्ति संघर्ष में मील का पत्थर हैं। उन्होंने अपनी सभी कार्यक्रमों में पुरुषों के साथ स्त्रियों को भाग लेने के लिए प्रेरित किया। 1950 में भारतीय संविधान की चौदहवीं तथा पन्द्रहवी धारा के अनुसार स्त्री और पुरुष की पूर्ण समानता के लिए नियम बनेए गए। 1956 के हिन्दु उत्तराधिकारी कानुन बनाए गए। जिसमें पिता की सम्पत्ति पर बेटी के बेटे के बराबर अधिकार प्रदान किया गया। 1955 में स्त्री, पुरूष दोनों के लिए एक ही विवाह को अनिवार्य बना दिया। बालविवाह, दहेज प्रथा, बलात्कार विरोधी सम्बन्धी अनेक कानुन बनाए गए जिससे समाज का पूनर्निमाण सम्भव हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद समाज में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, राष्ट्रीय महिला संघ, महिला सशक्तिकरण अधिनियम आदि के द्वारा स्त्रियों के अनेकों अधिकार दिलाने में सफल हुए हैं। वे वर्तमान में आई. ए. एस., पायलट, नासा वैज्ञानिक, सेना, शिक्षा आदि के सर्वोच्च शिखरों को प्राप्त करके अपनी वास्तविक पहचान दिखा रहे हैं। स्त्री से वर्तमान समय में कोई भी क्षेत्र अछुता नहीं है। भारत में तो आजादी के बाद स्त्री ने राजनीति में प्रवेश करके मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री यहाँ तक की राष्ट्रपति पद पर पहुँच कर देश के प्रथम नागरिक का स्थान प्राप्त कर लिया है। इस सन्दर्भ में भाजपा की वरिष्ट सुषमा स्वराज का कथन है– ''धीरे धीरे समाज के सोच बदल रही है। लड़कीयाँ भी अपने आपको दृढ़ता पूर्वक स्थपित करती जा रही है। उसमें भी बदलाव आ रहा है। अगली पीढ़ी में यह सोच और भी निखरेगी। शैक्षिक स्तर में सूधार और आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ ही बराबरी के हक की आकांक्षा पूरी होगी।''[8]

स्त्री अस्मिता के प्रति समर्थन भाव प्रेमचन्द के कथा साहित्य में उभरकर सामने आया। स्त्री की महानता बताते हुए प्रेमचन्द ने कहा– ''स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अंधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा, दया, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी उस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।''[9] वर्तमान समय में कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, अनामिका, ममता कालिया, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नु भण्डारी, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान आदि महिला लेखिकाओं ने स्त्री विमर्श की दृष्टि से गम्भीर लेखन का कार्य कर रही है। इसके आलावा डा. धर्मवीर, डा. माता प्रसाद, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल

चौहान, अशोक कुमार आदि पुरुष साहित्यकारों ने स्त्रीमुक्ति पर कार्य कर रहे हैं।

वस्तुतः स्त्री मुक्ति का अभिप्राय स्त्री पुरुष की बराबरी में नहीं। पुरुष की पूरक, प्रेरणा, मार्गदर्शिका तथा सहयोगी के रूप में हो। स्त्री मुक्ति तभी सम्भव होगी जब स्त्री सर्वप्रथम अपने अन्दर की हीन भावना से ऊपर उठेगी। स्त्री मुक्ति का यह नारा– ''अबला नहीं है हम पुरुषों से कम नहीं हैं'' शायद यह मूल मन्त्र स्त्री अस्तित्व की पहचान कराने में सार्थक सिद्ध हो रहा है। वह स्त्री के ऊपर निर्भर है वह भविष्य में कैसा जीवन जीना चाहेगी उपभोक्ता के रूप में सृजनशील व्यक्तित्व के रूप में।

सन्दर्भ

1. कृष्णा सोबती : सोबती एक सोहबत, पृ० 398
2. डा० कल्पना वर्मा स्त्री विमर्श : विविध पहलु, पृ० 275
3 स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक : मृणाल पाण्डे, पृ० 16
4. वही, पृ० 80
5. भारतीय नारी–दशा, दिशा : आशारानी व्होरा, पृ० 155
6. सीमन द बउवार – सेकण्ड स्केस रू अनुवाद – स्त्री अपोक्षित ''प्रभाखेतान''
7. भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र : भारतेन्दु समग्र, पृ० 1012
8. डा० कल्पना वर्मा : स्त्री विमर्श विविध पहलु, पृ० 254
9. प्रेमचन्द : गोदान, पृ० 164

हिन्दी

भोजपुरी में प्रबन्धात्मक गीतों का काव्यशास्त्रीय विवेचन एक साहित्यिक अध्ययन

–डॉ० विभार ाय*

सारांश–

भोजपुरी के प्रबन्धात्मक गीतों या लोककलाओं का काव्यशास्त्रीय विवेचना में क्रमशः लोकगाथाओं में पाये जाने वाले श्रृंगार, वीर, रौद्र, करूण, शान्त एवं भक्ति रस का विश्लेषण किया गया है। इसके द्वितीय भाग में लोकगाथाओं में पाये जाने वाले विभिन्न अलंकारों का वर्णन किया गया है। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति अलंकार जो यत्र–तत्र पाये जाते हैं उनका वर्णन है। इसके तृतीय भाग में विभिन्न लोक छन्दों का वर्णन किया गया है, जो छन्द शास्त्रीय दृष्टि से भले ही उपयुक्त न हो, लोक प्रचलन में जनमानस में इनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भोजपुरी लोकगाथाओं में बिरहा, आल्हा, चौबोला, उड़ान, सोरठी, खड़ी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। पाँचवें भाग में भोजपुरी लोकगाथाओं में समानता एवं उसमें पाये जाने वाले देशज शब्दों के बारे में बताया गया है।

विशिष्ट शब्द–

वाङ्गमय, मनीषी, व्युत्पत्ति, विमर्श, सामर्थ्य, अनुभूत, परिवर्तित, अभिव्यक्ति, सार्वजनिक, नाट्यशास्त्र, सारभूत, निचुड़कर, आस्वादन, श्रृँगार, आनन्दमयता, फुहारें, अनुराग आदि।

विधितन्त्र–

प्रस्तुत अध्ययन अवलोकनार्थ एवं विश्लेषणात्मक विधितन्त्रों का प्रयोग करते हुए भोजपुरी में प्रबन्धात्मक गीतों का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन करना है जो साहित्यिक अध्ययन को गति प्रदान कर सके।

अध्ययन का उद्देश्य–

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य भोजपुरी में प्रबन्धात्मक गीतों का कैसे–कैसे व किन रूपों में काव्यशास्त्रीय विवेचन है, का मूल्यांकन करना है।

विश्लेषण एवं व्याख्या–

भारतीय वाङ्गमय में 'कवि' शब्द अत्यन्त सम्मान वाचक रहा है। वेदों में कई बार कवि शब्द का प्रयोग ऋषि, सृष्टा कान्तदर्शी एवं मनीषी के अर्थ में किया गया है। भट्ट गोपाल 'कवि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बतलाते हैं– 'कौति शब्दायते विमृशति रसभावा निति कविः' अर्थात् जो रस भाव इत्यादि का विमर्श करता तथा उन्हें शब्दायित करता है वह कवि हैं। राजशेखर ने 'कवृ' से इसकी व्युत्पत्ति बतलाया है दोनों ही रूपों में कवि के साथ शब्द–शिल्पी का अर्थ जुड़ा हुआ है। कवि वह है जो रस और भावों को सामर्थ्य पूर्वक वाणी दे सके। कवि केवल अनुभूत रस एवं भाव को वाणी ही नहीं देता अपितु उनकी पुनः सर्जना भी करता है।

*असि0प्रो0 एवं अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग, मथुरा राय महिला पी0जी0कालेज, मालटारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)

उसके इसी सृष्टिकर्म की ओर संकेत करता है–

अपाने काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

इसका अर्थ है कि कवि अपने काव्य संसार का विधाता होता है। वह अपने काव्य संसार की सृष्टि में सर्वथा स्वतन्त्र है। ब्रह्मा की सृष्टि को वह ज्यों का त्यों नकल नहीं करता अपितु अपनी रूचि के अनुसार परिवर्तित करके एक विश्व की रचना करता है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में काव्यशास्त्र का उद्देश्य–

काव्य की रचना क्यों होती है? भाव एवं विचार तो सभी के मन में होते हैं किन्तु सभी उन्हें अभिव्यक्ति नहीं करना चाहते। बहुत से लोग तो ह्रदय की अनुभूतियों को छिपाकर रखने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति में कवि आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऐसी स्थिति में कवि अपनी नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों को काव्य के माध्यम से सार्वजनिक क्यों बनाता है ?

आचार्य भरत ने यद्यपि पृथक रूप में काव्य प्रयोजन पर विचार नहीं किया है किन्तु नाट्यशास्त्र की अनेक पंक्तियों में बहुत ही स्पष्ट एवं निभ्रान्त रूप में इस विषय में उनके विचार उपलब्ध हैं। यथा–

दुःखार्न्तानां श्रमार्न्तानां शोकार्न्तानां तपस्विनां।
विश्रान्ति जजनं काले नाटयमेत द्रविश्यति।।

अर्थात दुःख, परिश्रम, शोक तथा साधना से परिश्रान्त जनों को विश्रान्ति प्रदान करना नाटक का प्रयोजन है। इसके आगे दूसरे श्लोक में नाट्यशास्त्रकार का कहना है कि नाटक धर्म, यश और आयु की वृद्धि करने वाला, हितकारी, बुद्धि का विकास करने वाला तथा लोक को उपदेश करने वाला होगा।

भोजपुरी लोक गाथाओं का काव्यशास्त्रीय विवेचन–

भोजपुरी लोक गाथाएं काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर नहीं कही गयी है। लोक गायक किसी काव्य शास्त्र के सिद्धान्त को नहीं जानता है। वह तो अपनी धुन में कथा का तारतम्य बैठाता जाता है और कहानी आगे बढ़ती जाती है। फिर भी अनजानें में ही उसके काव्य में काव्य शास्त्र के बहुत से रूप आ गये हैं। इन पंक्तियों में हम लोक गाथाओं में पाये जाने वाले विभिन्न काव्य शास्त्रीय रूपों का वर्णन करेगें।

रस विवेचना–

भारतीय वाङ्मय में रस शब्द का प्रयोग कई क्षेत्रों में दिखलाई पड़ता है। पदार्थों के सन्दर्भ में इसका सामान्य अर्थ किसी पदार्थ विशेष का सारभूत द्रव्य है। आम का रस कहने से एक ऐसे द्रव्य पदार्थ का बोध होता है जिसमें आम के समस्त गुण निचुड़कर सारभूत रूप में उपस्थित हो गये हैं। भक्ति के क्षेत्र में रस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। 'रसो वैसः' कहकर उस परम तत्व को रस–स्वरूप बतलाया गया है। ब्रह्म रस–स्वरूप है और उसके साक्षात्कार की स्थिति भी रस स्थिति है। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ के छठे अध्याय में रस के स्वरूप का विवेचन किया गया है। वहां यह प्रश्न उठाया गया है– रस क्या है? इस संक्षिप्त प्रश्न का सीधा उत्तर है– रस पदार्थ है।

पुनः प्रश्न है– पदार्थ रस कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए भरत कहते हैं– 'आसाद्यमानात' अर्थात आस्वादन योग्य होने से पदार्थ में रस की स्थिति होती है। आचार्य भरत निम्नलिखित श्लोकों में रस के स्वरूप की व्याख्या करते हैं–

यथा बहुद्रव्यकुत्रैर्त्यजनै बहुर्भियुतम्।
आस्थादयन्ति भुज्जाना भुक्तं भुक्तविदो जना।।
भावाभिनप सम्बद्धांस्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाद्य रसाः स्मृताः।।''

1– भरतः नाट्य शास्त्र–1/113–18

शृंगार रस–

शृंगार को रसराज कहा जाता है। शृंगार को रसराज न मानते हुए आचार्य भरत ने इसकी विशिष्टताओं की ओर अवश्य संकेत किया है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आनन्द वर्धन भी शृंगार का महत्व एवं वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं। वे शृंगार की मधुरता एवं आनन्दमयता पर मुग्धा है।

शृंगार एव मधुरः परः प्रद्यादनो रसः।

तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य प्रतितिष्ठति।।

सोरठी बृजाभार तो रोमांचक गाथा है परन्तु इस काव्य में शृंगार की फुहारें हर जगह मौजूद है।

2– भरत नाट्यशास्त्र : 6/33–34

3– आनन्द वर्धनः ध्वन्यालोक : 8/71

जनिताड़ फूलवा तुहु हम तोड़ि देवोहो।

गड़ी जइहें कंटवा तोहरे गात नूरे की।।

कोमल–कोमल तोहरो बाड़ी अंगुरिया हो।

फूलवा के नीचे तीखा शूल नूरे की।।

लोकगाथाओं में भक्ति रस–

भक्ति को रस माना जाय या नहीं इस पर आचार्यों में सदैव मतभेद रहा है। मम्मट ने देवादि विषयक रति को स्पष्टतः भाव कहना उचित समझा। उनका कहना है कि–

'रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाज्जिनः भावः प्रोक्तं,

भक्ति रस के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ शृंगार आदि नौ रसों के बाद दसवें रस के रूप में भक्ति काव्य विशद विवेचन प्रस्तुत करते हैं। वे इस शंका का भी निराकरण करते हैं कि भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्त रस के भीतर हो जाता है। वे स्पष्ट तर्क देते हैं–

'न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हतिः अनुरागस्य वैराग्यविरूद्धत्वात''

अर्थात शान्तरस में शम (निर्वेद) अथवा वैराग्य की प्रमुखता होती है जबकि भक्तिरस अनुराग मूलक है। वैराग्य और अनुराग एक श्रेणी में नहीं रखे जा सकते, इस कारण शान्त के अन्तर्गत भक्ति का समावेश उचित नहीं है।

दण्डी ने रति और प्रीति में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है–

''प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः श्रृंगारतां गता।

रूप वादुस्यभोगेन ददिदं रसवद्वजः।।''

वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस की प्रतिष्ठा की नहीं कि वरन् इसे मूल रस भी घोषित किया है। इनके अनुसार वास्तविक रस भक्ति रस है। क्योंकि वही पूर्ण आनन्दमय है। श्रृंगारादि काव्य रस काफी शून्य है। यथा–

''परिपूर्ण रसा क्षुद्ररसेभ्यो भववद्रतिः

खद्योतेम्यः इवादिव्यप्रेमेव बलवत्तरां।।''

लोक कथाओं में करूण रस–

करूण रस का आस्वाद पुरातन है। करूण रस का आस्वाद सुखात्मक है, या दुःखात्मक यह प्रश्न विवादास्पद है। दुःख से आनन्द की उपलब्धि कैसे हाती है? क्योंकि करूण से दुःख की अनुभूति होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को आनन्दात्मक माना जाता है। इसका स्थायी भाव शोक है। इसका सर्वाधिक श्रेय उत्तर रामचरित नाटक के लेखक भवभूति को प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने करूण रस में माधुर्य एवं आर्द्रता की स्थिति मानकर शृंगार और विप्रलम्भ में उत्तरोत्तर उत्कर्ष की स्थिति मानते हुए लिखा है कि–

4– महादेव सिंह : सोरठी वृजभार : पृ0 22

5– पण्डित राज जगन्नाथ रसगंगाधर : प्रथम माननम् : पृ0 189

''शृंगार विप्रलम्भारूये करूणे च प्रकर्शवत्,

माधुर्ययार्द्रता यातियतस्तत्राधिकं मनः।''

आनन्दवर्धन का यह कथन सिद्ध करता है कि वे करूण रस को शृंगार रस से भी अधिक आनन्ददायक मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से सचेत व्यक्ति

ही करूण रस की ओर आकृष्ट होते हैं अन्य नहीं, उनके अनुसार काव्य में दुःखद कारणों से ही आनन्द की अनुभूति होती है। यदि उनको दुःख की प्राप्ति होती तो कोई भी उसकी ओर उन्मुख न होता–

''किंच तेशु यदां दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।''

लोक कथाओं में वीर रस–

इसका स्थायी भाव उत्साह है। काव्यानुशासनाकार वाग्भट बतलाते हैं कि प्रतिनायक की ओर से अभिनय समारोह, अध्यवसाय, बल, प्रताप, शक्ति प्रभाव और विक्रम आदि के अधिक्षेप से वीरत्व का संचार होता है और इनसे सम्बद्ध स्थितियाँ वीर रस के विभाव के रूप में काम करती है।

वीरत्व के चार भेद बतलाये गये हैं–

1. दानवीर   2. धर्मवीर

3. युद्धवीर और   4. दयावीर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उत्साह की परिभाषा करते हुए कहते हैं–

''उत्साह का अर्थ है–साहस की उमंग जो किसी कठिन कम की ओर प्रेरित करती है। उत्साह में आलम्बन और लक्ष्य स्थिर और परिस्फुट नहीं होते। इसी से मनोविज्ञानियों ने प्रधान भावों की गिनती में उसे नहीं रखा है। यद्यपि ग्रन्थों में प्रतिमल्ल, दानपात्र और दयापात्र को उत्साह के आलम्बन कहा है पर भाव के अनुभूति काल में इन व्यक्तियों की ओर वैसा ध्यान नहीं रहता जैसा और भावों के प्रतीति काल में रहता है।''

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि युद्ध या युद्ध के लिए तैयार होकर जाना ही वीर रस है। लोरिकायन एक वीरगाथा काव्य है जिसमें जगह–जगह युद्ध का वर्णन है।

''खाँड़ गइल गरदने बा भहराय,
पच्छिम न काटत बाघुमाय।
एकद धूमल दक्खिन के बाय,
ऐसन न लोहा बा लगल।
दक्खिन से काटत घूमल पूरब,
पूरब से घूमल उत्तर बाय।
एक के फेवटा घुमवले,
टाल गइल लास बा गँजाऽऽय।।''

दूसरी जगह निरमल और लोरिक के बीच में युद्ध का वर्णन है–

''अहीर चलत पैंतरा पर बाय,
एक लंगे राजा पैंतरा पर चलऽत।
सोनभद्दर के बायड तीर,
दूनो न सुबा बाय सम्हरल।।''

6– आनन्दवर्धन : धन्यलोक, 2/3

7– आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 113/511

8– रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ0 130

9– डॉ0अर्जुन दास केशरी : लोरिकायन, पृ0 113

10–डॉ0अर्जुन दास केशरी : लोरिकायन, पृ0 113

रौद्र रस

वीर गाथात्मक लोकगाथाओं में रौद्ररस प्रायः मिलता है। इसका स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध की उत्पत्ति पर विचार करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि– वह अपकर्षण अर्थात स्त्रियों का तिरस्कार करना, अधिक्षेप अर्थात देशकुल, जाति, विद्याकर्म आदि की निन्दा, अनृत अर्थात झूठी बात कहना। उपघात अर्थात घर के मूल्यों का पीड़न, वाक्य पौरूष्य, अभिद्रोह आदि के कारण रस उत्पन्न होता है। सरल भाषा में रौद्ररस को निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है–

1. जिस रस के आस्वादन के क्रोध प्रकट हो उसे रौद्र रस कहते हैं।

2. जहाँ विरोधी दल की छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरूजन निन्दा तथा देश और धर्म के निरादर आदि से प्रतिशोध की भावना जागृत होती है वह रौद्र रस होता है। उदाहरणार्थ–

बात न चीत के सरबर,

बात न कस लेहले न मैदान।

राजा अपने पुजीसन में बाय कसले,

अहिर न पहिरत बा अपनो बत्तीसो समान।।

यहाँ निरमल, लोरिक को युद्ध के लिए ललकार रहा है।

आल्हा का एक उदाहरण देखि–

ऐसा मारेगा खेतों तेरे हाड़ मिलेंगे नाय।

सुनकर बातें पिरथीराज की गुस्सा भरा बदन में जाय।

गरज के मलखे ऐसे बोला दुश्मन तेरा बुरा हो जाय।

डूम भाट क्या जाने मुझको हब्बे का रहा डर दिखलाय।।

यहाँ पृथ्वीराज, मलखान आपस में बातचीत करते हैं। रौद्र रस का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है–

रामा धिक तोर भइले जनमवां रे ना।

रामा धिक तोर माई के गरभव रे ना।

रामा जाहि कोखि भइल तोर जनमवां रे ना।

रामा सुनिकर अतना बचनवां रे ना।

रामा कुँवर पीसे खीसी दातवां रे ना।।

भोजपुरी में लोकगाथाओं में छन्द विधान–

लोकगीत में लोकजीवन में व्याप्त अनुभूतियों का जब वर्णन हुआ है तो उनके रचयिताओं ने छन्दबन्धन को कुछ मात्रा में ही स्वीकार किया है। जहाँ तक लोकगाथाओं का सम्बन्ध है उनमें छन्द विधान का प्रायः लोप ही दिखाई पड़ता है। विशेष करके उसमें टेक और 'रेना'

11. डॉ0अर्जुन दास केशरी : लोरिकायन, पृ0 107
12. मटरूलाल अत्तार : आल्हखण्ड, पृ0 72
13. महादेव प्रसाद सिंह : कुँअर बिजई, पृ0 158

की अनुगूंजज सुनाई पड़ती है। स्वतः स्फूर्त काव्य गाथा में वे छन्द के बन्धन में बँधना नहीं चाहते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में रचना श्लथ हो उठती है।

आगे चलकर भविष्य में पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने छन्दबन्धन को अस्वीकार किया। स्यात उनके मस्तिष्क में भी लोकचित्र उकेरने वालों का चित्र उभर रहा है।

लोरिकायन एक प्रसिद्ध वीरकथात्मक लोकगाथा है, जिसमें बिरहा छन्द का प्रयोग हुआ है।

बिरहा–

डॉ0 ग्रियर्सन ने बिरहा के छन्दविधान के बारे में बतलाते हुए लिखा है कि– ''पढ़ते समय ये बिरहे शायद ही छन्द के नियमों के अनुसार मिलें, जब तक हम याद न रखे कि बहुत से दीर्घ स्वर पढ़ते समय लघु कर दिये जाते हैं। इनमें कभी–कभी ऐसे व्यर्थ के शब्द होते हैं, जो छन्द के अंगीभूत नहीं होते।''

पुनः इसी विद्वान ने आगे चलकर अपना मत प्रकट करते हुए स्पष्ट लिखा है कि पिंगलशास्त्र के नियम इनके सम्बन्ध में शिथिल पड़ जाते हैं।

''बिरहा'' अहीरों में मुख्य रूप से सम्बन्धित है। इसमें चार चरण होते हैं, इसलिए इसे चार कड़ियां भी कहा जाता है। इसके प्रथम चरण में 12 और तृतीय चरण में 11 अक्षर होते हैं, द्वितीय चरण में 13 अक्षर और चतुर्थ चरण में 12 अक्षर होते हैं।

कहना सनबा एठिन हमार,

देख भाई जाति चमार ई ठहरल।

हम न देब सङ्हं तोहार,

हमार धरम हो जाई नकसान।।

नीचे एक और बिरहा दिया जा रहा है। इसमें भी चार चरण हैं, पहले और चौथे चरण में 18–17 अक्षर, दूसरे चरण में 13 अक्षर, तीसरे चरण में 16 अक्षर होते हैं।

एहर एक गाँव परल सुरावल बाय पाल,

अभी बडचल खर्चा पल्ले में बाय।

चलकर देखा बमरी नंना का दरबार,

डाक–डाक दूनों पीठि पर भयल असवार।

आल्हा–

यह एक विशेष प्रकार का छन्द है। इसमें महोबे के

वीर और ऊदल की कथा कही गयी है। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि इस गाथा का नाम आल्हा पड़ा जिसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत है–

14. डॉ0 श्रीधर मिश्र : भोजपुरी लोक साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 273

15. डॉ0 अर्जुन दास केशरी : लोरिकायन, पृ0 183

हाथ जोड़ के मलखे बोला,
सेवक को दे हुक्म सुनाय।
इस पर जबाब दिया दुरगे ने,
मलखे सुनलो कान लगाय।।

इसके प्रथम चरण में 10 अक्षर द्वितीय चरण में 11 अक्षर तृतीय चरण में 13 अक्षर और चौथे चरण में 11 अक्षर होते हैं। दूसरे और चौथे चरण के अन्त में गुरू लघु होता है। एक और उदाहरण नीचे दिया जा रहा है–

ऽ।।ऽऽ ।। ।।ऽऽ
ऊदल दाबे जब बगली को,
ऽ। ।।। ऽऽ ।। ऽ।
बीस कदम पीछे हट जाय।
।।ऽऽऽ ।।ऽ।।ऽ
बगली दाबे जब ऊदल को,
ऽ। ।।। ऽऽऽ।ऽ।
तीस कदम लो रेदेल जाय।।

यति के ऊपर गणना करने पर निम्नलिखित रूप मिलता है। मात्राओं की गणना करने पर–

प्रथम चरण– 2+1+1+2+2+1+1+1+1+2+2 = 16 मात्राएं

द्वितीय चरण– 2+1+1+1+1+2+2+1+1+2+1 = 15 मात्राएं

तृतीय चरण– 1+1+2+2+2+1+1+2+1+1+2 = 16 मात्राएं

चतुर्थ चरण– 2+1+1+1+1+2+2+2+2+1 = 15 मात्राएं

यहां प्रथम और तृतीय चरण में 16–16 मात्राएं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में 15–15 मात्राएं हैं। द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्त में एक गुरू और एक लघु है। इस प्रकार कुल 62 मात्राएं हैं।

लोक कवि पिंगलशास्त्र के पचड़े में न पड़कर काव्य की रचना करता है, रचना करते समय उसके हृदय में जो भाव आते हैं, उन्हें छन्दशास्त्र के नियमों की परवाह न करके लिपिबद्ध कर देता है। वह सर्वथा स्वतन्त्र होता है, छन्द शास्त्र के नियमों पर ध्यान नहीं देता है।

16. मटरूलाल अत्तार : आल्हखण्ड, पृ0 93

17. मटरूलाल अत्तार : आल्हखण्ड, पृ0 293

अलंकार योजना की विशेषता–

1. इसकी पहली विशेषता यह है कि अलंकारों का सन्निवेश अनायास हो जाता है, अर्थात् लोक कवि अलंकारों का प्रयोग जानबूझकर नहीं करता है। गीतों में जो अंलकार उपलब्ध होते हैं, वे बिना प्रयास के स्वतः आ जाते हैं। गीतों को पढ़ने से इसका पता चल जाता है।

2. लोकगाथाओं में अलंकार विधान की दूसरी विशेषता इनकी मौलिकता है।

लोक कवि ने जिन उपमानों का प्रयोग किया है, वे कवि परम्परायुक्त नहीं हैं, बल्कि नूतन और मौलिक हैं। प्राचीन कवियों ने नेत्रों की उपमा खंजन, मीन और मृग की आँखों से दी है। परन्तु लोक कवि ने परम्परा युक्त उपमानों का तिरस्कार कर 'आम के फारी' से इसकी तुलना की है अथवा दान बहादुर सिंह सूँड़ ऐसे हास्य कवि ने इसी क्रम में 'आँख जैसे अरहर की खुत्थी' लिखकर उसकी तीक्ष्णता का बोध कराया है। गाँव का निवासी देखता है कि अरहर काटने के बाद खुत्थी कितनी नुकीली होती है और कवि ने उसी नुकीलेपन को आँख में देखा है तथा लोकजीवन से उसकी उपमा दी है। ऐसी उपमा कविजन विद्रुम या बिम्बफल से दिया करते हैं। परन्तु ग्रामीण कवि 'कटे हुए पान' के टुकड़े से

उसकी समानता करता है।

3. तीसरी विशेषता ग्रामीण वातावरण से उपमानों का चुनाव। लोक कवि जिस वातावरण में जन्म लेता है और पलता है, उस वतावरण का उसके ह्रदय पर स्थायी प्रभाव बना रहता है, अतः वह अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए जिन उपमानों का चुनाव करता है, वह उसके आस–पास की चिर–परिचित वस्तुएं हुआ करती हैं। यथा– पेट की उपमा, परैन के पत्ते, पीठ की उपमा, धोबी के पाठ से दी है।

अरे पेट तोर हवे पिया पुरइन पतवा रे ना।
अरे पीठ तो हवे पिया धोबी पटवा रे ना।।

4. ग्रामीण योजना की चौथी विशेषता है आकृति साम्य अर्थात लोक कवि उपमानों का चुनाव करते समय उपमेय की आकृति का अनुकरण करने वाले उपमान को ही महत्व देते हैं। जैसे– किसी स्त्री के जूरा की उपमा 'हूरा' (लाठी की निचला गोलाकार भाग) से दिया जाता है। क्योंकि जूरा भी गोल होता है।

वर्णों के बार–बार तथा आस–पास के प्रयोग से भावना में प्रवाह तथा रसमयता आ जाती है। यथा–

खट खट खट खट तेगा बाजे,
चल रही छपक छपक तलवार।।

यहाँ पर खट खट शब्द का प्रयोग और छपक छपक का प्रयोग कई बार हुआ है।

हिन्दी

अमृतलाल नागर जी के उपन्यासों का इतिहासबोध

–अल्कार ाय*

कोई भी उपन्यास चाहे वह ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, उसका प्रधान लक्ष्य होता है, जीवन की विविध मानवीय सम्वेदनाओ का विस्तार कर भावनाओं एवम् विचारों, हृदय एवम् मस्तिष्क के बीच एक नवीन सामंजस्य स्थापित करना तथा सीमित रूप में जीवन के चिरन्तर सत्य का उद्घाटन करना[1]। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उपन्यास कल्पना का सहारा है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं एवम् तथ्यों का सहारा लेकर अपने काल्पनिकप्रदेय का पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। दोनो एक दूसरे के मूलभूत तत्वों का प्रयोग करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास की कला इतिहास की तरह ज्ञानबोधात्मक नही, चित्रात्मक है। वह जानकारी नहीं देती, बिम्बात्मक अनुभूति कराती है और इसके लिए उसे पात्रों तथा अतीत का सजीव पुर्ननिर्माण करना होता है। वह स्थूल ऐतिहासिक तथ्यों से बच भी सकता है किन्तु ऐतिहासिक वातावरण के जीवन्त निर्माण के प्रतिबन्ध से नही बच सकता[2]।

ऐतिहासिक उपन्यास इतिहासकार की भांति केवल घटनाओं का ब्यौरा मात्र प्रस्तुत नहीं करता, वह अतीत कालीन घटनाओं को गहरे मानवीय सत्य के साथ तो जोड़ता ही है, उसका चित्रण भी इस प्रकार से करता है कि उसकी प्रासंगिकता बनी रहे और वर्तमान जीवन के प्रश्न और पुनरावर्तन दिखाता है तो उसका उद्देश्य अतीत की भूलों से अवगत कराकर वर्तमान और भविष्य की समस्याओं के प्रति समाज को चेतावनी देना होता है। उपन्यास स्वभावतः यथार्थ का होता है चाहे वह यथार्थ अतीत का हो अथवा वर्तमान का। ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो इसी में है कि उसमें किसी बीते हुए युग के जीवन का चित्रण पूर्णता एवम विविधता के साथ किया जाये, जिससे सुधी पाठकों के सम्मुख उस काल का स्पष्ट एवं सजीव चित्र मस्तिष्क में उभर आये। यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है कि जब लेखक ने उस काल की सभी बातों का पूर्व अध्ययन किया हो और साथ ही उसमें स्पष्ट एवं यथार्थ के वर्णन की क्षमता हो[3]।

नागर जी के ऐतिहासिक उपन्यास–

इतिहास और पुरातत्व के प्रति नागर जी का लगाव उनके साहित्य प्रेम से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतिहास के प्रति उनका लगाव किसी एक कालखण्ड से न होकर भारत के प्राचीन इतिहास से होता हुआ, मध्य कालीन और आधुनिक इतिहास तक पहुंचता है। इतिहास सम्बन्धी अपने ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपने साहित्यिक निर्माण में किया है। उन्होंने बहुत ही सधे हुए चरणों से इतिहास की सीमा में प्रवेश किया है। उनके ऐतिहासिक उपन्यास की विशिष्टता वस्तुतः उनकी सजीव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसमें पाये जाने वाले सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के चित्रण में है।

यद्यपि नागर जी द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक

*बाबू शिवपत्तर राय स्मारक महाविद्यालय, रामगढ़, सगड़ी, आजमगढ़ (उ0प्र0)

उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है, पर उनके लिखे ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। नागर जी द्वारा लिखे गये प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में शतरंज के मोहरें, मानस का हंस, एक घूँघट वाला मुखड़ा, खंजन नयन, चैतन्य महाप्रभु, विशेष रुप से उल्लेखनीय है। 'भूख' और 'सुहाग के नूपुर' को कुछ विद्वान एतिहासिक रचना मानते हैं तो कुछ विद्वान उसे विशुद्ध सामाजिक उपन्यास की श्रेणी में रखते हैं।

'शतरंज के मोहरे 'नागरजी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें 1857 की क्रान्ति के पहले के अवध का बहुत ही यथार्थ एवम कलात्मक रुप प्रस्तुत हुआ है। 'सुहाग के नूपुर' दक्षिण भारत की प्राचीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को कलात्मक बना दिया है। तीसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'सात घूँघट वाला मुखड़ा' ऐतिहासिक चरित्र प्रधान उपन्यास है, अतः इसमें कल्पना का अधिक समिश्रण हुआ है। चन्द्रगुप्तकालीन इतिहास का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने वाला 'एकदा नैमिशारण्ये' ऐतिहासिक उपन्यास से अधिक सांस्कृतिक है। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत पर आधारित उपन्यास 'मानस का हंस' ऐतिहासिक सांस्कृतिक तत्वों से युक्त है। ठीक इसी कड़ी का आगे बढ़ाने वाला उपन्यास 'खंजननयन' और 'चैतन्य महाप्रभु' क्रमशः सूरदास और चौतन्य महाप्रभु के जीवन चरित पर आधारित होते हुए भी तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है।

नागर जी के उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का समन्वित रूप देखने को मिलता है। उनके उपन्यासों के विशुद्ध कल्पित पात्र और घटनाएं भी इतिहास का अंग प्रतीत होती हैं उनके उपन्यासों में प्रस्तुत कल्पित पात्र और घटनाएं अपनी पृष्ठभूमि से जुड़ कर ही सामने आये हैं। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना में 'कल्पना' का महत्व सभी विद्वान स्वीकार करते है क्योंकि 'कल्पना' के अभाव में ऐतिहासिक उपन्यास कोरा इतिहास बन कर रह जाऐगा।

नागर जी के उपन्यासों में 'भूख' एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित उपन्यास है। लेखक ने 1943 के दुर्भिक्ष एवं तत्कालीन स्थिति, भुखमरी का सजीव चित्रण किया है। यह उपन्यास न तो ऐतिहासिक है और न ही लेखक का उद्देश्य किसी ऐतिहासिक पात्र अथवा इतिहास का चित्रण करना है। मुख्य रूप से यह उपन्यास 1943 के भीषण अकाल का यथार्थ, प्रामाणिक तथा जीवन्त चित्रण प्रस्तुत करने वाला सामाजिक चेतना वलयित उपन्यास है।

सन्दर्भ

1. डॉ0 गुप्त, जगदीशः आलोचना; उपन्यास विशेषांक 1954; अक्टूबर, पृष्ठ– 176
2. चुघ, सत्यपालः हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास, प्रतिमान एवम विकासेतिहास, पृष्ठ– 6
3. डॉ0 गोविन्द जी : हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास प्रयोग, पृष्ठ– 61

संस्कृत

मानव जीवन में शकुन विचार

–डॉ० पूनम देवी*

मानव के जीवन में कौन सा समय शुभ हैं, कौन सा समय अशुभ है, इसका विचार शकुन शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। संस्कृत में शकुन पंक्षी विशेष को कहते है।[1] शब्द कल्पद्रुम के अनुसार–

"शक्नोति शुभाशुभं अनेनेति शकुनम्"।[2]

किसी कार्य के समय दिखाई देने वाले लक्षण जो कार्य के विषय में शुभ–अशुभ की सूचना देते हैं, वे शकुन कहलाते है। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि ऐसी आकस्मिक घटना को जिसे भविष्य का द्योतक समझा जाता है, शकुन कहलाता है। अतः भविष्य के सम्बन्ध में अप्रत्याशित संदेश का नाम शकुन है।

शकुन हमारे भविष्य में होने वाली घटना का संकेत देते है। प्राचीन काल से ये शकुन लोकवार्ता के द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी पहुँचते रहे है। कुछ लोग इन शकुनों को अन्ध–विश्वास मानते है, फिर भी अधिकतर लोग इन शकुनो की उपेक्षा नही करते है। हर मनुष्य कभी न कभी किसी न किसी रुप में शकुन को मानते है। शकुन के परिणाम उतने ही प्राचीन है, जितनी मनुष्य जाति। न केवल भारत में अपितु विश्व भर में ये शकुन प्रचलित है। शकुन का संकेत हमारे वेदों, पुराणों महाभारत, रामायण एवं लौकिन संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

शकुन–शास्त्र का विचार विविध रुपों के द्वारा किया जाता है। जैसे विविध पशु–पंक्षियों की आवाज, मानव के विविध अंगो का फड़कना, छीक द्वारा स्वप्न विचार एवं प्राकृतिक स्वरुप इत्यादि यह सभी शकुन–शास्त्र के अंग हैं। हमारे समाज में किसी कार्य के लिए निकलते समय या यात्रा करते समय पशु–पंक्षी दिखाई दे या उनकी आवाज सुनाई दे तो उनके अनुसार शकुन देखने की परम्परा रही है। यह प्राणी किस दिशा में दृष्टि गोचर होते है या बोलते है इनकी स्थिति व बोली के अनुसार शुभ और अशुभ का अनुमान लगाया जाता है।

शकुन–शास्त्र में उल्लू का दिन में बोलना, सियारो का शब्द करना, कौआ की कर्कश बोली, मृगो का विचरण करना, बिल्ली का शब्द गमन, कबूतर का गुटूर गू करना इत्यादि पंक्षियों की आवाज अशुभ मानी जाती है। उल्लू और कबूतर का दिन में बोलना उस ग्राम व शहर के लिए अशुभ माना गया है। यदि किसी व्यक्ति के घर पर दिन में उल्लू बोलता है तो वह घर खाली हो जाता है अर्थात् वह विनाश की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

बोले घू घू घर पे जाय, पड़े विपत्त खाली हो जाय।[3]

घर से निकलते समय यदि बिल्ली रास्ता काट देती है, तो उसे भी अशुभ माना जाता है। यह केवल लोक व्यवहार में ही प्रचलित नही है अपितु बृहत्संहिता में भी इसका उल्लेख हुआ है।

---

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर (उ0प्र0)

यातुर्बिडालविरुत न शुभं सदैव।[4]

कौआ जो अपने रुप रंग से अत्यन्त ही काला तथ उसकी बोली कर्कश मानी जाती है, उसे भी अपशकुन माना गया है। मृच्छकटिकम् ग्रन्थ में जब चारुदत्त को न्यायाधीश द्वारा न्यायालय में बुलाया जाता है तो, जाते समय चारुदत्त को कुछ आवाज सुनाई देती है।। जब वह सामने देखता है तो एक सूखे वृक्ष पर सूर्य की ओर अभिमुख होकर रुक्ष स्वर में कौआ कॉव–कॉव कर रहा है, तो चारुदत्त उसे महान विपत्ति का सूचक मान लेता है।

रुक्षस्वरं वाशति वायसोऽय ममात्यभृत्या मुहराह्यन्ति सव्यं च नेत्रं स्फुरन्ति प्रसह्म ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति।।[5]

हर्षचरित महाकाव्य में भी शकुन–शास्त्र का उल्लेख हुआ है। इसमें सियारों को अशुभ सूचक माना गया है। इसमें वर्णित है कि सियारों का ऊपर की ओर मुख करके जोर–जोर से चिल्लाना महाराज हर्षवर्धन के लिए उनके पिता प्रभाकर वर्धन की भावी मृत्यु का सूचक समझा गया है।[6] शकुन–शास्त्र की दृष्टि से कुछ पशु–पंक्षियो को शुभ भी माना गया है। यात्रा करते समय यदि दाहिनी तरफ हिरण, सॉप, बन्दर, बिलाव, कुत्ता, सुअर, नेवला तथा चूहा दिखाई दे तो यात्रा मंगलकारी होती है, यदि यही इसके विपरीत दिखाई दे तो अमंगलकारी हो जाता है।

मृगाहि कपि मार्जार श्वानः शूकर पक्षिणः।

नकुली मूशिकश्चैव यात्रायां दक्षिणे शुभः।।[7]

गीतिकाव्य मेघदूत में चातक, मोर तथा बगुला पक्षी को शुभ माना गया है। यक्ष मेघ को अलकापुरी के मार्ग को बताते हुए कहता है कि वायु तुम्हारे अनुकूल बहेगी। वर्षा की बूंदो को पीकर गर्व से भरा पपीहा तुम्हारे वाम भाग में स्थित होकर मधुर शब्द करेगा तथा पंक्तिबद्ध बगुलियाँ उत्साह से भरी हुई दूर तक तुम्हारा अनुगमन करेगी। यह सभी निश्चित रुप से तुम्हारी यात्रा में मंगलमय सिद्ध होगें।

मन्दं–मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां

वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।

गर्भाधानक्षण परिचयान्नून माबद्धमालाः

सेविश्यन्ते नयन सुभगं रवे भवन्तं बालाकाः।।[8]

मानव के विविध अंगो का फड़कना भी शकुन–शास्त्र का सूचक माना जाता है। कभी नेत्रों का फड़कना, कभी भुजाओं का फड़कना, कभी जघाओं का फड़कना शुभ तो कभी अशुभ हो जाता है। स्त्री के वाम अंग का फड़कना शुभ तो पुरुष के दाएँ अंग का फड़कना शुभ माना जाता है तथा इसके विपरीत होने पर अशुभ होता है। अशोक वाटिका में श्रीराम के विरह में क्षीणकाय हुई सीता का जब वाम नेत्र फड़कने लगा, वाम भुजा फड़क उठी , बाएँ जॉघ में कुछ विस्फुरण हुआ ओर शिर का ऑचल सरक गया तब उन्हें लगा कि कोई सुखद समाचार मिलने वाला है, तभी उन्होंने सामने देखा कि हाथ जोड़े हुए श्रीराम का संदेश सुनाने के लिए हनुमान जी खड़े है।

भुजन्च चार्वञ्चित पीनवृतः पराध्र्यकाला गुरुचन्दनार्हः।

अनुन्तमेनाध्युशितः प्रियेण चिरेण वामः समवेपताशु।।[9]

अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक में राजा दुश्यन्तः मृग का पीछा करते हुए जब कण्व मुनि के आश्रम में अतिथि सत्कार के निमिन्त जाने लगते है, तो उस समय उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगती है। इस पर विचार करते हुए कहते है कि भुजा फड़कने का फल यहाँ कैसे सम्भव है।

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।[10]

इससे प्रतीत होता है कि पुरुष के दाहिने अंग का फड़कना शुभ तो स्त्री के वामांग का फड़कना शकुन शास्त्र की दृष्टि उत्तम माना गया है।

रात्रि में देखा गया स्वप्न भी मानव के जीवन में शुभ और अशुभ का संकेत देते है। स्वप्न दो प्रकार के होते

है। शुभ स्वप्न और अशुभ स्वप्न। शुभ स्वप्न शकुन है तथा अशुभ स्वप्न अपशकुन है। वाल्मीकि रामायण में अशोक वाटिका में अकेली बैठी हुई सीता को राक्षसियों के द्वारा डराए जाने तथा मार डालने की बात कहने पर त्रिजटा नामक राक्षसनी सभी राक्षसनियों को बताते हुए कहती है कि आज मैंने बड़ा ही भयानक स्वप्न देखा है, जिससे मालूम पडता है कि रामचन्द्र जी का कल्याण तथा राक्षसों का विनाश होगा।

स्वप्नो ह्मद्य मया दृष्टो दारुणों रोमहर्षणः।

राक्षसानाम भवाय भर्तुरस्या जयाय च।।[11]

स्वप्न का वृतान्त बताते हुए त्रिजटा कहती है कि लक्ष्मण जी के साथ श्रीराम सफेद वस्त्र और माला धारण किए हुए विमान पर बैठकर आकाश मार्ग से लंका में आए है। हमारे स्वामी रावण शिर मुडाकर, तेल लगाए, काला वस्त्र पहने हुए, मद्यपान करके और करीर की माला पहने पुष्पक विमान से नीचे गिर गए है और उन्हे पकड़कर एक स्त्री खींच रही है। इस प्रकार त्रिजटा स्वप्न की बात बताकर श्रीराम के लिए शुभ तथा रावण के लिए अशुभ बताती है।

अयोध्या नरेश महाराज दशरथ की मृत्यु हो जाने पर मत्रियों ने ननिहाल गए हुए भरत को कैकय देश से लाने के लिए जब अनुचरों को भेजा, उसी रात को भरतजी ने बड़ा ही भयानक स्वप्न देखा था। स्वप्न देखकर भरतजी अत्यन्त ही दुखी और उदास थे। मित्रों के द्वारा पूछे जाने पर कहते है कि मैंने स्वप्न देखा है कि पिताजी का मुख मलीन हो गया है, उनके केश खुले हुए है और वे पर्वत शिखर से एक गोबर भरे गढ्ढे में गिर गये है।

स्वप्ने पितरंमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।

पतन्तमद्रिशिखरात्कलेशु गोमयहृदे।।[12]

आगे बताते हुए कहते है कि वे उसमें तैर रहे है और बार–बार हंसते हुए चुल्लू से तेल पी रहे है। फिर उन्होनें तिल मिला हुआ भात खाया और सिर नीचा कर लिया। स्वप्न में मैंने यह भी देखा कि पृथ्वी फट गयी है, वृक्ष सूख गए है, पर्वत गिर गए है और उनसे धुआँ निकल रहा है।

अवतीर्णा च पृथिवीं शुश्कांश्च विविधान्द्रुमान।

अहं पश्यामि विध्वस्तान्सधूमांश्चापि पर्वतान्।।[13]

हर्षचरित महाकाव्य में हर्षवर्धन रात्रि में भयानक स्वप्न देखता है कि वह पसीने से तर–बितर हो गया है, ललाट पर सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ रहा है, कार्य की व्यग्रता के कारण इन्द्रियॉ मानो उसके शरीर से पृथक हो गयी है। वह प्रातः काल जैसे ही उठता है उसी समय राजा प्रभाकर वर्धन की अस्वस्थता का समाचार लेकर संदेश वाहक आ पहुँचते है। यह उनके लिए अशुभ सिद्ध होता है।[14] अथर्ववेद के मंत्रो में भी शकुन और अपशकुन का उल्लेख हुआ है। शुभ कार्यो में प्रायः शकुन का होना लाभदायक होता है। अतः मंत्र में ऋषि का कथन है कि दिन–रात, प्रातः साय आदि सभी समयों में शकुन हो अपशकुन न हो।

स्वस्तितं में सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं में अस्तु।।[15]

शुभाशुभ के इन बहुत से तथ्यों को जान लेने पर कुछ और भी ऐसे तथ्य प्राप्त होते है जिनके द्वारा शकुन का विचार किया जाता है। जैसे किसी कार्य के लिए प्रस्थान करते समय वायु का अनुकूल बहना शुभ तथा प्रतिकूल बहना अशुभ माना जाता है। मेघदूत में भी इसका वर्णन हुआ है। घर से निकलते समय किसी के द्वारा टोक देना, छींक आ जाना सामने खाली घड़ा दिखाई देना अच्छा नही माना जाता है।

सर्वैमे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव।[16]

वैदिक युग, रामायण, महाभारत काल से लेकर आज तक शकुन शास्त्र की झलक देखने को मिलती है।

आज मानव अपनी प्राचीन संस्कृति को छोड़कर वैज्ञानिक युग की प्रगति पर अग्रसर हो चुका है, लेकिन फिर भी शकुन–शास्त्र के घेरे से वह पूर्ण रुप से बाहर नही निकल पाया है। कम या अधिक रुप में वह आज भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। यदि हम आज भी शकुन शास्त्र का विचार करके कार्य करे तो निश्चित रुप से बिना किसी विध्न के सफलता की प्राप्ति हो सकती है। अतः हम शकुन–शास्त्र की सत्ता का निषेध नही कर सकते है।

सन्दर्भ

1. संस्कृत हिन्दी कोश शिवराम आप्टे, पृष्ठ– 996
2. शब्द कल्पद्रुप पंचमकाण्ड, पृष्ठ– 2
3. मेघमाला पृष्ठ– 526
4. बृहत्संहिता अध्याय 88 / 35
5. मृच्छकटिकम् 9 / 10
6. हर्षचरित उच्छ्वास 5, पृष्ठ– 162
7. गरुड़ पुराण 30 / 12
8. पूर्वमेघदूत श्लोक 10
9. वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड 29 / 3
10. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 9 / 16
11. वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड 27 / 6
12. अयोध्या काण्ड 69 / 8
13. वा०रामा०अयोध्याकाण्ड 69 / 13
14. हर्षचरित पंचम उच्छवास, पृष्ठ– 260
15. अथर्ववेद 19 / 8 / 3
16. अथर्ववेद 19 / 8 / 4

संस्कृत

रसों के भेद- एक विवेचन

–डॉ०न मिता निगम*

रस शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से सम्बन्धित है। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रस शब्द का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट तत्व के लिए होता है। खाद्य पदार्थों और फलों के क्षेत्र में रस मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है। संगीत के क्षेत्र में कर्णेन्द्रिय द्वारा प्राप्त आनन्द रस है। अध्यात्म के क्षेत्र में स्वयं परमात्मा को ही रस या रस को परमात्मा घोषित किया गया है– ''रसो वै सः'' अर्थात् रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्दानुभूति को ही रस की संज्ञा दी गयी है। अस्तु काव्यानन्द ही रस है।

संस्कृत साहित्य में रस तत्व की महत्ता निर्विवाद है। प्रायः सभी आचार्यों ने रस का विवेचन किसी न किसी रूप में अवश्य किया है। रस स्वरूप के ही विषय में नहीं, अपितु रस संख्या के विषय में भी सभी आचार्यों में मतैक्य नहीं है। अतः विभिन्न आचार्यों के रससंख्या विषयक मतों का उल्लेख एवं विवेचन प्रस्तुत है–

सर्वप्रथम रस स्वरूप के प्रथम उद्भावक, नाट्य शास्त्रकार भरतमुनि का रस संख्या विषयक दृष्टिकोण यहाँ प्रस्तुत है। भरतमुनि के अनुसार रसों की संख्या आठ है –

श्रृंगार–हास्य–करुण–रौद्र–वीर–भयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यश्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

इन रसों में श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स रस क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों के जनक या उत्पादक बताये गये हैं। इस प्रकार भरतमुनि ने चार प्रकृति रस या मूल रस तथा चार गौण रसों को मानकर कुल आठ रसों को स्वीकृति प्रदान की है।

नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने– अभिनव भारती' (नाट्य शास्त्र की टीका) में शान्त रस को स्वीकार करते हुए, उसे सभी रसों में श्रेष्ठ माना है। अभिनव गुप्त का मानना है कि नाट्यशास्त्र में भी शान्त रस का उल्लेख हुआ है लेकिन शान्त रस का विरोध करने वालों ने ''श्रृंगार........वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः'' इस पाठ के स्थान पर, शान्त रस को हटाकर अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ऐसा पाठ कर दिया। इसे निर्भान्त रूप से सभी आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है लेकिन अभिनव गुप्त ने रसों की संख्या नौ मानी है।

भरत के प्रकृति रस सिद्धान्त को अग्निपुराण भी मानकर चलता है लेकिन इसमें एक नई बात और जोड़ी गयी है कि चारों प्रकृति रस श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स भी रति से उद्भूत होते हैं। अग्निपुराण के अनुसार श्रृंगार से हास्य की, रौद्र से करूण की, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है–

श्रंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चाद्भुतनिश्पत्तिः स्याद् वीभत्साद् भयानकः।।

*अध्यक्ष, जे0एन0पी0जी0 कॉलेज, लखनऊ (उ0प्र0)

अग्निपुराण में शान्त रस को नवें इसके रूप में माना गया है। शान्त रस पर ब्रह्म परमेश्वर का सहज रूप है इसीलिए अग्निपुराणकार ने इसकी प्राग् उत्पत्ति नहीं कही है।

धनंञ्जय ने भरतमुनि के समान ही श्रृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स– ये चार मूल रस माने है। हास्य, करूण, अद्भुत एवं अभानक को क्रमशः तत्तज्जन्य माना है। धनंजय ने तज्जन्यता से उक्त मूल श्रृंगारादि तथा तन्मूलज हास्यादि रसों में कारण–कार्य सम्बन्ध न मानकर चित्तभूमि सादृश्य सम्बन्ध माना है–

भोज रस संख्या के विषय में परम्परावादी न होकर सर्वथा नवीन अवधारणा के प्रतिपादक है। अभिमान या अहंकार रूप श्रृंगार ही उनका एक रस है, जिससे अन्वित होने पर ही काव्य कमनीय बनता है।

रसोऽभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते।

योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।।

भोज रस सामान्य के अर्थ में श्रृंगार का प्रयोग करते हैं। भोज ने श्रृंगार के बारह प्रकारों का उल्लेख किया है–

श्रृंगार वीर करूणा रौद्राद्भुत भयानकाः।

वीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः।।

भोज की उक्त कारिका के अनुसार यद्यपि रस के 12 प्रकार ही उनके द्वारा मान्य प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। अपने दूसरे ग्रन्थ ''श्रृंगार प्रकाश' में उन्होने स्पष्ट रूप से इत्यादि उनचास भावों (इत्यादि आठ स्थायी भाव, स्मृति आदि तैंतीस व्यभिचारी भाव तथा स्तम्भ आदि आठ सात्विक भाव) की रसरूपता स्वीकार की है– ''रत्यादिनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्शाधिगमे रसव्यपदेशार्हता।'' काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट रस के भेदों की चर्चा करते हुए नाट्य शास्त्र की कारिका ही अविकल रूप से उद्धृत कर दी है। इस प्रकार भरतमुनि के इस संख्या विषयक मत का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने नाट्य में श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत इन आठ रसों की स्थिति स्वीकार की है किन्तु श्रृव्य या पाठ्य काव्यों में निर्वेद प्राकृतिक शान्त नामक नवम् रस की सत्ता भी स्वीकार की है– 'निर्वेदस्थायि भावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने गर्ध स्थायी भाव वाले लौल्य रस तथा आर्द्रता स्थायी भाव स्नेह रस के साथ तीन और नवीन रसों की चर्चा की है। इनके नवीन रस हैं– आसक्ति स्थायी भाव वाला व्यसन रस, दुख स्थायी भावक अरति एवं सुख रस जिसका स्थायी भाव संतोष है –

संभवन्ति त्वपरेऽपि यथा गर्धस्थायी लौल्यः

आर्द्रता स्थायी स्नेहः, आसक्तिस्थायिव्यसनम्

अरति स्थायिदुखम्, संतोशस्थायि सुखमित्यादि।

नाट्य दर्पणकार का कहना है कि यद्यपि पुरूषार्थोपयोगी एवं रञ्जनाधिक्य के कारण श्रृंगारादि नौ रस ही प्रसिद्ध है, तो भी इन नौ के अतिरिक्त और भी रस माने जा सकते हैं।

हेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य स्नेह, लौल्य आदि रसों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। उन्हें परस्पर सम्बद्ध श्रृंगारादि नौ रस ही अभीष्ट हैं – एते नवैव परस्परासङ्कीर्णा रसाः।

आचार्य विश्वनाथ में 'साहित्यदर्पण' में रस के भेद इस प्रकार बताये हैं –

श्रृंगारहास्यकरुण रौद्र वीर भयानकाः।

वीभत्सोऽद्भुत इत्यश्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः।।

इस प्रकार उपर्युक्त कारिका में श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रस का पहले निर्देश किया गया है और शान्त रस का बाद में पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। सिंहावलोकन न्याय से 'तथा' कहकर शान्त रस को स्वीकार करने से यह सूचित होता है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार शान्त नामक नवम् रस नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ ने इन नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य नामक दसवें रस की स्वीकृति यह कहते हुए दी है कि वात्सल्य रस में स्फुट चमत्कार है। अतएव यह रस वात्सल्य–श्रृंगार अभिधान से श्रृंगार रस में अन्तर्भूत न माना जाकर स्वतंत्र पद पाने का अधिकारी है।

सोलहवीं शताब्दी तक आते–आते प्रकृत श्रृंगार रस से भक्ति रस का भी जन्म हुआ। 'भक्ति रसामृत सिन्धु' तथा 'उज्जवलनीलमणि' नामक ग्रन्थों के रचयिता रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को स्वतंत्र एवं पूर्ण रस के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की। भक्ति रस के सम्बन्ध में भी आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है। अभिनव आदि भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्त रस में करते हैं इन आचार्यों का मानना है कि परम पुरुषार्थ मोक्ष का उपयोगी शान्त रस है। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं– कर्म, भक्ति और ज्ञान। अतः ज्ञान का एक अंग होकर भक्ति भी शान्त के अन्तर्गत है परन्तु भक्तिमार्गियों को न तो ज्ञानियों का मोक्ष इष्ट है और न भक्ति का अंगत्व। अतः वे भक्ति रस को स्वतंत्र, अंगी रूप में ही मानते हैं।

कवि कर्णपूर ने भी अपने ग्रन्थ 'अलंकार कौस्तुभ' में नौ प्रसिद्ध रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति और प्रेम रसों को माना है। कवि कर्णपूर ने प्रेम रस का स्थायी भाव चित्त द्रव माना है तथा इसे ही मुख्य रस माना है। उनके अनुसार महासागर में तरंग के समान इस अखण्ड प्रेम रस में सभी रस और भाव उन्मग्न और निमग्न होते रहते हैं – ''उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः सर्वे रसाश्च भावाश्च तरड्.गा रस वारिधौ।''

परम्परा से प्रचलित रस के नौ भेद पण्डितराज जगन्नाथ को भी मान्य है–

श्रृंगारः करूणः शान्तो रौद्रौ वीराऽद्भुतस्तया।

हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चेति ते नव।।

पण्डितराज जगन्नाथ शान्त रस को काव्य तथा नाट्य दोनो में उपादेय मानकर अभिनव गुप्त का ही पक्ष ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने नौ प्रसिद्ध रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, श्रद्धा, स्नेह, लौल्य, भक्ति प्रेम, व्यसन, आर्द्रता आदि अनेक रसों का उल्लेख किया है किन्तु इन रसों को सर्वमान्यता नहीं मिल सकी।

संदर्भ

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 2,7
2. नाट्य शास्त्र 6/15
3. अग्निपुराण 6/7
4. सरस्वतीकण्ठाभरण, पंचम परिच्छेद, कारिका
5. सरस्वतीकंठाभरण 5/164
6. श्रृंगार प्रकाश, एकादश प्रकाश, पृष्ठ– 444
7. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास 47वीं कारिक
8. नाट्यदर्पण, पृष्ठ– 163
9. काव्यानुशासन दि0अ0
10. साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद
11. अलंकार कौस्तुभ पृ0 148
12. रस गंगाधर, प्रभमानन

संस्कृत

नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता

–डॉ०म ुन्नीर ाय*

नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य एवं अर्वाचीन सभी चिन्तक आचार्यो ने नाट्य के उदगम तथा उसके आदि प्रणेता के विषय में विचार, विश्लेषण, एवं चिन्तन किया है। फलतः अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का प्रवर्तन हुआ।

भारतीय परम्परा में नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में ब्रह्मा और शिव का नामोल्लेख प्राप्त होता है। जहां कुछ आचार्य ब्रह्मा के नाट्य का आदि प्रणेता स्वीकार करते हैं, वहीं अन्य कुछ आचार्य शिव को नाट्य का आदि प्रणेता मानते हैं।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्यशास्त्रीय नाट्योत्पत्ति विषयक इतिहास के अनुसार वैवस्त मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं सुख दुःखादि से अभिभूत हो गये थे उस समय इन्द्र आदि देवताओं के अनुरोध पर दृश्य श्रव्यात्मक इतिहास सहित पंचम वेद स्वरुप नाट्य का प्रणयन ब्रह्मा ने किया जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय यश, उपदेश, ज्ञान तथा समस्त शास्त्रार्थों और शिल्प कलाओं से युक्त था तथा जो सभी वर्णो के लिए उपयुक्त था[1]।

नाट्यरचना के अन्नतर ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाट्य की शिक्षा दी, भरत मुनि को नाट्य शिक्षा देकर उन्हे अपनें पुत्रों के साथ नाट्य प्रयोग करने का आदेश दिया। इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय प्रतिपादन के अनुसार नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता ब्रह्मा हैं।

अभिनय दर्पणकार तथा रसार्णव–सुधाकरकार, नाटकलक्षणरत्मकोशकार, नाट्यदर्पणकार, शिंगभूगाल आदि सभी नाट्यशास्त्रीय आचार्य नाट्यशास्त्र की आदि सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को ही प्रदान करते हैं। इन सभी आचार्यों का मानना है कि ब्रह्मा जी ने ही नाट्यवेद की रचना करके उसमें नाट्य, वृत्त की योजना कर नाट्य के अंगोपांगों का भी उसमें समावेश किया[2]।

भगवान शिव से नाट्यशास्त्र का उदगम मानने वालों में आचार्य शारदातनय प्रसिद्ध हैं, उनके अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्ता भगवान शंकर हैं। समस्त चराचर जगत की सृष्टि रचना के पश्चात विश्रान्ति हेतु ब्रह्मा भगवान विष्णु के पास गये, और भगवान विष्णु ने उनहे भगवान शंकर के पास भेज दिया। ब्रह्म के अनुरोध पर भगवान शंकर ने स्वरचित नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को प्रदान कर कहा कि इस सम्पूर्ण नाट्यवेद की शिक्षा तुम ब्रह्मा को प्रदान करों उनक आदेशानुसार नन्दिकेश्वर नें उस सम्पूर्ण नाट्यवेद की साङ्गोपाङ्ग शिक्षा ब्रह्मा को प्रदान किया। ब्रह्मा ने समग्र नाट्यवेद की शिक्षा भरत को देकर मनु के साथ पृथ्वीलोक पर नाट्यवेद के प्रयोग एवं विस्तार की आज्ञा प्रदान की[3]। इस प्रकार नाट्यवेद के प्रथम प्रणेता ब्रह्मा न होकर शिव हैं, ऐसा भावप्रकाशन के विवेचन से निश्चित होता है।

*बाबू नक्की सिंह स्मारक महाविद्यालय, मोहम्मदपुर, शाहगढ़, आजमगढ़ (उ0प्र0)

वेदों में नाट्यतत्व या नाट्य निर्देश–

नाट्योत्पत्ति विषयक विवेचन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता के विषय में प्रणेता स्वीकार करते हैं, तो कुछ भोजराज जैसे विद्वान आचार्य शिव को नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता स्वीकार करते हैं। अतः नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता के विषय मे भले ही विद्वानों में भेद हो किन्तु नाट्योपयोगी प्रधान तत्व वेदों से ग्रहण किये गये, इस विषय में किसी भी विद्वान की विप्रतिपतित दृष्टिगोचर नही होती। चाहे भरत हों या शारदातनय या दशरूपककार धनन्जय या अन्य नाट्यशास्त्र के आचार्य सभी एक मत से वेदों में नाट्य तत्व की विद्यमानता स्वीकार करते है।

आचार्य भरत के अनुसार देवताओं के अनुरोध पर ब्रह्मा नें योग का आश्रय लेकर ''मैं इतिहास के साथ एक ऐसे नाट्य नामक वेद की रचना करता हूँ जो धर्म अर्थ की प्रप्ति कराने वाला हो, यश प्रदान करने वाला हो, उपदेश एवं ज्ञान समूह से युक्त हो तथा सभी शिल्प कलाओं को प्रदर्शित कराने वाला हो ''इस प्रकार के संकल्प के साथ वेदों का स्मरण किया और उनके वदों उपस्थित होने पर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके नाट्यवेद की रचना की जो सार्ववणिक था[4]।

अभिनय दर्पण के अनुसार पितामह ब्रह्मा नें ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस को ग्रीण कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाला नाट्यवेद का निर्माण कर सर्वप्रथम उसके अभिनय के लिए भरत को प्रदान किया[5]। रसार्णव सुधाकर के अनुसार इन्द्र के अनुनय पर ब्रह्मा नें वेदों का स्मरण कर उनसे नाट्यतत्वों को ग्रहण कर सार्ववर्णिक नाट्य वेद का सृजन किया[6]। दशरूपक, नाटकलक्षण रत्नकोश, नाट्यदर्पण आदि सभी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ परिवर्तन परिवर्ध्सन के साथ नाट्यशास्त्र में उल्लिखित वेदों में विद्यमान नाट्यतत्व को स्वीकार किया गया है ।

वैदिक साहित्य से नाट्य का उदगम मानने वाला विद्वानों का दो वर्ग है एक तो वे हैं जो नाट्य के उदगम का मूलस्रोत वेदों को मानते हैं, और दूसरे वे हैं जो वेदों मे केवल नाट्य तत्व को ही देखते है। नन्दिकेश्वर ने चारों संहिताओं को नाट्य का उदगम माना है। संवाद नाट्य की वह विधा है जो अभिनय की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करता है। ऋग्वेद में ही कई ऐसे प्रसंग हैं जिनके संवाद सूक्त में नाट्य शैली के संवाद (कथोपकथन) उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से पुरुरवा–उर्वशी संवाद –10 / 95 यम यमी संवाद– 10 / 10 इन्द्र इन्द्राणी संवाद, वृषाकपि संवाद–10 / 86, अगस्त्य लोपामुद्रा संवाद–10ध179, सरमापणि संवाद–10 / 108, इन्द्र मरुत संवाद प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में और भी अनेक ऐसे संवाद सूक्त हैं जिनमें नाट्योपयोगी संवादात्मक तत्व विद्यमान है।

इस प्रकार हम स्पष्ट देख सकते हैं कि वेदों में नाट्योपयोगी समस्त तत्व का सन्निवेश है, और हम यह मानने में किसी भी प्रकार की विमति नही प्रतीति होती कि वेदों में नाट्य के तत्व विद्यमान हैं।

संदर्भ

1. ना0शा0 1 / 8.20 तथा अध्याय 36
2. ना0शा0 की भूमिका (पारसनाथ द्विवेदी)
3. नाट्यशास्त्र, भूमिका, मधुसूदनी टीका, आचार्य मधूसूदन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत–साहित्यानुसंधान समिति द्वारा प्रकाशित पृ0 24.27
4. नाट्यशास्त्र–1 / 8.17 सं0सं0वि0वि0 प्रकाशन भाग 1
5. नाट्यशास्त्र की भूमिका– पारसनाथ द्विवेदी सं0सं0वि0वि0 वाराणसी प्रकाशन भाग 1
6. नाट्यशास्त्र की भूमिका– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन

संस्कृत

कविकल्पलतायाः पर्यालोचनम् : छन्दश्चर्या - छन्दोऽभ्यासः

–डॉ०प ंकजक ुमारर ाय*

संस्कृतसाहित्यं बहुतरं पद्यमयं वर्तते। न केवलं संस्कृतसाहित्यस्य अपितु विश्वसाहित्यस्य आदिग्रंथो वेदो मुलतः पद्यात्मक एव अस्ति। लौकिकेऽपि संस्कृते ''मा निशाद प्रतिशठान्त्वम्0'' इति महर्शेः वाल्मीकेः श्लोकात्मकेन वाक्येन साहित्यं प्रादुरभूदिति जनश्रुतिः। इदानीमपि साहित्यस्य विपुलांशः पद्यात्मकमेवाऽस्ति। पद्यञ्चछन्दोमयं भवति। तस्मात् काव्यरचनायाः तंत्रकौशलपरकस्य वाङ्मयस्य कविशिक्षाग्रंथस्य समारम्भः प्रायः छंदःशिक्षया भवन् दृश्यते। तेन छंदः काव्यमूलमिति महताकण्ठेन वक्तुं शक्यते[1]। छंदो न लक्षितम् न वा तस्य परिचयो दत्त आचार्यदेवेश्वरस्य कविशिक्षायाम्, यस्य हेतुः सम्भवतो वर्तते –

(1) नास्ति कविशिक्षाया उद्देश्यो लक्षणादिकरणम्, अपितु काव्यरचनाप्रशिक्षणं रचनाभ्यासाभिवृद्धये उपायाणां निर्देशश्च अस्ति अस्य प्रधानोऽद्देश्यः।

(2) लोकः छन्दोबद्धवैदिकलौकिककाव्यैस्तथा सुपरिचित आसीत यत् पुनरपि स्वातंत्र्येण तस्य स्वरूपनिर्धारणं, तस्य परिचयप्रदानम् वा न भवितुं शक्नोति ग्रंथकारस्याभिमतः। तथापि छन्दोविशेशा लक्षिताः परीक्षिताश्चापि ग्रंथकारेण। सामान्यज्ञानमूलकं भवति विशेशाानमिति छन्दसः सामान्यस्वरूपनिर्धारणम् अत्र प्राकरणिकमभिलक्ष्यते।

छन्दो हि पद्यात्मकं भवति। तस्य चत्वारः पादा भवन्ति[2]। छन्दः शब्दः चुरादिगणीयछदि– धातोः, भ्वादिगणीयचदि– धातोः[3], भ्वादिगणीयछदिर् धातोर्वा निश्पद्यते, येशामर्थः संवरणम्, आवरणं वा भवति। किंतु उपसर्गेण धात्वार्थस्य परिवर्तनात्, धातूना वा अनेकार्थत्वात् छन्दः शब्दस्य विभिन्ना अर्था दृश्यन्ते। तथा च छन्दः शब्द आच्छादनं, गोपनम्, आवरणं, रोचनम्, उल्लसनम्, एशणं, मनस्यभिप्रायस्थापनम्, आमंत्रणम्, आनन्दितकरणम्, अनुशासितीकरणम् आदीन् विभिन्नार्थान् प्रकटयति। संज्ञारूपेण यदा छन्दः शब्दः प्रयुज्यते तदा मुख्यतया त्रयोऽर्था भवन्ति– आद्यः मनोगताभिप्राय– अभिलाशा–इच्छा–रुचि प्रभृतयः। द्वितीयः प्रीत्यानन्दौ। तृतीयश्च वञ्चन–दूरीकरण–गोपनानीति। विशेशणरूपेण स्थितः छन्दः शब्दः प्रिय–स्पृहणीय–आकर्शक–रुचिकराद्यर्थान् बोधयति। अतएव वैदिकमन्त्राः परोक्षवाक्यानि सन्ति, यतस्तेशामेकोऽर्थः सामान्यतया वाच्यार्थो भवति यो न हि मुख्यार्थः, अपितु तत्प्रभावात् अन्यो गुह्यार्थः प्रतीयते। मन्त्रा हि देवान् प्रसादयन्ति। तेनापि तेशां छन्दस्त्वं सिद्धयति। किञ्च मन्त्रा इमे देवेभ्य एकमावरणं परिधानमपि वा प्रयच्छन्ति। लयस्य निर्देशार्थमपि प्राचीनकालात् छन्दांसि प्रयुज्यमानानि सन्ति[4]। एवञ्च व्युत्पत्त्या विनियोग दृश्टया च छन्दसः अर्थो भवति अभिव्यक्तेर्नियमनं, प्रस्तुतेरनुशासनं, भावस्य तथ्यस्य वा आवरणम् । अतएव वेदेशु विविधेशु स्थलेशु छन्दसां वर्णनं तथाविहितमस्ति यथा तानि दैविकभावानाम्

*प्रवक्ता, गंगा गौरी महाविद्यालय, रामनगर वैजाबारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)

आवरणानि प्रतीयन्ते। महामुनेर्भरतस्य नाट्यशास्त्रे पद्यं द्विविधं कथितमस्ति– निबद्धञ्चूर्णञ्च । यत्र पदानां वर्णानां वा निश्चिक्रमानुसारं न्यासो भवति, यद् यतिसमन्वितं भवति तथा च यत्र वर्णानां संख्या निश्चितरूपा भवति तत् निबद्धं काव्यमुच्यते[5]। एवंविधनिबद्धपद्यैः या रचना क्रियते तत्र विभिन्नाः पादा भवन्ति[6], तस्मादनेकेऽर्था अभिव्यज्यन्ते तथा लघु–गुरु–नियमानुसारं वर्णाः स्थाप्यन्ते। एतादृशी रचना एव छन्दोनाम्नी, वृत्तनाम्नी वा भवति[7]। इदं छन्दः विभिन्नवर्णैः वर्णिकछन्दसः स्वरूपं धारयति। एतद्धि शब्दानां संघटना। यतो न हि कोऽपि शब्दः छन्दोरहितो भवितुमर्हति न वा शब्दातिरिक्तेन छन्दसः स्थापना भवितुमर्हति[8]। इत्थञ्च छन्दो निश्चितवर्णयुतं शब्दस्वरूपमस्ति यद्धि विभिन्नार्थान् भावान् रसाँश्च स्वस्मिन् धारयति। वर्णानां मात्राणाञ्च विभिन्नसंख्यानुसारं छन्दसां समः, अर्द्धसमः, विशमः अथवा उक्त्था, अत्युक्था, मध्या प्रभृतयो विभिन्न भेदा भवन्ति[9]।

छन्दःस्थापनम्

सामान्तया छन्दोरचना अनुश्टुपा अर्थात अश्टाक्षरपादवतः छन्दसः अभ्यासेन क्रियते। यद्यापि एतादृशस्य श्लोकस्य स्वरूपं लक्षणं वा ग्रंथकारेण नाभिहितम् किन्तु छन्दोरचनाया अन्यस्मिन् ग्रन्थे एतद्विशये निर्दिश्टमस्ति। अनुश्टुप्छन्दसि नियमा गौणा भवन्ति तथा अश्टाक्षरवतां चतुर्णा पदां स्थापनैव मुख्या भवति, अर्थात अत्र नियमानां स्वल्पता तथा केवलं छन्दोबद्धरूपेण वर्णानां विन्यास एव मुख्योद्देश्यो भवति। अस्य सामान्यं लक्षणमस्ति–

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्वि– चतुर्थयोः।

शश्ठं गुरुः विजानीयादेतच्छ्लोकस्य लक्षणम्।।[10]

अर्थात् अनुश्टुपछन्दसः सर्वेशु पादेशु पञ्चमो वर्णो लघुर्भवति, द्वि–चतुर्थ–पादयोः सप्तमो वर्णः लघुः तथा शश्ठो वर्णो गुरुर्भवति। किन्तु अत्र नियमे व्यभिचारोऽपि दृश्यते। क्वचित् पञ्चमो वर्णोऽपि गुरुतया लक्ष्यते। यथा– एतानदुक्त्वा तनयां.......।[11] एवम् शश्ठो वर्णो गुरुर्भवतीति नियमस्यापि व्यतिक्रमो दृश्यते, यथा– ''एतस्य गुण धवलं0'' इत्यत्र।[12] अनुश्टुपः अनेके भेदा भवन्ति यानाश्रित्य श्लोकरचनायाः प्रारम्भिकोऽभ्यासः कर्तव्यः।[13] अस्य आरम्भिकाभ्यासस्य कृते अधोलिखितं तंत्रकौशलम् आश्रयितव्यम्।

अ. विशेश्यस्थापनम्

काव्यं निर्मातुं प्रथमतः किमपि साध्यम् अर्थात यदहं विवरिसामि तदनरूपविशेश्यशब्दश्चेतव्यः, यथा क्षीरपाथोधितनया। एतदश्टाक्षरात्मकं विशिश्टं पदमस्ति येन श्लोकस्यैकः पादः पूर्यते। किन्तु नायम् नियमो यत् सर्वत्र साध्यपदं संपूर्णैकपादपूरकं भवेत्, अर्थात् अश्टाक्षररत्मकं भवेत्, यतोहितदेकाक्षरादारभ्य अश्टाक्षरात्मकं ततोप्यधिकाक्षरात्मकं वा भवितुमर्हति। एतादृशानि साध्यपदानि क्रमशः इमानि भवितुर्महन्ति– श्रीः, लक्ष्मीः, कमला, पद्मालया, हरिवल्लभा, दुग्धाब्धिनन्दिनी, क्षीरसागरापत्यादीनि। इमानि क्रमश एकाक्षरात् सप्ताक्षरवतां साध्यपदानाम् उदाहरणानि तथाच पर्यायवाचीनि सन्ति। एवमेव अन्यशब्दैरपि विशेश्यवाचिनः शब्दाः स्थापनीयाः।

आ. विशेशणयोगः

साध्यपदस्य स्थापनान्तरं श्लोकपूर्तये यावतां वर्णानां आवश्यकता भवेत् तत्पूर्तिः विशेशणवाचिपदैः। एवं विशेशणविशेश्यभावगतं विशयवस्तु रचनाभ्यासस्य आरंभिके चरणे स्थापयितुं प्रयतनीयम्। कस्मिन् विशेश्ये कीदृशं विशेशणं योजनीयम् इति नास्ति कोऽपि नियमः। तथापि विशेशणं वर्ण–आकारादिकञ्च पोशयेत्। एवं विधानां विशेशणानां स्थापने सुगमता भवति। एतदुदाहरणसहितमेवं बोध्यम्–

य. वर्णः – सध्यपदस्य विशेशणं साध्यस्य वर्णबोधं भवेत्। एवंविधविशेशणेन श्लोकस्यावशिश्टभागः पादो वा पूरणीयः, यथा– धवलः सुधांशुः। अत्र सुधांशुः साध्यपदस्य विशेशणं धवलपदं सुधांशोः वर्णं प्रकटयति।

र. आकारः – विशेश्यस्याकृतिबोधकेन विशेशणेनापि श्लोकस्य रचना कर्तव्याः।

ल. आधारः – साध्यस्यधिकरणबोधकेन विशेशणेनापि श्लोकरचनाया अभ्यासो विधेयः।

व. आधेयः – साध्यस्थितं गुणतत्त्वं यस्याधारः साध्यम् अस्ति तद्वर्णनेनापि श्लोकस्य पूर्त्तिः कर्तव्या।

श. क्रिया : – साध्यस्थितानां विभिन्नक्रियाणां वर्णनेन साध्यस्य विशेशणयोजना सम्पादनीया।

श. गुणाः – साध्यस्य स्वाभाविकगुणबोधकेन विशेशणेनापि श्लोकस्य पूर्त्तिः सम्भवेत्।

स. सादृश्यं – साध्यपदस्य येन साम्यं भवितुमर्हति तत्पदं समावेशयता तथा तेन साध्यस्य समतां कुर्वता श्लोकसम्पूर्तिः करणीया।

ह. परिवारः – साध्यं यत्पदार्थसम्बद्धं यज्जातीयकं वा भवेत् तत्पदार्थस्यापि साध्यस्य विशेशणरूपेण उल्लेखः कर्तव्यः।

उपर्युक्तेशु सर्वान् अथवा कञ्चनैकं नियमाश्रित्य विशेशणानि सञ्चित्य तानि साध्यपदे योजयित्वा आरंभिकश्लोकरचनाया अभ्यासः क्रियते। सर्वानेतानाधारान् समाश्रित्य गृहीतविशेशणानां योगेन आरम्भिकश्लोकरचनाया उदाहरणम् एवं भवितुर्महति–

यथा सुधांशुर्धवलोऽतिवृत्तः, क्रान्तान्तरिक्षो हरिणं दधानः।

महत्तमोघ्नन् जनतापहारी, मृगेन्द्रवद्राजति ऋक्षमध्ये।।

अस्मिन् श्लोके 'सुधांशु'रिति विशेश्यांशः, धवल इति विशेशणं तदीयवर्णम्, अतिवृत्त इति विशेशणं तस्याकारं, क्रान्तान्तरिक्षपदं तस्याधारं, हरिणं दधान इति विशेशणं तस्याधेयभूतं हरिणं, महत्तमोघ्नन्निति विशेशणपदं साध्यस्थितां क्रियां, जनतापहारीति विशेशणं साध्यस्य गुणं, मृगेन्द्रवदितिपदं तत्सदृशपदार्थं तथा ऋक्षमध्य इति पदं मृगेन्द्रस्य परिवारं व्यनक्ति। इमानि सर्वाणि विशेशणानि सुधाशौ साध्यपदे मृगेन्द्रे सादृश्यमूलकपदे च व्याप्तानि सन्ति।

इ. सादृश्याधारः

यत्सादृश्यमाश्रित्य विशेश्ये विशेशणानि संयोज्य श्लोकस्य पूर्तिः क्रियते तस्य सादृश्यस्य मूले विभिन्नानि तत्त्वानि भवितुमर्हन्ति। मित्र–चौर–सृहृद्–वादीप्रभृतिशब्दैर्वाच्यः संबंधः सादृश्यस्य बोधको भवति। एभिः शब्दैर्वाच्यसंबंधः तत्पर्यायवचिशब्दैरपि व्यञ्जितुं शक्यते, अर्थात् बन्धुस्थाने बान्धव–दायादशब्दाः, चौरस्थाने तस्कर– मोशकार– अपहारकादिशब्दाः, सृहृद्स्थाने मित्र–सखिप्रभृतयः शब्दाः तथा च वादिनः स्थाने वावदूक–वदावा–वाचाट–वक्तृ– प्रतिवक्तृप्रभृतयः शब्दाः स्थापयितुं शक्यन्ते। इमें शब्दा विशेश्यानुकुलानि विशेशणानि सूचयन्ति। एवमेव केचन शब्दविशेशाः तथा च प्रत्ययविशेशाः सादृश्यार्थं सूचयन्ति, यथा– कल्प्प्रत्ययः स्वरूपबोधकः, प्रभः साम्यबोधकः समः समताबोधकः, समान–सदृश–सदृक्ष–सदृक्–तुल्य–प्रतिम–उपमादिशब्दाः सादृश्यमेव बोधयन्ति। तथैव देश्यदेशीयप्रत्ययौ समतावाचकावेव भवतः।

कदाचित् विरोधिपदार्थोऽपि सादृश्यं बोधयति। तथाहि– विशेश्ये ये गुणाः सन्ति तेशां स्थापनेन यः तुल्यविरोधी सञ्जायते तदपि सादृश्यमेव पुश्णाति। एतादृशः सादृश्यस्य बोधकाः शब्दा वैरि–सपत्न–अरि–विद्वेशि–प्रतिमल्ल–प्रत्यनीक–प्रतिभठ–प्रभृतयो भवितुमर्हन्ति।

समानोत्पत्तिस्थानेशु पदार्थेशु परस्परं साम्यं भवितुं शक्नोति। एतादृशः साम्यस्य बोधकाः सोदर–सहोदर–सगर्भ–सहज–सोदर्य्य–सनाभि–सपिण्ड–प्रभृतयो भवितुमर्हन्ति ।

जेत्रि–निन्दक–उपहासक–अनुकारक–विडम्बकाद योऽपि एनमेव उद्देश्यं पूरयन्ति। एशु केचन शब्दा अभिधया साक्षात् सादृश्यं तथा च अपरे बन्धु–चौर–सृहृच्छब्दा लक्षणया सादृश्यमर्थमुपस्थाप्यन्ति। हि यदा मुख्यार्थो बाधितो भवति तदा रूढ़ेः प्रयोजनाद्वा मुख्यार्थेन सम्बद्धस्य यस्यार्थस्य प्रतीतिर्भवति स च सादृश्यस्यैव बोधको भवति। तस्मात् इन्दुबन्धुः, मुक्ताश्रीचौरः, हारश्रियः

सुहृत्, कुन्दवादी, हंसकल्पः, क्षीरप्रख्यः, हिमप्रभः, गड़्गासमः, अब्जदेशीयः, शेशदेश्यः, सुधारिपुः, विसाभः, तेजसो राशिः, कैलासोदरसोदरः प्रभृतिशब्दा विशेशेणरूपेण प्रयोक्तुमर्हन्ति। एभिः शब्दैः विशेश्यगतगुणानां सादृश्यो बोध्यते।[14]

सन्दर्भ

शोध प्रबन्ध– देवेश्वरकृत कविकल्पलतायाः पर्यालोचनम् – पृश्ठ 15 –20 ।

1. काव्यस्य छंदोमूलत्वात्0। का0क0ल0वृ0 1/1/7 उपरि वृत्तिः ।
2. छन्दः पद्यं चतुश्पदी ।तदेव 1/1/11
3. द्र0श0द्रु0 काण्डः 2 पृ0 466
4. 'नैरन्तर्य और चुनौती' इति ग्रन्थस्य 23 पृश्ठे विद्यानिवासमिश्रस्य लेखः ' छन्द और कविता' (प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली–6)
5. ना0शा0 15/38
6. ना0शा0 15/91
7. ना0शा0 15/39
8. ना0शा0 15/41–42
9. द्र0, पृ0 21–22
10. द्र0, श्रुत0
11. कु0सं0 6/89
12. विनयचन्द्रसूरिः, काव्यशिक्षायां 1/31 कारिकायां वृत्तौ, पृ0 5, पं0 16 ।
13. द्र0का0क0ल0वृ0 1/1/8 ।
14. कवि0क0ल0 1/1/14–16 तदोपरि स्वोज्ञ वृत्तिश्च

अंग्रेजी

Khuswant Singh : A Superhero – Novelist

-Dr Ratnesh Baranwal*

Khuswant Singh stands as one of the best-known Indian writers of all times. He received his early education from the Government College Lahore and then at King's College, Cambridge University and the Inner Temple in London. He started a glorious career as a journalist with the All India Radio in 1951. Since then, he happened to be the founder–editor of Yojana (1951–1953), editor of the Illustrated Weekly of India (1979–80), chief editor of New Delhi (1979–80), and editor of the Hindustan Times (1980–1983) He holds a dominating place in Indian Literary history as one of the finest historians and novelists, a forthright political commentator, and an outstanding observer and social critic. In July 2000, he was awarded the ___ "Honest Man of the year Award" by the Sulabh International Social Service Organization for his great courage and dead honesty in his "brilliant incisive writing". At the award ceremony, the Hon'rable C.M. of Andhra Pradesh commented him as a "humorous writer and incorrigible believer in human goodness with a devil–may–care attitude and a courageous mind". The Indian external affairs minister brilliantly commented the secret of his success was deeply rooted in his learning and discipline behind the "veneer of superficiality". These are some fine characteristics of his literary career that make him a superhero–novelist.

His outstanding publications are listed as a classic two–volume history of the Sikhs, his best–known novels are Delhi, Train to Pakistan, and The Company of Women, and a number of translations and non-fiction books on Delhi, nature and current affairs. He served as an M.P. of the Rajya Sabha from 1980 to 1986. Among other prestigious awards, he received the Padma Bhushan in 1974 by the President of India, but he returned it very boldly in 1984 in a sharp protest against the Union Government's siege of the Golden Temple in Amritsar. Thus he was a multi–talented novelist, journalist, critic, a great political commentator and a very keen observer of the contemporary society. His world-known novel–Train to Pakistan reminds us the tragic picture of India–Pakistan partition. He started his professional career as a competent lawyer, but later on he joined the Indian Foreign Services. He happened to be the famous editor of many reputed newspapers and magazines like the National Herald. His fame shot up as a superhero novelist because of his famous novels like 'Train to Pakistan' (1956), Delhi : A Novel (1990), 'The Company of Women' (1999), 'Truth, Love and a Little Malice' (2002), 'The Good, the Bad and the Ridiculous' (2013) etc.

During the period 1954–1956, he worked in the

*Assist. Professor in English, K.N.I.P.S.S., Sultanpur (U.P.)

Department of Mass Communications of UNESCO in Paris. He received many awards and prizes such as Padma Bhushan in 1974 (it was returned in 1984 in protest against the Operation Blue Star), Punjab Rattan Award (2006), Padma Vibhushan (2007), Sahitya Academy fellowship Award (2010), Tata Literature Live Award (2013), Fellowship of King's College, London (2014). His world–famous comments are mentioned below__

"When the world is itself draped in the mantle of night, the mirror of the mind is like the sky in which thoughts twinkle like stars".

"Freedom is for the educated people who fought for it. We were slaves of the English, now we will be slaves of the educated Indians–or the Pakistanis".

These comments prove his super brilliance not only as a great commentator but also as a sharp critic of the society.

Thus he occupies a great place in the realm of Indo–English fiction as a great fiction–writer, columnist and a Sikh historian. As a superhero–novelist, he makes a deliberate attempt to present the situations obliquely in fictional configuration and delineates the elemental human passion in an uninhibited fashion in the novel– The Company of Women, he seems to say very boldly that it is only sex that explains man-woman relationship and has clearly ignored love that sublimates this relationship. The plot of the novel deals with Mohan Kumar's companionship with women. Mohan Kumar, the protagonist, is neither inhibited in regard to sex nor fastidious in choice of a woman. He has physical attachment with women of different ages, physical features, temperaments, professions, races, nationalities and religious beliefs. All his women companions understand the power and glory of human body and willingly share his bed. His sex-life includes his premarital, marital and extra-marital relationship. He is initiated into sex by a Black American student Jessica Browne who is sophomore at the Princeton University. Finally he is gripped into AIDS and meets his tragic end. It is his great courage to deal with expressions of sexual passion and love-making gives rise to eroticism. As a superhero-novelist, he portrays his female characters with their characteristic dignity. But his preoccupation with sex is a mask to cover his objective analysis of the discrepancies between the theory and practice of the major religions of the world so as to dodge the ire of the religious fundamentalists. Thus The Company of Women is a typical novel that depicts contemporary reality and transforms eroticism into a work of fiction.

As a superhero–novelist, he brilliantly fused wit and humour in his novels, short stories and his journals. Humour is a Divinely–bestowed quality which comes to those who have simplicity and generosity of heart. Apart from being temperamental jovial, which makes him provoke, create and enjoy humour, he is aware of the human weakness for humour, for his desire to laugh and to get rid of tension. In one of his Joke Books, he writes ____ "There is a fund of humour in all of us. The more it is sought to be suppressed, the more it manifests itself. You forbid a person to laugh and he will laugh all the louder".

His sense of humour is deeply rooted in the Punjabi soil, is of homegrown variety, and as such is full blooded, vigorous, masculine and suited to the people of all ages. It is not bookish, laboured and sophisticated, but spontaneous and natural which irrepressibly forces an instant expression. Once a comic writer Danny Kaye interviewed him and humorously questioned about his sense of humour __ "Mr. Khuswant Singh, my dear, you are so sweet…. What should I call you?" Anyway you like, "smiled

Khuswant Singh," I will call you Khusy! Oh, no! no! I will call you Bushy. How are you?. 1 (Quoted, Sahane, 31)

As a superhero–novelist, a columnist, he happened to be a critical observer of the contemporary life and was well aware of tensions and ailments. For the removal of existing darkness, he happens to scatter the bright sunshine, while tactfully using, irony, humour and satire to expose vices and follies in order to make the world a much better place. The fundamental trait of Singh's art is comic, but very closely allied with social, psychological and moral aspects of life. In some respects, he does occupy the traits of Joseph Addison, Jonathan Swift, Mark Twain and R.K. Narayan.

His novel Train to Pakistan (1956) remains the best-known out of his best-written novels and short stories. It reminds us a story of political disgust and violence which had spread to both India and Pakistan. During the summer of 1947, when the partition of India was already declared, even the peaceful village Mano Majra also is gripped into communal violence after a local moneylender's murder. Juggut Singh, a Sikh law-breaker, loves a Muslim girl Nooran. Thus love, sex and violence remain fused with Khuswant Singh's irony, wit and humour making him a superhero of Indo-English fiction.

In Train to Pakistan, he wishes to portray the psyche of the Punjabi– speaking middle people, largely illiterate, whose sense of humour naturally remains raw, earthy and soaked in simplicity of heart. Singh points out their ignorance of men and manners which make them trip, fumble, stumble and fall down. Juggut Singh, a law–breaker, terms English as "git–mit" and narrates what his uncle's son had taught him-half English, half Hindustani.2 (96)

In the novel–Train to Pakistan, literal translations of Hindi or Punjabi dialogues into English have been beautifully employed to lend the flavour of the native language to the readers of English–novels. In Train to Pakistan, Singh literally translates __ "Apka shubh naam kya hai" as what honorable noun does honour bear? and "Apka daulatkhana Kidhar hai", as "Where does your wealth reside? An old woman who had brought Haseena Begum, the dancing girl_ to Magistrate Hukum Chand, blesses him in words which appear somewhat odd and funny in English: "May your government go on forever. May your pen inscribe figures of thousands--- nay, hundreds of thousands," (78) even though they are literal translation of two typical Hindi experessions:"

"Tumhari hukumat barson Kayam rahe. Tum Hazaron our Lakhon main Khelo," which are commonly used in daily life.

In Khuswant Singh's I Shall Not Hear the Nightingale (1959), Magistrate Wazir Chand tells Buta Singh, "Sardar Sahib, you are a big man and we are but small radishes from an unknown garden"3 (27) which is literal translation of 'Kis Khet ki Mooli' denoting his utter insignificance.

Thus it is the fragrance of wittiness, fearlessness and candidness which makes him a superhero-novelist of Indo-English fiction. His novel Delhi (1990) presents a historical survey from the ancient to the medieval and then to the modern era by showing how through the different ages, it has been exploited, looted, built, destroyed and rebuilt to reach its present estate. With his unique style, he unravels the story of the rulers of Delhi Sultanat who have made up the story of Delhi. He sheds down all his inhibitions while talking about the reality of the city, which has witnessed myriad shades of like, ranging from the rise and fall of emperors to the assassination of India Gandhi to 1984 Sikh riots. William Dalrymple in his

Prologue to City of Djinns (1994), a travelogue and historical account on Indian capital Delhi, writes about saying that ____

"…. it had been burned by invaders time and time again, millennium after millennium, still the city was rebuilt, each time it rose like a phoenix from the fire"4

Such attacks spoiled the purity of Delhi and damaged the innocent appearance of the city. It has lost its virginity at their hands. The place has lost its sanctity, shifting of power in the capital with the change of kings and emperors is not something new, it is rather an old practice. Having been destroyed, dismantled and robbed off her possessions by various invaders, Delhi is being equated with Bhagmati, a eunuch who has witnessed the same fate: "long been misused by rough people they have learnt to conceal their seductive charms under a mask of repulsive ugliness".5

(Singh, Delhi : A Novel)

As a superhero–novelist, Singh presents the outlook of Delhi being much in common with that of Bhagmati. In the opening part of this novel, Singh says that to a stranger, the place is full of hustle and bustle-markets, mean–looking hovels, few tumble–down forts, dead river, full of narrow and winding lanes, ill–maintained drainage, spitting phlegm and bloody betel–juice, people urinating at the public places. Like Delhi, Bhagmati seems to be full of negative images as unattractive to those who do not know her. "She is dark and has pock-marks on her face. She is short and squat, her teeth are uneven and yellowed as a result of chewing tobacco and smoking beedis. Her clothes are loud, her voice louder, her speech bawdy and her manners worse"

He acknowledges both Delhi and Bhagmati on the height of commonality. Both got vandalised at the hands of human-beings as Delhi was invaded by different foreign rulers, Bhagmati's body is invaded by the different customers. Both are capable of capturing people, yet can maintain their original being undefiled. Like Delhi, Bhagmati has the privilege to serve many foreign clients. Delhi too has not been ruled by any single ruler and has exchanged hands. Bhagmati, a eunuch is an interesting character whose role has been meticulously developed by Singh to draw the attention of the larger audience for displaying the hollowness of the higher section of the society. The story of the novel revolves around the character of Bhagmati who is incapable of producing any issue. Delhi also remains as the wasteland of T.S. Eliot, a heap of broken images revealing story of destruction and reconstruction of it by the foreign invaders and rulers over centuries. Ahmed Ali, in the title page of the novel Twilight in Delhi (1940), quotes Bahadur Shah Zafar's verse, the last representative of the Mughal empire, to unravel the past and the present of the beautiful city.

Delhi was once a paradise,
Such peace had abided here,
But they have ravished its name and pride,
Remain now only ruins and care.6

Ahmed Ali gives us a beautiful glimpse of pre-independent India. He vehemently talks of Delhi ____

"……. built hundreds of years ago, fought for, died for, coveted and desired, built, destroyed and rebuilt, for five and six and seven times, mourned and sung, raped and conquered, yet whole alive, lies indifferent in the arms of sleep. It was the city of kings and monarchs, of poets and story-tellers, countries and nobles."7 (Twilight in Delhi 4)

And then continues to connect the Emperor's to the present day's sorry status of the city:

"And, as if to echo the poet King's thoughts, a silence and apathy of death descended upon the city, and dust began to blow in its streets, and ruin came

upon its culture and its purity. Until the last century, it had held its head high, and tried to preserve its chastity and form". 8 (Twilight in Delhi, 5)

Ali uses powerful images to portray the real picture of Delhi which happens to be a disastrous one. Then he continues to unravel the faded glory of the ancient culture and ideology of the historical city. The same is done by Singh in his novel Delhi which witnessed the rise and fall of monarchs, emperors and princesses.

"But gone are the poets too, and gone is its culture. Only the coils of the rope, when the rope itself has been burnt, remain, to remind us of post splendor. Yet ruin has descended upon its monuments and buildings, upon its boulevards and by-longs. Under the tired and dim stars, the city looks deathly and dark".9

Thus as a superhero–novelist, he does maintain the personality of a detached observer while unveiling the history and mystery of Delhi and its people. In an interview with Atma Ram, Singh claims---

"Being an agnostic without any prejudices, I may have become the loudest voice against religious fundamentalism and stupid beliefs in miracles, astrology, and that of hocus–focus".10

But now the scenario has completely changed. People who happened to be rulers, now they are under the force of colonial rules. Consciously or unconsciously, we are still being ruled by them. It is the city which suffers the trauma of independence and partition. This is not the true picture of the city that we see today, rather what we see in the "bloody layer of the last century" 11 (Malvika)

Time does create a big change. Change is inevitable. As a superhero- novelist, he hints at the society of Delhi, for that matter of any city or place, is never static and hence constantly evolving. He presents the making of Delhi with its history imbedded in it. So Delhi as a place is a palimpsest, a kind of parchment on which successive generations have written and rewritten the process of history. In the similar fashion, V.S. Naipaul, in his The Middle Passage (1962), talks about the conflict of the colonizers and the colonized to show how the colonial history is embedded in place. Perhaps the most important text in this direction could be Paul Carter's The Road to Botany Bay (1987) which thoroughly examines at length how empty space turned into place, continued to rewrite the history of the place. "This was not a place which was simply there but a place which is in a continual process of being rewritten".12 (The Post-Colonial Studies Reader 392)

Delhi remains as a place where Mughals ruled with grandeur for two centuries. Delhi becomes the eye-witness of magnificent Mughal rule. Singh has, consciously or unconsciously created a world that seems to be real, vivid and class to the imagination of common man. The beauty of the text lies in the fact that the narrator makes us realize a quake era. It is not revealing just the history of kings.

Common people also have a presence. Delhi is also the tale of a suffering bride at the altar of sacrifice for her wealth and beauty. The most disastrous incident occurred in the independent Delhi after the assassination of Indira Gandhi on 31 Oct, 1984 by two of her Sikh bodyguards in reaction to her the military operation.

Thus as a superhero-novelist, he takes an adventurous journey to have an access to the profundity of knowledge having faced challenges of the existing society and then coming back with some messages in his novels, through a cyclical process of coming and going. As a brilliant humorist, he presents in his novels and short-stories a beautiful mixture of laughing material having buffoonery, political jibes,

communication gaffes, and social blunders among others. Some of his jokes may be naughty, outrageous and even absurd, but they provoke laughter and lighten our tense moments. He writes---"I may be the one for the present generation: To be named as a reincarnation of Birbal, Tenali Ram and Gopal Bhor is indeed a great honour, though an undesired one."13

In The Modern Indian English Fiction, Dr. O.P. Mathur reveals Singh's deep emotional attachment to Delhi. According to him, _____

"Singh's deep love for Delhi makes him work for twenty years, as he says, to write a novel on its past, a novel presents a portrayal of historical times, some of the important rules, and some unknown commoners through their own words and whole suffused with author's personality and views".14

Reference

1. Shahane, Vasant, Khuswant Singh, New York : Twayne, 1972
2. Khuswant Singh, Train to Pakistan (1956), Bombay : India Book House, 1967
3. I Shall Not Hear the Nightingale (1959), Bombay, I.B.H., 1970
4. Khuswant Singh, Delhi : A Novel, New Delhi, Penguin, 1990
5. Ibid
6. Ali, Ahmed, Twilight in Delhi, New Delhi, Rupa Publications Pvt. Ltd.
7. Ibid
8. Ibid
9. Ibid
10. Atma Ram, Interview with Khuswant Singh, The Quest, 7.1 & 2 (1993) : 02
11. Malvika Singh, Perpetual City : A Short Biography of New Delhi, Aleph, 2013
12. Ashcroft, Bill, Gareth Griffiths, and Helen Tiffin, The Post-Colonial Studies Reader, London: Routledgi, 2006
13. Khuswant Singh's Joke Book IV., Delhi : Orient Paperbacks, 1996
14. Dr. O.P. Mathur, The Modern Indian English Fiction, New Delhi : Abhinav Publication, 1993

अंग्रेजी

B.R. AMBEDKAR : Author as a Hero within the Genre And Beyond

-Dr. Dharmendra Kumar Ray*

Bhimrao Ramji Ambedkar (14 April 1891 – 6 December 1956), popularly known as Baba Saheb, was an Indian jurist, economist, politician and social reformer who inspired the Dalit Buddhist Movement and campaigned against social discrimination against Untouchables (Dalits), while also supporting the rights of women and labour. He was Independent India's first law minister, the principal architect of the Constitution of India and a founding father of the Republic of India.

Ambedkar viewed the Shudras as Aryan and adamantly rejected the Aryan invasion theory, describing it as "so absurd that it ought to have been dead long ago" in his 1946 book Who Were the Shudras?

Ambedkar viewed Shudras as originally being "part of the Kshatriya Varna in the Indo-Aryan society", but became socially degraded after they inflicted many tyrannies on Brahmins.

Ambedkar tried to find ways to make a living for his growing family. He worked as a private tutor, as an accountant, and established an investment consulting business, but it failed when his clients learned that he was an untouchable. In 1918, he became Professor of Political Economy in the Sydenham College of Commerce and Economicsin Mumbai. Although he was successful with the students, other professors objected to his sharing a drinking-water jug with them.

Ambedkar went on to work as a legal professional. In 1926, he successfully defended three non-Brahmin leaders who had accused the Brahmin community of ruining India and were then subsequently sued for libel. While practising law in the Bombay High Court, he tried to promote education to untouchables and uplift them. His first organised attempt was his establishment of the central institution Bahishkrit Hitakarini Sabha, intended to promote education and socio-economic improvement, as well as the welfare of "outcastes", at the time referred to as depressed classes. For the defence of Dalit rights, he started many periodicals like Mook Nayak, Bahishkrit Bharat, and Equality Janta.

By 1927, Ambedkar had decided to launch active movements against untouchability. He began with public movements and marches to open up public drinking water resources. He also began a struggle for the right to enter Hindu temples. He led a satyagraha in Mahad to fight for the right of the untouchable community to draw water from the main water tank of the town. In a conference in late 1927, Ambedkar publicly condemned the classic Hindu text, the Manusmriti (Laws of Manu), for

*Village : Kahra, Post : Dwariganj, Dist. : Sultanpur (U.P.)

ideologically justifying caste discrimination and "untouchability", and he ceremonially burned copies of the ancient text. On 25 December 1927, he led thousands of followers to burn copies of Manusmrti. Thus annually 25 December is celebrated as Manusmriti Dahan Din (Manusmriti Burning Day) by Ambedkarites and Dalits.

In 1932, British announced the formation of a separate electorate for "Depressed Classes" in the Communal Award. Gandhi fiercely opposed a separate electorate for untouchables, saying he feared that such an arrangement would divide the Hindu community. Gandhi protested by fasting while imprisoned in the Yerwada Central Jail of Poona. Following the fast, Congress politicians and activists such as Madan Mohan Malaviya and Palwankar Baloo organised joint meetings with Ambedkar and his supporters at Yerwada.

Due to the pact, the depressed class received 148 seats in the legislature, instead of the 71 as allocated in the Communal Award earlier proposed by British Prime Minister Ramsay MacDonald. The text uses the term "Depressed Classes" to denote Untouchables among Hindus who were later called Scheduled Castes and Scheduled Tribes under India Act 1935, and the later Indian Constitution of 1950. In the Poona Pact, a unified electorate was in principle formed, but primary and secondary elections allowed Untouchables in practice to choose their own candidates.

Upon India's independence on 15 August 1947, the new Congress-led government invited Ambedkar to serve as the nation's first Law Minister, which he accepted. On 29 August, he was appointed Chairman of the Constitution Drafting Committee, and was appointed by the Assembly to write India's new Constitution.

Granville Austin described the Indian Constitution drafted by Ambedkar as 'first and foremost a social document'. 'The majority of India's constitutional provisions are either directly arrived at furthering the aim of social revolution or attempt to foster this revolution by establishing conditions necessary for its achievement.

The text prepared by Ambedkar provided constitutional guarantees and protections for a wide range of civil liberties for individual citizens, including freedom of religion, the abolition of untouchability, and the outlawing of all forms of discrimination. Ambedkar argued for extensive economic and social rights for women, and won the Assembly's support for introducing a system of reservations of jobs in the civil services, schools and colleges for members of scheduled castes and scheduled tribes and Other Backward Classes, a system akin to affirmative action. India's lawmakers hoped to eradicate the socio-economic inequalities and lack of opportunities for India's depressed classes through these measures. The Constitution was adopted on 26 November 1949 by the Constituent Assembly.

The Dalit Buddhist movement (also known as Neo-Buddhist movement) is a socio-political movement by Dalits in India started by B. R. Ambedkar. It radically re-interpreted Buddhism and created a new sect of Buddhism called Navayana. The movement has sought to be a socially and politically engaged form of Buddhism.

The movement was launched in 1956 by Ambedkar when nearly half a million Dalits – formerly untouchables – joined him and converted to his Navayana Buddhism. It rejected Hinduism, challenged caste system and promoted the rights of the Dalit community.The movement also rejected the teachings of traditional Theravada, Mahayana and Vajrayana sects of Buddhism, and took an oath to pursue a new form of engaged Buddhism as taught by Ambedkar.

Ambedkar was a Dalit leader, influential during the colonial era and post-independence period of India. He was the fourteenth child in an impoverished Maharashtra Dalit family, who studied abroad,

returned to India in the 1920s and joined the political movement. His focus was social and political rights of the Dalits.

During 1931-32, Mahatma Gandhi led Indian independence movement held discussions with the British government over the Round Table Conferences. They sought constitutional reforms as a preparation to the end of colonial British rule, and begin the self-rule by Indians. The British side sought reforms that would keep Indian subcontinent as a colony. The British negotiators proposed constitutional reforms on a British Dominion model that established separate electorates based on religious and social divisions. They invited Indian religious leaders, such as Muslims and Sikhs, to press their demands along religious lines, as well as B. R. Ambedkar as the representative leader of the untouchables. Gandhi vehemently opposed a constitution that enshrined rights or representations based on communal divisions, because he feared that it would not bring people together but divide them, perpetuate their status and divert the attention from India's struggle to end the colonial rule.

According to Gail Omvedt, an America-born and naturalised Indian sociologist and human rights activist :

“Ambedkar's Buddhism seemingly differs from that of those who accepted by faith, who 'go for refuge' and accept the canon. This much is clear from its basis: it does not accept in totality the scriptures of the Theravada, the Mahayana, or the Vajrayana. The question that is then clearly put forth: is a fourth yana, a Navayana, a kind of modernistic Enlightenment version of the Dhamma really possible within the framework of Buddhism.”

Ambedkar considered converting to Sikhism, which encouraged opposition to oppression and so appealed to leaders of scheduled castes. But after meeting with Sikh leaders, he concluded that he might get "second-rate" Sikh status, as described by scholar Stephen P. Cohen. Instead, he studied Buddhism all his life. Around 1950, he devoted his attention to Buddhism and travelled to Ceylon (now Sri Lanka) to attend a meeting of the World Fellowship of Buddhists. While dedicating a new Buddhist vihara near Pune, Ambedkar announced he was writing a book on Buddhism, and that when it was finished, he would formally convert to Buddhism. He twice visited Burma in 1954; the second time to attend the third conference of the World Fellowship of Buddhists in Rangoon. In 1955, he founded the Bharatiya Bauddha Mahasabha, or the Buddhist Society of India. He completed his final work, The Buddha and His Dhamma, in 1956 which was published posthumously.

After meetings with the Sri Lankan Buddhist monk Hammalawa Saddhatissa, Ambedkar organised a formal public ceremony for himself and his supporters in Nagpur on 14 October 1956. Accepting the Three Refuges and Five Precepts from a Buddhist monk in the traditional manner, Ambedkar completed his own conversion, along with his wife. He then proceeded to convert some 500,000 of his supporters who were gathered around him. He prescribed the 22 Vows for these converts, after the Three Jewels and Five Precepts. He then travelled to Kathmandu, Nepal to attend the Fourth World Buddhist Conference. His work on The Buddha or Karl Marx and "Revolution and counter-revolution in ancient India" remained incomplete.

Since 1948, Ambedkar suffered from diabetes. He was bed-ridden from June to October in 1954 due to medication side-effects and poor eyesight. He had been increasingly embittered by political issues, which took a toll on his health. His health worsened during 1955. Three days after completing his final manuscript The Buddha and His Dhamma, Ambedkar died in his sleep on 6 December 1956 at his home in Delhi.

A Buddhist cremation was organised at Dadar Chowpatty beach on 7 December, attended by half a million grieving people. A conversion program was

organised on 16 December 1956, so that cremation attendees were also converted to Buddhism at the same place.

Ambedkar's legacy as a socio-political reformer, had a deep effect on modern India. In post-Independence India, his socio-political thought is respected across the political spectrum. His initiatives have influenced various spheres of life and transformed the way India today looks at socio-economic policies, education and affirmative action through socio-economic and legal incentives. His reputation as a scholar led to his appointment as free India's first law minister, and chairman of the committee for drafting the constitution. He passionately believed in individual freedom and criticized caste society. His accusations of Hinduism as being the foundation of the caste system made him controversial and unpopular among Hindus. His conversion to Buddhism sparked a revival in interest in Buddhist philosophy in India and abroad.

Ambedkar was voted "the Greatest Indian" in 2012 by a poll organised by History TV18 and CNN IBN. Nearly 20 million votes were cast, making him the most popular Indian figure since the launch of the initiative. Due to his role in economics, Narendra Jadhav, a notable Indian economist, has said that Ambedkar was "the highest educated Indian economist of all times." Amartya Sen, said that Ambedkar is "father of my economics", and "he was highly controversial figure in his home country, though it was not the reality. His contribution in the field of economics is marvelous and will be remembered forever." Osho, a spiritual teacher, remarked "I have seen people who are born in the lowest category of Hindu law, the sudras, the untouchables, so intelligent: when India became independent, the man who made the constitution of India, Dr. Babasaheb Ambedkar, was a sudra. There was no equal to his intelligence as far as law is concerned – he was a world-famous authority." President Obama addressed the Indian parliament in 2010, and referred to Dalit leader Dr. B.R. Ambedkar as the great and revered Human Rights champion and main author of India's constitution.

References

1. Austin, Granville (1999), The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation, Oxford University Press
2. Bryant, Edwin. The Quest for the Origins of Vedic Culture, Oxford: Oxford University Press, 2001. pp. 50-51
3. "Constitution of India". Ministry of Law and Justice of India. Archived from the original on 22 October 2014. Retrieved 10 October 2013.
4. Harris, Ian (ed.). Buddhism and politics in twentieth-century Asia. Continuum International Group.
5. Ibid pp.-50 (Bryant, Edwin. The Quest for the Origins of Vedic Culture, Oxford: Oxford University Press, 2001)
6. Omvedt, Gail. Buddhism in India : Challenging Brahmanism and Caste, 3rd ed. London/New Delhi/Thousand Oaks: Sage, 2003. pages: 8
7. Omvedt, Gail (2012). "A Part That Parted". Outlook India. The Outlook Group. Archived from the original on 12 August 2012. Retrieved 12 August 2012.
8. Rajmohan Gandhi (2006). Gandhi: The Man, His People, and the Empire. University of California Press. pp. 332–333. ISBN 978-0-520-25570-8
9. Naik, C.D (2003). "Buddhist Developments in East and West Since 1950: An Outline of World Buddhism and Ambedkarism Today in Nutshell". Thoughts and philosophy of Doctor B.R. Ambedkar (First ed.). New Delhi: Sarup & Sons. p. 12. ISBN 81-7625-418-5.
10. "U.S. President Barack Obama on Dr. B.R. Ambedkar". Declaration of Empathy. Archived from the original on 5 October 2014.

Realism and Social Values in Mc Cullers The Heart Is a Lonely Hunter

-Dr. Sunita Rai*

The most impressive aspect of The Heart Is a Lonely Hunter is the astonishing humanity that enables a white writer, for the first time in Southern fiction, to handle Negro characters with as much ease and justice as those of her own race. This cannot be accounted for stylistically or politically; it seems to stem from an attitude toward life which enables McCullers to rise above the pressures of her environment and embrace white and black humanity in one sweep of apprehension and tenderness.

In the conventional sense, this is not so much a novel as a projected mood, a state of mind poetically objectified in words, an attitude externalized in naturalistic detail. Whether you will want to read the book depends upon the extent to which you value the experience of discovering the stale and familiar terms of everyday life bathed in a rich and strange meaning, devoid of pettiness and sentimentality.

The characters, Negro and white, are" naturals," and are seen from a point of view that endows them with a myth like quality. The core of the book is the varied relationships of these characters to Singer, a lonely deaf mute. There are Mick Kelly, a sensitive, adolescent white girl; aged Dr. Copeland, the hurt and frustrated Negro; Jake Blount, a nervous and unbalanced whiskey-head; and Biff Brannon, whose consciousness is one mass of timid bewilderment. All these characters and many more feel that the deaf mute alone understands them; they assail his deaf ears with their troubles and hopes, thereby revealing their intense loneliness and denied capacity for living.

When the deaf mute's friend dies in an insane asylum, he commits suicide, an act which deprives the confessional of its priest. The lives of Miss McCullers' characters are resolved thus: Mick Kelly is doomed to a life of wage slavery in a five-and-ten-cent store; Dr. Copeland is beaten by a mob of whites when he protests against the injustices meted out to his race; Jake Blount stumbles off alone, wistfully, to seek a place in the South where he can take hold of realty through Marxism; and Biff Brannon steels himself to live a life of emptiness.

The author analyses the problem of women's and men's isolation, seclusion, alienation and mental imprisonment in the context of social separation, sexual and racial prejudice in the Southern American states after World War II. Behind the grotesque and freakish countenances in McCullers' works, it endeavours to stress the writer's obsessive, desperate longing for human harmony, love, compassion and existential search for identity.

However, the novel deals with other social and political themes as well, and those should not be referred to as subordinate, as Champion does, but as central and important themes that intertwine. The novel has one central, "universal" theme completely separated from politics and society, and other

*Assistant Professor, K.N.I.P.S.S. Sultanpur (U.P.)

subordinated, peripheral themes dealing with social and political issues. McCullers only portrays the society without including any personal values, because that would suggest that the novel is apolitical and that it is only concerned with universal themes such as love, loneliness and human isolation. On the contrary, McCullers manages to illustrate race, gender, and class oppression through her social and political themes, and thus puts forward a strong critique towards certain power structures in the society of her time.

Indeed, there are critics who have acknowledged and focused on McCullers' political consciousness. In his essay "Carson McCullers and Lillian Smith: The Intersections of Gender and Race in the Jim Crow South", Constante González Groba examines the connection between race and gender oppression in the 1930s South, as well as McCullers' way of dealing with it in her fiction:

McCullers opposed the insistence of southern culture on racial "purity" and the oppression of blacks as adamantly as she did its demands for rigid sexual definition and the oppression of any deviant form of sexuality. She was persuaded that just as "blackness" and "whiteness" can coexist within individuals of both races, so too can femininity and masculinity be found equally within men and women. (124)

González Groba argues that this objection to set binary oppositions are due to McCullers' own sexual ambivalence, anti-racism, and sensitivity to social reform. A few critics have therefore performed autobiographical readings of The Heart Is a Lonely Hunter, where the character of Mick symbolizes McCullers' "own story of growing up in the thirties as a Southern female prodigy" (Perry 36), and of failing in love and art as an adolescent girl. However, Mick fails also where McCullers did succeed, and Perry asks: "Why would McCullers, a privileged young artist from Columbus, Georgia, compose a novel that features a heroine deprived of every opportunity to develop her talent?" (Perry 37). Since one difference between Mick and McCullers would be their class background, McCullers wanted to depict a class struggle. Yet, not many critics seem to have focused on the class issues of The Heart Is a Lonely Hunter but the social issues referred to are mostly gender and race issues.

Gayatri Chakravorty Spivak, however, does examine gender, class, and race struggle in the novel in her feminist reading of the text, and argues that the characters' "failure of collectivity" is due to separate race-, class-, and sex-struggles (Spivak 131). Consequently, she suggests that "a fully politicized feminism, far from being a special interest, can bring a consideration of the power structure of the interstices of such a discussion1 within reach of practical analyses" (Spivak 138). By leaving out a discussion on sexism and patriarchy in Copeland's and Blount's discussion, the text might suggest an alternative view to self-interest politics (such as identity politics), as Spivak argues, although it is not explicitly stated in the text. I therefore believe that an intersectional understanding of the power structures – such as race, class, and gender – in the novel is crucial.

An important aspect of McCullers' works is that she positions new understandings of race, gender, and sexuality, although this does not seem to have been acknowledged much by critics. Cynthia Wu examines how, in her short fiction, McCullers "interrogates white southern identity through means other than comparisons to black southern identity" (Wu 44). She argues that by introducing European immigrant characters, and also providing a functional absence of AfricanAmerican characters McCullers proves that the concept of "white" can exist and be defined apart from the concept of "black". By presenting white male characters who "do not occupy a comfortable space in whiteness or in patriarchy" and white female characters who challenge "the South's ideals of white sexual propriety" (54), McCullers re-conceptualizes race, or more specifically; whiteness.

Although the Kellys' house "was one of the biggest houses on the whole north side of town …"

(39), Mick's family is considered poor in relation to other white families and their economic situation is constantly worsening throughout the novel: "They were that poor. Money was the main thing. All the time it was money, money, money" (209). All her older siblings work, her father is desperate to get any job, her mother is busy working in the house and managing the boarders, while Mick is responsible for her two baby brothers, at least when she does not sleep or study.In order to help her family economically, Mick decides to get a job at Woolworth's. It is supposed to be for the summer only, but Mick understands that the decision has far-reaching consequences: "The job wouldn't be just for the summer – but for a long time, as long a time as she could see ahead. Once they were used to the money coming in it would be impossible to do without again. That was the way things were" (279). Mick realizes that her family will get used to her income and an improved economy, and it will therefore be more difficult for her to return to high school once summer vacation is over. She is also conscious of the additional marginalizing structures that girls and women have to cope with.

According to Nancy B. Rich, "Mick represents both the white population in general … and most women" (Rich 114, my italics). However, Mick is not African-American: she is white and thus belongs to a race privileged by both laws and notions that controlled power differentials in the 1930s South. One might be able to argue that Mick is somewhat representative of white, economically disadvantaged women in the 1930s South, and how their identities might be shaped by power structures of race, class, and gender. However, she can certainly not represent an African American, economically disadvantaged woman such as Portia:

When feminist theory and politics that claim to reflect women's experience and women's aspirations do not include or speak to Black women, Black women must ask: "Ain't We Women?" If this is so, how can the claims that "women are," "women believe" and "women need" be made when such claims are inapplicable or unresponsive to the needs, interests and experiences of Black women? (Crenshaw, "Demarginalizing" 388)

Although Mick and Portia both are women with working-class background, they do not share the same racial background. Consequently, by assuming that Mick is representative for "most women", Portia's intersectional experiences as an African-American woman are neglected: "Not only are women of color in fact overlooked, but their exclusion is reinforced when white women speak for and as women" (389). When white women, such as Mick, are claimed to represent most or all women, African-American women are marginalized on the basis of the race, and while antiracism recognizes the experiences of African-Americans, race discrimination "tends to be viewed in terms of race- or class-privileged Blacks" (383). Carson McCullers writes in her outline of The Mute (which was later published as The Heart Is a Lonely Hunter) that "In actual space she occupies almost as much of the book as any one of the main characters, except Mick—but she is always placed in a subordinate position" (Evans 206). She does not have any chapter of "her own", but instead she occupies parts of Doctor Copeland's (her father's) or Mick's chapters. Due to the absence of Portia in the readings of the novel, and also her subordinate position as a character in the novel itself, she is marginalized not only by the readings but also, deliberately, in the novel.McCullers lets Portia take up as much space as any main character, however, she still occupies a subordinate position in relation to the main characters, and the marginalized characters telling the story are not AfricanAmerican women. McCullers's The Heart Is a Lonely Hunter tells the story of Mick – and Portia, however in the margins – and thus deals with issues of race, gender, and class.

Portia's family members are devout Christians – except from her father – so when Portia's grandfather (Grandpapa) relates about his destined meeting with Jesus, they all listen devotedly and concur:

I reason I will get to stand before Jesus with all my childrens and grandchildrens and great grandchildrens and kinfolks and friends and I say to Him, “Jesus Christ, us is all sad coloured peoples.” And then he will place His holy hand upon our heads and straightway us will be white as cotton. (131)

The only one reacting to Grandpapa's, and the rest of the family's, internalized racism is Doctor Copeland, who feels anger towards their ignorance. All that is holy – God, His angels, and Jesus – is white, which implies that all that is unholy is black. Racism is justified by religious teachings, and in order for Portia (and the rest of her family) to be accepted by God and succeed in religion, in which notions of white supremacy occur, they need to become white themselves. When her father uses the word 'Negro', she gets angry and replies:

Take Willie and me. Us aren't all the way coloured. Our Mama was real light and both of us haves a good deal of white folks' blood in us. … None of us is pure coloured and the word you all the time using haves a way of hurting peoples' feelings. (72)

However, when describing the strippers, Portia uses the word 'nigger', although she does say that “polite peoples – no matter what shade they is – always say coloured” (72). Strippers, and particularly African-American strippers, are the embodiment of “bad girls” while Portia is the opposite. Nonetheless, she is African-American, and society will not recognize her as a “good girl” until she becomes as white as the angel Grandpapa describes. Laws and courts will not acknowledge the demands of African-Americans, and in order for them to make their voices heard, they need white people as spokespersons.

Ultimately, Mick is defeated by the intersecting power structures of race, class, and gender, and not solely because she is a woman or because she is economically disadvantaged, but because of her position as an economically disadvantaged woman. . With the depression as a murky backdrop, this first novel depicts the bleak landscape of the American consciousness. Miss McCullers' picture of loneliness, death, accident, insanity, fear, mob violence and terror is perhaps the most desolate that has so far come from the South. Her quality of despair is unique and individual. Her groping characters live in a world completely lost. And she recounts incidents of death and attitudes of stoicism. Hovering mockingly over her story of loneliness in a small town are primitive religion, adolescent hope, the silence of deaf mutes—and all of these give the violent colors of the life she depicts a sheen of weird tenderness.

REFERENCES:

Champion, Laurie. “Black and White Christs in Carson McCullers's 'The Heart Is a Lonely Hunter'” Southern Literary Journal 24.1 (1991): 47-52. JSTOR. Web. 28 Oct. 2011. <http://www.jstor.org/stable/20078029>.

Crenshaw, Kimberlé. “Demarginalizing the Intersection of Race and Sex: A Black Feminist Critique of Antidiscrimination Doctrine, Feminist Theory and Antiracist Politics.” Ed. D. Kelly. Weisberg. Feminist Legal Theory: Foundations. Philadelphia: Temple UP, 1993. Print.

Crenshaw, Kimberlé. “Mapping the Margins: Intersectionality, Identity Politics, and Violence against Women of Color.” Stanford Law Review 43.6 (1991): 1241-299. JSTOR. Web. 22 Oct. 2011. <http://jstor.org/stable/1229039>.

Evans, Oliver. “The Achievement of Carson McCullers.” English Journal 51.5 (1962): 301-08. JSTOR. Web. 15 Nov. 2011. <http://www.jstor.org/stable/810004>.

Evans, Oliver. The Ballad of Carson McCullers: A Biography. New York: Coward-McCann, 1966. Print.

González Groba, Constante. “Carson McCullers and Lillian Smith: The Intersections of Gender and Race in the Jim Crow South.” Journal of English Studies 5-6 (2005-2008): 11937. Print.

McCullers, Carson. The Heart Is a Lonely Hunter. 1940. New York: Penguin Group, 2008. Print.

Perry, Constance M. “Carson McCullers and the Female Wunderkind.” Southern Literary Journal 19.1 (1986): 36-45. JSTOR. Web. 29 Nov. 2011. <http://www.jstor.org/stable/20077818>.

Rich, Nancy B. “The 'Ironic Parable of Fascism' in 'The Heart Is a Lonely Hunter.'” Southern Literary Journal 9.2 (1977): 108-23. JSTOR. Web. 28 Oct. 2011. <http://www.jstor.org/stable/20077564>.

Spivak, Gayatri Chakravorty. “[A Feminist Reading: McCullers's Heart Is a Lonely Hunter].” Critical Essays on Carson McCullers. Ed. Beverly Lyon. Clark and Melvin J. Friedman. New York: G.K. Hall, 1996. 129-42. Print.

Wu, Cynthia. “Expanding Southern Whiteness: Reconceptualizing Ethnic Difference in the Short Fiction of Carson McCullers.” Southern Literary Journal 34.1 (Fall, 2001): 44-55. JSTOR. Web. 28 Oct. 2011. <http://www.jstor.org/stable/20078316>.

शिक्षाशास्त्र

जैव-विविधता संरक्षण वर्तमान की आवश्यकता

–डॉ०अ खिलेशच न्द्र*

किसी क्षेत्र या देश में पाये जाने वाले जीवित जीव जिनमें पेड़–पौधें, पशु–पक्षी तथा सूक्ष्म जीव शामिल हो की विविधता एवं भिन्नता को जैव–विविधता कहते है। ऐसा माना जाता है कि जीवन की उत्पत्ति लगभग 36 खरब वर्ष पूर्व में हुयी थी। धीरे–धीरे निर्जीव पदार्थों से सजीव पदार्थों का जन्म पानी में होना शुरू हुआ। प्रारम्भ में पृथ्वी पर जीवन कई रूपों में सामने आया जैसे–एक कोशकीय जीव, बहुकोशकीय जीव, शैवाल, कवक सूक्ष्मजीवी पौधे, स्तनधारी, एवं पक्षी आदि। इन विभिन्न प्रकार के जीवों ने समूह बनाना शुरू किया, तत्पश्चात विभिन्न प्रकार के जीवों का किसी निश्चित प्रकार के क्षेत्र में विस्तार पारिस्थितिकी तन्त्र (Ecological System) का निर्माण होने लगा। इन विभिन्न प्रकार के जीवों का एक साथ पाया जाना ही जैव–विविधता (Bio-Diversity) कहलाता है।

बायोलाजिकल डायवर्सिटी (Biological Diversity) शब्द सर्वप्रथम नोसे तथा मैक्मेनस ने (1980) में दिया जिसका लघु रूप बायोडायवर्सिटी (Bio-Diversity) शब्द (1985) में वाल्टन जी रोसन ने दिया था। बायोडायवर्सिटी (Biodiversity) मूल शब्द के इस लघु संस्करण ने तुरन्त ही वैश्विक स्वीकार्यता प्राप्त कर ली। प्रचलित मीडिया में भी यह शब्द प्रायः प्रकाशित होता रहता है। जैविक का आशय जीव जगत से है तथा विविधता का आशय प्रकार से है अर्थात जैव विविधता का सीधा–सीधा अर्थ है– 'जीवित संसार की विविधताए'।

मानव का जीवन प्रकृति की अनुपम देन है। हरे–भरे पेड़–पौधे, विभिन्न प्रकार के जीव–जन्तु, मिट्टी, हवा, पानी, पठार, नदियां समुन्द्र, महासागर आदि सब प्रकृति की देन है जो हमारे अस्तित्व एवं विकास के लिए आवश्यक है।

मरूस्थलों से लेकर महासागरों की गहराई तक विभिन्न आकार–प्रकार, रंग और रूपों में प्राणि जगत विद्यमान है, जिनमें पर्याप्त विविधता होती है, जिसे हम जैव विविधता के रूप में जानते है।

जैव–विविधता का हमारे जीवन में काफी महत्त्व है। विभिन्न प्रकार के जीवों की उनके जीवन में अलग–अलग भूमिका होती है जो प्रकृति को संतुलित रखने तथा हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकतओं को पूर्ण करने, तथा सतत विकास के लिए संसाधन प्रदान करने में अपना योगदान करती है। जैव विविधता से हमें, भोजन, औषधियां, ईधन, औद्योगिक कच्चा माल, रेशम, चमड़ा, ऊन आदि उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होती है। यह खाद–श्रृंखला में भी अपना अभूतपूर्व योगदान देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ाने एवं पारिस्थिकीय संतुलन को बनाये रखने में देखा जा

*एसोसिएट प्रोफेसर– शिक्षण प्रशिक्षण विभाग, श्री गॉधी पी.जी. कालेज , मालटारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)
प्रधान सम्पादक : 'अखिल गति शोध दृष्टि (अन्तर्राष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध जर्नल) माह– दिसम्बर, आजमगढ़ (उ0प्र0)

सकता है। इसका सामाजिक, नैतिक, भौगौलिक तथा अन्य प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष महत्त्व है जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है।

विश्व के समृद्धतम जैव विविधता वाले 12 देशों में भारत भी शामिल है भारत में विश्व की 70 प्रतिशत जैव विविधता विद्यमान है। जैव विविधता वाले देशों में ब्राजील, कोलंबिया, इक्वाडोर, चीन, मैक्सिको, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, इन्डोनेशिया, वेनेजुएला, चेक गणराज्य एवं मलेशिया शामिल है। सम्पूर्ण विश्व का 2.4: भू भाग भारत में है यहां विश्व के जीव जन्तुओं का लगभग 5% निवास करता है। भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण एवं भारतीय प्राणी सर्वेक्षण द्वारा किये गये सर्वेक्षणों के अनुसार भारत में कुल 47755 वनस्पति प्रजातियां एवं 89137 प्राणी प्रजातियां पायी जाती है। भारत विश्व में वनस्पति विविधता के आधार पर दशवें स्थान पर है।

''विविधता में 18159 पुष्पीय पौधे, 77 नग्न जीवी पौधे, 14936 कवक, 7308 शैवाल, 2531 ब्रायोफाइट्स, 1,274 टेरिडोफाइट्स, 2434 लाइकेन तथा 1036 जीवाणु शामिल है। जीव–जन्तुओं की विविधता में भारत में 390 प्रकार के स्तनधारी, 1225 प्रकार के पक्षी, 456 प्रकार के सरीसृप, 209 प्रकार के उभयचर, 2546 प्रकार की मछलियां, 5070 प्रकार के मोलस्क, 2577 प्रकार के प्रोटोजोआ, 68,389 प्रकार के कीड़े–मकोड़े, 2970 प्रकार के क्रस्टेशियन्स तथा 8329 प्रकार के अन्य जीव जन्तु पाये जाते है।''[1]

जैव विविधता का सम्बन्ध खाद–श्रृंखला से है पृथ्वी पर विचरने वाले पशु पक्षिओं तथा जीव–जन्तुओं की जीविका का आधार भी जैव–विविधता है और जब तक जैव–विविधता पृथ्वी पर है तभी तक उनका जीवन भी है। अप्रत्यक्ष रूप से सभी जीव एक दूसरे के पूरक है। पेड़–पौधे प्रकाश संश्लेशण द्वारा की क्रिया द्वारा करके आक्सीजन छोड़ते है तथा जीव–जन्तु आक्सीजन लेकर कार्बनडाइ आक्साइड छोड़ते है। इस प्रकार दोनों जीव दायिनी गैसों का वातारण में संतुलन बना रहता है।

जैव विविधता संतुलित रहने से पारिस्थितिक तन्त्र में खाद–श्रृंखला तथा खाद जाल संतुलित बना रहता है। पेड़–पौधे भूमि क्षरण को रोकते है, पोशक तत्वों की कमी को पूरा करते है जिससे जल चक्र तथा आक्सीजन चक्र संतुलित बना रहता है। भारत की जैव विविधता विश्व में अपना अलग स्थान रखती है। भारत में 130 पुरातन पुष्पित पौधों की बड़ी श्रृंखला भारत के उत्तर पूर्वी भाग में पायी जाती है इस महान जैव विविधता के कारण भारत को सुविख्यात रूसी वनस्पतिज्ञ डॉ0 आर्मन ताख्ताजन (1969) ने भारत को 'पुरातन पुष्पीय पौधों का पालन स्थल' की संज्ञा दी है।''[2]

जैव विविधता प्राकृतिक सौन्दर्य प्रदान करती है। विश्व का प्राकृतिक सौन्दर्य जैव विविधता के कारण ही है। मानव को प्रकृति ने जो स्वभाव दिया है उसमें उसे हर वो चीज अच्छी लगती है जिसमें प्रकृति का योगदान होता है। मानव को फूलों की घाटी, पहाड़ों तथा झरनों का सौन्दर्य, घने जंगल, वन्यजीव, रंग बिरंगें फूल–पक्षी, तितलियां, पक्षियों की चहचहाहट, रंग बिरंगी मछलियां, विभिन्न प्रकार के पालतू जानवर, कबूतर, गौरैया, गिलहरी, कुत्ता घोड़ा, हाथी, तोता, कोरल रीफ, मगरमच्छ, शेर, चीता, सभी ने लुभा रखा है।

महान जीव विज्ञानी डार्विन ने 'ओरीजिन आफ स्पीसीज' नायक पुस्तक लिखकर जैव विविधता से सबको परिचित कराया कि पृथ्वी पर बने रहने की हर जीव की आवश्यकता है।

मानव ने अपने विकास के अन्धेपन के कारण जैव विविधता को विगत 10 दशकों से प्रभावित कर रखा है। मानव ने विकास के नाम पर पाश्चात्य संस्कृति का जो अनुकरण शुरू किया उससे वन जीव जन्तु सभी प्रभावित है। सम्प्रति भारत में बिछाये जा रहे सड़कों के जाल ने प्राकृतिक पेड़–पौधों का जो कटान किया है उससे प्राकृतिक असंतुलन पैदा हो रहा है। इन कटे पेड़ों के स्थान पर नये पेड़ों को न लगाया जाना भी इसे और

प्रभावित जोन में डाल रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि अगर आज इन कटे पेड़ों की जगह पेड़ लगाये जाय तब भी आज की स्थिति में आने में इन पेड़ों को आगामी 20 वर्षों का समय चाहिए परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। इन बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

जैव विविधता के साथ छेड़छाड़ किसी भी कीमत पर अच्छा नही है मानव ने इसका विदोहन करके इनके अस्तित्व पर ही सवाल करना शुरू कर दिया है। इसका दुष्परिणाम और मानव पर दिखाई भी दे रहा है। आज किसी भी मानव बस्ती में चीता, शेर, हाथी का प्रवेश हो रहा है और वह मानव को नुकसान पहुचा रहे है। विगत दिनों व्हाट्सएप पर एक वीडियों वायरल रहा कि एक –'परिवार कार से हाइवे पर यात्रा पर जा रहा है पीछे सीट पर बैठी बेटी ने आगे सीट पर आने की जिद की। पिता ने जैसे ही गाड़ी रोकी, बेटी आगे आने के लिए सीट से उतरी, उसी वक्त एक चीता ने बेटी पर झपट्टा मारा और बेटी को उठाकर जंगल की तरफ लेकर भाग गया। पूरा परिवार देखता ही रह गया।' ये घटना जंगल के वातावरण से छेड़छाड़ का नतीजा है।

हम अपने सुख सुविधा बढ़ाने हेतु पौधों को निरन्तर जड़ समेत उखाड़ ले रहे है, शहरीकरण हेतु वनों का विनाश करते जा रहे है। मानव ने नगरों को बसाने हेतु कंकरीट का जो मंजर खड़ा किया, वह कभी वनाच्छादित क्षेत्र था, इससे वातावरण का विदोहन हो रहा है। इसी से जुड़ी पर्यावरण की अन्य समस्याए भी बढ़ रही है। वायु प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, ओजोन परत में क्षरण, एसिडरेन, जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएं रेखांकन में आ रही है। विश्व का तापमान बढ़ना भी जैव विविधता से छेड़छाड़ का ही परिणाम है। वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड का स्तर बढ़ता जा रहा है इससे पृथ्वी के तापमान में 2030 तक $2^{\circ}c$ तक बढ़ने का अंदेशा पर्यावरणविद पहले से ही लगा चुके है। कार्बन डाइआक्साड का स्तर 300 ppm से बढ़कर 379 ppm तक पहुँच गया है।

यदि इस बढ़ने की गति को नहीं रोका गया तो परिणाम भयावह होंगे। बढ़े तापमान से समुद्र के किनारे बसे देश और शहर डूब जायेंगे। तापमान वृद्धि से मानव भी प्रभावित होगा। इन तमाम समस्याओं से निजात पाने के लिए जैव विविधता का संरक्षण ही एकमात्र उपाय है।

जैव विविधता में एक भी प्रजाति के लुप्त होने से पूरा पारिस्थितिक तन्त्र प्रभावित होता है, खाद श्रृंखला एवं खाद जाल प्रभावित होता है। प्रत्येक जीन एक दूसरे से नये गुण तन्त्र से विभिन्न होता है किस जीव मे कौन सा गुण विद्यमान है और उसके समाप्त होने से पुनः वैसा गुण तन्त्र तैयार नही किया जा सकता है इसलिए सभी जीव धारियों को साथ लेकर चलना आवश्यक है।

जैव विविधता को बनाये रखने में विश्व को साथ में लेना भी आवश्यक है। जैव विविधता वैश्विक समस्या है। एक अनुमान के अनुसार ''वनस्पतियों की हर आठ में से एक प्रजाति खतरे में है।''[3] जैव विविधता पर खतरा लगातार बढ रहा है। इन्टरनेशनल यूनियन फॉर कंजर्वेशन आफ नेचर (आईयू0सी0एन) की रिपोर्ट में कहा गया है कि ''विश्व में जीव जन्तुओं की 47677 विशेष प्रजातियों में से एक तिहाई से अधिक प्रजातियां यानी 15890 प्रजातियों पर विलुप्ति का खतरा मंडरा रहा है। आई यू सी एन की रेड लिस्ट के अनुसार स्तनधारियों की 21 फीसदी, उभयचरों की 30 फीसदी और पक्षियों की 12 फीसदी प्रजातियां विलुप्ति की कगार पर है, वनस्पतियों की 70 फीसदी प्रजातियों के साथ ताजा पानी में रहने वाले सरिसृपों की 37 फीसदी प्रजातियों और 1147 प्रकार की मछलियों पर भी विलुप्ति का खतरा मंडरा रहा है।''[4]

भारत ने इसकी गम्भीरता को ध्यान में रखकर ''जैव विविधता संरक्षण अधिनियम''[5] भी बनाये है जो निम्न है–

1. मतस्य पालन अधिनियम, 1987
2. विनाशकारी कीट एव ंनाशक जीव अधिनियम, 1914
3. भारतीय वन अधिनियम, 1927

4. कृषि उत्पाद (श्रेणीकरण एवं विपणन) अधिनियम, 1937
5. भारतीय काफी अधिनियम, 1942
6. आयात एवं निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम 1947
7. रबर (उत्पादन एवं विपणन) अधिनियम, 1947
8. खनन एवं खनिज विकास (विनियमन) अधिनियम 1957
9. पशु शुल्क अधिनियम, 1960
10. सीमा शुल्क अधिनियम, 1962
11. इलाइची अधिनियम, 1965
12. बीज अधिनियम, 1966
13. पेटेंट अधिनियम, 1970
14. वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972
15. समुन्द्री उत्पाद निर्यात विकास प्राधिकरण अधिनियम, 1972
16. जल (प्रदूषण रोकथाम एवं नियत्रण) अधिनियम, 1974
17. तम्बाकू बोर्ड अधिनियम, 1975
18. क्षेत्रीय जल, महाद्वीपीय शेल्फ, अनन्य आर्थिक क्षेत्र और समुन्दी क्षेत्र अधिनियम, 1976
19. जल (प्रदूषण रोकथाम एवं नियत्रंण) उपकर अधिनियम, 1977
20. मैरीटाइम जोन्स ऑफ इण्डिया (रैयग्युलेशन एंड फिसिंग बाई फॉस वेसलेट) एक्ट 1980
21. वन संरक्षण अधिनियम, 1980
22. वायु (प्रदूषण रोकथाम एवं नियत्रंण) अधिनियम, 1981
23. कृषि एवं संसाधित खाद्य उत्पाद निर्यात विकास प्राधिकरण अधिनियम, 1985 / 86
24. पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986
25. मसाला बोर्ड अधिनियम, 1986
26. राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड 1987
27. विदेशी व्यापार विकास और विनियमन अधिनियम, 1992
28. पौधा किस्म और कृषक अधिकार संरक्षण अधिनियम 2001
29. जैविक विविधता अधिनियम, 2002
30. पादप संगरोध (भारत में आयात का नियमन) आदेश, 2003

जैव विविधता तथा मानव का सम्बन्ध अनादि काल से परस्पर पूरकता का रहा है इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही भारतीय ऋशि–मुनियों ने इसे धर्म सें जोड़कर पेड़ पौधों एव ंजीव जन्तुओं की रक्षा हेतु संरक्षण की बात की होगी। मनुस्मृति में कहां गया कि ''जब तक पृथ्वी पर वन्य जीवों से सम्पन्न वन है तब तक धरती मानव वंश का पोषण करती रहेगी।''[6] महाकाव्य महाभारत में कहां गया है कि ''बाघों के बिना वन की रक्षा नहीं हो सकती तथा वन के बिना बाघ नही रह सकते, क्योंकि बाघ वन की रक्षा करते है और वन बाघों की।''[7]

साराशतः जैव विविधता का क्षरण एक न नकारा जाने वाला सत्य है जैव विविधता संरक्षण वर्तमान की आवश्यकता है और हमें इस पर ध्यान देना होगा।

सन्दर्भ

1. विज्ञान प्रगतिः सम्पादक डॉ0 बाल कराम, भारत की जैव विविधता पर एक नजर लेख–राम लखन सिंह सिकरवार, प्रकाशक राष्ट्रीय विज्ञान संचार एवं सूचना स्त्रोत संस्थान नई दिल्ली पृष्ठ 09
2. वही पृष्ठ संख्या 09
3. वही पृष्ठ संख्या 16
4. वही पृष्ठ संख्या 17
5. वही पृष्ठ संख्या 60
6. वही पृष्ठ संख्या 11
7. वही पृष्ठ संख्या 11

शिक्षाशास्त्र

व्यक्तित्व : दशा एवं दिशा

–अमितक ुमारद ूबे*
–डॉ०अ खिलेशच न्द्र**

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग साधारण बातचीत के दौरान बहुतायत से किया जाता है। साधारण बातचीत में प्रयुक्त 'व्यक्तित्व' शब्द किसी ऐसे गुण या विशेषता को इंगित करता है, जिसे सभी व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करने तथा पारम्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से विशेष महत्त्व देते है। चन्दन का व्यक्तित्व अत्यन्त अजीब सा है, चाँदनी का तो कोई व्यक्तित्व ही नहीं है जैसे वाक्याशं आम बोलचाल के दौरान प्रायः सुनने को मिलते रहते है। यद्यपि सामान्य बोलचाल में व्यक्तित्व शब्द का उपयोग किया जाता है ,परन्तु 'व्यक्तित्व' शब्द को परिभाषित करने का प्रयास नही किया गया है। फिर भी सभी व्यक्ति अपने स्तर से समझते है कि इस प्रकार के वाक्यांशों से क्या अभिप्राय है। स्पष्ट है कि सामान्य अर्थो में व्यक्तित्व से तात्पर्य शारीरिक गठन, रंगरूप, वेशभूषा, बातचीत के ढंग तथा कार्य व्यवहार जैसे विभिन्न गुणों के संयोजन (unification) से लगाया जाता है।

व्यक्तित्व का अंग्रेजी अनुवाद 'Personality' है जो लैटिन शब्द परसोना (Persona) से बना है तथा जिसका अर्थ नकाब (mask) से होता है जिसे पहनकर नाटक के पात्र (एक्टर) रंगमंच पर किसी अन्य व्यक्ति का अभिनय करते है। अतः पर्सनालिटी शब्द का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति के वाह्य दिखावा (external appearance) के आधार पर इंगित करता है। जिस व्यक्ति का बाहरी दिखावा भड़कीला होता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही अच्छा समझा जाता है तथा जिस व्यक्ति का बाहरी दिखावा साधारण होता है, उसका व्यक्तित्व उतना अच्छा नही समझा जाता है। व्यक्तित्व शब्द का यह अर्थ निश्चय ही एक अत्यन्त संकुचित व सीमित अर्थ है। आधुनिक संदर्भ में व्यक्तित्व शब्द को एक अत्यन्त व्यापक शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तथा शिक्षा की दृष्टि से इसका वास्तविक अर्थ इसके परम्परागत शाब्दिक अर्थ से पर्याप्त भिन्न होता है। शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्तित्व एक अत्यन्त जटिल, भ्रामक तथा अस्पष्ट प्रकृति वाला सम्प्रत्यय है, जिसकी सर्वमान्य एवं पूर्णतया यथार्थ एवं स्पष्ट परिभाषा देना न केवल कठिन बल्कि लगभग असंभव सा कार्य है। शिक्षा के साहित्य में यद्यपि व्यक्तित्व शब्द की अनेक परिभाषाएँ मिलती है परन्तु उनमें पर्याप्त भिन्नताएँ पाई जाती है। वस्तुतः व्यक्तित्व की ये विभिन्न परिभाषायें किसी एक मत पर सहमत नहीं हो पाती है। निःसंदेह व्यक्तित्व एक ऐसी अपरोक्ष विशेषता है, जिसे विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने अपनी मान्यताओं के अनुसार अलग–अलग ढंग से देखा तथा परिभाषित किया है।

जेम्स ड्रेवर के शब्दो में– ''व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग

*शोधछात्र, श्री गांधी पी0जी0 कालेज मालटारी आजमगढ़ (उ0प्र0)
**एसोसिएट प्रोफेसर– शिक्षण प्रशिक्षण विभाग, श्री गॉधी पी.जी. कालेज , मालटारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)

व्यक्ति के शारीरिक, मानंसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों के उस एकीकृत तथा गत्यात्मक संगठन के लिए किया जाता है जिसे व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सामाजिक जीवन के आदान–प्रदान में व्यक्त करता है। ''

एच0जे0 आईजेंक के शब्दों में –

''व्यक्तित्व व्यक्ति के चरित्र, चित्रप्रकृति, ज्ञानशक्ति तथा शरीर गठन का करीब'–करीब एक स्थायी एवं टिकाऊ संगठन है जो वातावरण में उसके अपूर्व समायोजन का निर्धारण करता है।'' (The scientific study of Personality. 1952. P. 16)

एन0एल0मन के शब्दों में–

''व्यक्तित्व को एक व्यक्ति के संरचनात्मक, व्यावहारिक– पद्धति, अभिरूचि अभिवृत्ति, योग्यता, क्षमता और रूझान जैसी लक्षणागत एकीकरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ''

सी0वी0 गुड के शब्दों में–

एक व्यक्ति की सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अनुक्रियाएँ, उसके विषयगत, संवेगात्मक और मानसिक जीवन का समन्वित रूप है।''

विग तथा हण्ट के शब्दों में–

''व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार प्रतिमान एवं इसकी समस्त विशेषताओं के योग को व्यक्त करता है।''

जे0पी0 गिलफोर्ड के शब्दों में–

''व्यक्तित्व गुणों का समन्वित रूप है।''

आर0एस0 वुडवर्थ के शब्दों में–

''व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार की एक समग्र विशेषता है।''

डेशील के शब्दों में–

''व्यक्तित्व व्यवहार प्रवृत्तियों का एक समग्र रूप है, जो व्यक्ति के मानसिक समायोजन में अभिव्यक्त होता है।''

वैलेन्टाइन के शब्दों में–

''व्यक्तित्व समस्त जन्मजात और अर्जित गुणों का सम्पूर्ण योग है।''

चाइल्ड के शब्दों में–

''व्यक्तित्व से तात्पर्य कमोवेश स्थायी आंतरिक कारको से होता है जो व्यक्ति के व्यवहार को एक समय से दूसरे समय में संगत बनाता है तथा तुल्य परिस्थितियों में अन्य लोगो के व्यवहार से अलग करता है। ''

वाल्टर मिसकेल के शब्दों में–

''प्रायः व्यक्तित्व से तात्पर्य व्यवहार के उस विशिष्ट पैटर्न (जिसमें चिन्तन एवं संवेग भी सम्मिलित है) से होता है जो प्रत्येक व्यक्ति के जिन्दगी की परिस्थितियों के साथ होने वाले समायोजन का निर्धारण करता है।''

बेरोन के शब्दों में–

''व्यक्तियों के संवेगों, चिन्तनों तथा व्यवहारों के अनूठे एवं सापेक्ष रूप से स्थिर पैटर्न के रूप में व्यक्तित्व को सामान्यतः परिभाषित किया जाता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर तथा करीब 49 परिभाषाओं का विश्लेषण करने के बाद जी.डब्ल्यू. आलपोर्ट महोदय ने अपनी ओर से 50 वीं परिभाषा व्यक्तित्व का दिया जो आज भी मनोवैज्ञानिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों को मान्य है क्योंकि यह परिभाषा काफी विस्तृत एवं वैज्ञानिक है।

जी.डब्ल्यू. आलपोर्ट के शब्दों में–

''व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोशारीरिक तंत्रों का गतिशील या गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण में उसके अपूर्व समायोजन को निर्धारित करते है।'' (Allport: Personality: A Psychological Interpetation, 1937,p.48)

जी.डब्ल्यू. आलपोर्ट के द्वारा प्रस्तुत की गई व्यक्तित्व की इस परिभाषा को मनोविज्ञान एवं शिक्षा में सर्वाधिक मान्यता प्रदान की जाती है। इस परिभाषा के ऊपर विश्लेषणात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है

कि यह व्यक्तित्व के सम्बन्ध में चार प्रमुख बातों की ओर संकेत करती है तथा इसका एक संयुक्त विश्लेषण इस प्रकार है–

1. मनोशारीरिक तंत्र (Psychophysical System)

व्यक्तित्व एक ऐसा तंत्र है जिसके मानसिंक एवं शारीरिक दोनों पक्ष होते है। यह तंत्र ऐसे तत्वों का एक संगठन होता है जो आपस में अन्तःक्रिया करते है। इस तंत्र के मुख्य तत्व शीलगुण, संवेग, आदत, ज्ञानशक्ति, चित्तप्रकृति, चरित्र, अभिप्रेरक आदि है जो सभी मानसिंक गुण है परन्तु इन सब का आधार शारीरिक अर्थात व्यक्ति के ग्रन्थीय प्रक्रियाएँ एवं तंत्रिकीय प्रक्रियाएँ है। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि व्यक्तित्व न तो पूर्णतः मानसिंक है और न पूर्णतः शारीरिक ही होता है। व्यक्तित्व इन दोनों तरह के पक्षों का मिश्रण है।

2. गत्यात्मक संगठन (Dynamic orgnisation)

गत्यात्मक संगठन से तात्पर्य यह होता है कि मनोशारीरिक तंत्र के भिन्न– भिन्न तत्व जैसे शीलगुण, संवेग, आदत आदि एक–दूसरे से इन तरह से सम्बन्धित होकर संगठित है कि उन्हें एक–दूसरे से पूर्णतः अलग नही किया जाता है। इस संगठन में परिवर्तन सम्भव है यही कारण है कि इसे गत्यात्मक संगठन कहा गया है। इस तरह से गत्यात्मक संगठन का मतलब यह कि व्यक्तित्व के शीलगुण या अन्य तत्व आपस में इस तरह से संगठित होते है कि उनमें परिवर्तन भी होते रहते है। उदाहरणस्वरूप कोई व्यक्ति नौकरी पाने के पहले ईमानदारी, उत्तदायी तथा समयनिष्ठ हो सकता है परन्तु नौकरी मिलने के कुछ वर्षों बाद उसमें उत्तरदायित्व तथा समयनिष्ठता का शीलगुण ज्यों का त्यों हो सकता है परन्तु संभव है कि उसमें ईमानदारी का गुण बदलकर बेईमानी का गुण विकसित हो जाय। इस उदाहरण में पहले के तीन गुणों के संगठन में नौकरी मिलने के बाद एक परिवर्तन दिखलाया गया है। ऐसा भी हो सकता है कि इन तीनों शीलगुणों का संगठन नौकरी मिलने के बाद पूणतः बदल जाय या परिवर्तन हो जाय।

शीलगुणों के संगठन में इस तरह का परिवर्तन गत्यात्मक संगठन का उदाहरण है।

इस तरह के संगठन में विसंगठन (Disorganisation) भी सम्मिलित होता है जिसके सहारे असामान्य व्यवहार (Abnormal behaviour) की व्याख्या भी होती है। दूसरे शब्दों में, यदि किसी व्यक्ति के शीलगुणों के संगठन में इस ढंग का परिवर्तन आ जाता है कि उसका व्यवहार विसंगठित हो जाता है तथा जिसके फलस्वरूप वह असामान्य व्यवहार अधिक करने लग जाता है तो इसको भी गत्यात्मक संगठन की श्रेणी में ही रखेगें।

3. संगतता (Consistency)

व्यक्तित्व में व्यक्ति का व्यवहार एक समय से दूसरे समय में संगत होता है। संगतता का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति का व्यवहार दो भिन्न अवसरों पर भी लगभग एक समान होता है। इस कारक पर चाईल्ड महोदय के परिभाषा में प्रत्यक्ष रूप से बल डाला गया है। व्यक्ति के व्यवहार में इसी संगतता के आधार पर उसमें अमुक शीलगुण के होने का अनुमान लगाया जाता है।

4. वातावरण में अपूर्व समायोजन का निर्धारण (Determination of unique adjustment to environment)

सभी व्यक्तियों में मनोशारीरिक गुणों का एक ऐसा गत्यात्मक संगठन पाया जाता है कि उसका व्यवहार वातावरण में अपनें–अपने ढंग का अपूर्व (unique) होता है। वातवरण समान होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार, विचार तथा होने वाला संवेग आदि अपूर्व होता है जिसके कारण उस वातावरण के साथ समायोजन करने का ढंग भी प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग होता है।

एच.जे. आइजेंक, जी.डब्ल्यू. आलपोर्ट, चाईल्ड तथा मिसकेल ने इस पक्ष पर समान रूप से अपनी–अपनी परिभाषाओं में बल डाला है। यही कारण है कि 1961 में

आलपोर्ट ने अपनी 1937 की परिभाषा के अन्तिम पॉच शब्द को बदलकर इस प्रकार कर दिये ''वातावरण के साथ अनूठा समायोजन'' की जगह पर ''विशिष्ट व्यवहार तथा विचार'' को सम्मिलित किया।

इस परिवर्तन का उद्‌देश्य यह था कि व्यक्ति का व्यवहार मात्र अनुकूली (adaptive) ही नहीं होता है बल्कि कथनीय (expressive) भी होता है। इसका मतलब यह हुआ कि व्यक्ति वातारण के साथ केवल समायोजन या अनुकूलन ही नही करता है बल्कि वातावरण के साथ इस तरह का अनुक्रिया करता है कि उस वातावरण को भी व्यक्ति के साथ अनुकूल या अभियोजन योग्य होना पड़ता है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते है कि व्यक्तित्व अलग–अलग शीलगुणों का एक ऐसा गत्यात्मक संगठन है जिसके कारण व्यक्ति का व्यवहार तथा विचार किसी भी वातावरण में अपने ढंग का अर्थात अपूर्व (unique) होता है।

सन्दर्भ

1. गुप्ता, एस0 पी0 : उच्चत्तर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
2. अस्थाना, मधु : व्यक्तित्व मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
3. श्रीवास्तव, रामजी : संज्ञानात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
4. दूबे, सत्यनारायण (शरतेन्दु) : प्राचीन भारत में शिक्षा, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
5. गुप्ता, अलका : आधुनिक मापन एव मूल्याकंन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
6. चन्द्र, अखिलेशः प्रधान सम्पादक, गीता सिंह : सम्पादक, 'अखिल गीत शोध दृष्टि' (अन्तरराष्ट्रीय शोध अर्द्धवार्षिकी जर्नल) निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ0प्र0)

शिक्षाशास्त्र

नारी सशक्तिकरण बनाम असशक्तिकरण

–आकांक्षाय ादव*

भारतीय संस्कृति में नारियों के गौरव के लिए कहा गया है, "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।" अर्थात जहाँ पर स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमते हैं। जहाँ उनकी पूजा नहीं होती, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं। भारत के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ इस तरह से नारी को देवी का दर्जा दिया गया हो। परंतु जब वास्तविकता के धरातल पर इसकी पड़ताल करते हैं तो दूसरी ही तस्वीर सामने आती है। विडंबना यह है कि समाज में नारी के प्रति व्यवहार में कथनी और करनी दोनों स्तरों पर गहरा विभेद है। देश के अधिकतर हिस्सों में यह बात दिखाई देती है। आजादी के छः दशकों बाद भी संविधान द्वारा प्रदत्त तमाम अधिकारों के बावजूद नारी को समाज में अपना हक पाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। घर और परिवार में उसके प्रति रवैये में लैंगिक समानता नहीं दिखाई देती। आज भी लिंग आधारित भेदभाव और नारियों के प्रति हिंसा व अत्याचार की घटनाएँ खत्म नहीं हुई हैं। गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक उसे विभिन्न पड़ावों पर लैंगिक भेदभाव और सामाजिक कुरीतियों का सामना करना पड़ता है।

समाज प्रगतिशीलता का कितना भी दम भर ले, पर नारी को कमतर मानने की मानसिकता से अभी भी नहीं उबर पाया है। नवरात्र के दिनों में अपने आसपास नौ कन्याओं को ढूँढकर उनकी पूजा करने वाला समाज गर्भ में कन्या की आहट की खबर सुनकर ही उसकी जीवन लीला वहीं खत्म कर देने से गुरेज नहीं करता। आँकड़े गवाह हैं कि1980 के दशक में कन्या भ्रूण का चुनिंदा गर्भपात 0.20 लाख था, जो 1990 के दशक में बढ़कर 12 लाख से 40 लाख तथा 2000 के दशक में 31 लाख से 60 लाख तक हो गया। प्रतिष्ठित 'लैंसेट' पत्रिका में प्रकाशित होने वाले एक अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार 1980 से 2010 के बीच इस तरह के गर्भपातों की संख्या 42 लाख से एक करोड़ 21 लाख के बीच है।

नारी का संघर्ष गर्भ से आरम्भ होता है और बाहर आने के बाद भी उसे अपने अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई निरंतर जारी रखनी पड़ती है। लालन–पोषण से लेकर शिक्षा तक, घर की देहरी से लेकर खेल के मैदान तक, उस पर तमाम बंदिशें थोपी जाती हैं। बचपन से ही लड़के–लड़कियों में भेदभाव आरंभ हो जाता है। पहनावे से लेकर खिलौनों के चुनाव, शारीरिक हावभाव, सामाजिक व्यवहार इत्यादि के फर्क उनके अनुकूलन में बड़ा अंतर पैदा करते हैं। यहाँ तक कि स्कूली किताबों में भी नारी को घरेलू कार्य करते तो पुरुष को ऑफिस के कार्य करते दिखाया जाता है। संस्कार के नाम पर

*टाइप 5निदेशक बंगला, पोस्टल ऑफिसर्स कॉलोनी जेडीए सर्किल के निकट, जोधपुर, (राजस्थान)

सहनशीलता को अपनाना उन्हें बचपन से ही सिखाया जाता है। कभी उनके जल्दी ब्याह की बात, कभी उन्हें जींस–टॉप से दूर रहने की सलाह, कभी रात्रि में बाहर न निकलने की हिदायत, कभी सह–शिक्षा को दोष तो कभी मोबाइल या फेसबुक से दूर रहने की सलाह.... ऐसी एक नहीं हजार बिनमाँगी सलाहें हैं, जो समाज के आलमबरदार रोज सुनाते हैं। उन्हें दोष नारियों की जीवनशैली में दिखता है, वे यह स्वीकारने को तैयार ही नहीं हैं कि दोष समाज की मानसिकता में है।

नारी शिक्षा और स्वास्थ्य आज भी तमाम परिवारों की प्राथमिकताओं में शामिल नहीं है, तभी तो देश की बावन प्रतिशत बेटियाँ प्राथमिक स्तर पर ही स्कूल की पढ़ाई छोड़ देती हैं और चौंसठ फीसदी माध्यमिक कक्षाओं से आगे की पढ़ाई नहीं कर पाती। जनगणना 2011 के आँकड़ानुसार देश में महिला साक्षरता मात्र 65.46 है और इनमें भी मात्र तेईस प्रतिशत को रोजगार मिल पाया है। बेटियों से छुटकारा पाने के लिए देश में तैंतालीस फीसद लड़कियाँ विवाह के लिए निर्धारित अटठारह वर्ष की आयु पूरी करने से पहले ही ब्याह दी जाती हैं और इनमें से बाईस फीसदी तो इस अपरिपक्व उम्र में माँ भी बन जाती हैं। दिन भर सबका ख्याल रखने वाली नारी के स्वास्थ्य का शायद कोई भी ख्याल नहीं रखना चाहता। तभी तो हमारे देश में पंद्रह से उन्नीस साल की उम्र वाली सैंतालीस फीसदी लड़कियाँ औसत से कम वजन की हैं। आज भी 56 फीसदी लड़कियाँ एनीमिया यानी खून की कमी का शिकार हैं। प्रति वर्ष छः हजार महिलाएं बच्चे को जन्म देने के साथ ही मौत के आगोश में चली जाती हैं। देश में हर साल टी.बी. (क्षय रोग) के कारण एक लाख से ज्यादा महिलाएं परिवार से अलग कर दी जाती हैं। सामाजिक तौर पर कई इलाकों में आज भी महिलाओं को 'डायन' और 'चुड़ैल' बता कर पत्थरों से मार डाला जाता है, जिंदा जला कर 'सती' के नाम पर महिमामंडित किया जाता है। आम बोलचाल की भाषा में बात–बात पर महिलाओं के अंगों की लानत–मलानत लोगों के रोजमर्रा के व्यवहार का हिस्सा है। ऐसे में नारी सशक्तिकरण और नारी उत्थान की बातें छलावा ही लगती हैं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं के अधिकारों से संबंधित सूचकांक भी भारत में लैंगिक असमानता के उच्च स्तर को दर्शाते हैं। मानव संसाधन विकास (एचडीआर) 2014 की रिपोर्ट के अनुसार "लैंगिक विकास सूचकांक" में भारत का स्थान 132वाँ था, वहीं श्रीलंका, चीन और बांग्लादेश जैसे देश क्रमशः 66, 88 व 107वें स्थान पर थे। इसी प्रकारथॉम्सन रॉयटर्स फाउंडेशन ने 19 उभरते हुए देशों में एक सर्वेक्षण कराया। इसमें महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए काम करने वाले 370 विशेषज्ञों की राय ली गई। सर्वेक्षण में कनाडा को महिलाओं के लिए सर्वश्रेष्ठ देश बताया गया। वहाँ महिलाओं को समानता हासिल है। उन्हें हिंसा और शोषण से बचाने के पर्याप्त प्रबंध हैं। उनके स्वास्थ्य की बेहतर देखभाल होती है। पहले पाँच पायदान पर क्रमशः कनाडा, जर्मनी, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया और फ्रांस रहे। अमेरिका छठे नंबर पर रहा। सऊदी अरब 18वें और भारत 19वें यानि अंतिम पायदान पर था। सर्वे के मुताबिक, भारत में महिलाओं का दर्जा दौलत और सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है। भारत के 19 देशों की सूची में सबसे अंतिम पायदान पर रहने के लिए कम उम्र में विवाह, दहेज, घरेलू हिंसा और कन्या भ्रूण हत्या जैसे कारणों को गिनाया गया।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा एक बड़ी चुनौती है। आज भी किसी अपराध में सबसे आसान मोहरा महिलाएं ही होती हैं– उनके साथ दुर्व्यवहार, दुष्कर्म व छेड़छाड़ आम बात है। कामवासना और प्रतिशोध के भूखे पुरुष ने कभी महिला को निर्वस्त्र कर सड़क पर दौड़ाया, कभी

उसे बलात्कार का शिकार बनाया, अपनी हवस मिटायी और शारीरिक, मानसिक पीड़ा में तड़पने के लिए छोड़ दिया। जब महिला ने न माना तो उसकी खूबसूरती पर तेजाब का दाग लगा दिया। भ्रूण हत्या से लेकर दहेज हत्या और न जाने कितनी हत्याओं के उदाहरण समाज में रोज सुनने–देखने को मिलते हैं। आँकड़े बताते हैं कि पेशेवर अपराधियों से भी ज्यादा पारिवारिक सदस्य, गली–मुहल्ले, दफ्तर में कुंठित युवक व अधेड़, स्त्री संबंधी अपराधों के सूत्रधार हैं। ऐसे में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि स्त्री जाति कहाँ सुरक्षित है? न माँ के गर्भ में, न घर में, न मित्र परिवारों के बीच। महिलाओं के प्रति समाज कितना हिंसक होता जा रहा है, इसकी झलक राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा हर वर्ष जारी रिपोर्ट में भी देखी जा सकती है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार 2006 से 2010 के बीच महिलाओं के खिलाफ अपराध 29.6 प्रतिशत बढ़ा है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे 2005–06 के अनुसार 15 से 49 वर्ष आयु वर्ग की एक तिहाई महिलाओं ने शारीरिक प्रताड़ना का अनुभव किया है और तकरीबन 10 में एक महिला यौन हिंसा का शिकार हुई है। ये आँकड़े मुँह चिढ़ाते हैं और गंभीर आत्मचिंतन का आह्वान करते हैं।

उपरोक्त स्थितियाँ नारी को जहाँ हर पल संघर्ष करने के लिए मजबूर करती हैं, वहीं इन संघर्षों के बीच ही वह मजबूत भी होकर उभरती है। देश में अनेक उल्लेखनीय महिलाएं हुई हैं जिन्होंने अपने बहुमूल्य योगदान से हमारे समाज और राजनीति पर अमिट छाप छोड़ी है। शिक्षा और आधुनिक जीवन शैली के चलते नारी अब पहले से काफी जागरूक और मुखर हो रही है। वहीं समाज के एक वर्ग को भी अब महसूस होता है कि नारियों के बिना समाज अधूरा है एवं नारी सशक्तिकरण समाज की प्रगतिशीलता का द्योतक है। जनगणना 2011 के आंकड़ों के अनुसार भारत में लिंगानुपात 940 है अर्थात 1000 पुरुषों पर मात्र 940 महिलाएं। इसी प्रकार छः साल तक की आबादी में इस समय 1000 लड़कों के मुकाबले सिर्फ 914 लड़कियाँ ही हैं, जो कि 2001 में 927 थीं। नारी के बिना तो सृष्टि का प्रवाह ही रुक जायेगा। ऐसे मेंलिंगानुपात में बढ़ते फासले का असर देश के कुछ इलाके में दिख भी रहा है, जहाँ लड़कों की शादियाँ तक नहीं हो पा रही हैं और उनके लिए अपने वंश का नामोनिशान तक बचाकर रखना कठिन हो गया है। यह उसी पितृसत्तात्मक मानसिकता का हश्र है, जिस पर लोग गर्व करते रहे हैं। हरियाणा जैसा राज्य अपने घटते लिंगानुपात और बेटियों की निरंतर घटती संख्या के लिए जाना जाता है। तभी तो प्रधानमंत्री मोदी ने यहीं से "बेटी बचाओ–बेटी पढ़ाओ" अभियान की शुरुआत की तो यहीं के बीबीपुर गाँव के सरपंच ने "बेटी बचाओ–सेल्फी बनाओ" अभियान की शुरुआत की, जिसे बाद में प्रधानमंत्री मोदी ने देश भर में अपनाने की अपील की। सेल्फी के बाद बीबीपुर पंचायत ने "डिजिटल इण्डिया विद् लाडो" अभियान की शुरुआत की। दरअसल, बेटियों को बराबरी का हक देने के लिए पंचायत ने फैसला किया कि घर के बाहर नेमप्लेट पर पिता का नहीं, बेटी का नाम होगा। नाम ही नहीं, इन पर बेटियों की ई–मेल आईडी भी लिखी गई है ताकि वे टेक्नॉलॉजी के प्रति सजग हो सकें।

कोई भी स्थिति एक लम्बे समय तक नहीं रहती। वक्त के साथ उनमें तमाम बदलाव आते हैं। यही बात नारी पर भी लागू होती है। जैसे नदी जिधर से निकलती है, अपना रास्ता खुद बना लेती है। वैसे ही नारियाँ जाग जाएँ तो कोई विघ्न–बाधा उनकी राह में आड़े नहीं आ सकती। जरूरत है कि वे खुद की क्षमता को पहचानें और संघर्ष कर आगे बढ़ें। महिलाओं के प्रति परंपरागत भारतीय समाज की सोच बदलने की जरूरत है। अब

उस सोच के खिलाफ लड़ाई खड़ी करने की जरूरत हैं, जहाँ लोग बेटियों को कमतर या उपेक्षा की नजर से देखते हैं। सी.बी.एस.ई. और अन्य बोर्डों द्वारा घोषित 10वीं व 12वीं के नतीजों में प्रायः हर साल लड़कियाँ ही बाजी मार रही हैं। यही नहीं डॉक्टर, इंजीनियर, मैनेजमेंट से लेकर आई.ए.एस. तक की परीक्षा में लड़कियों ने शीर्ष स्थान प्राप्त किए हैं। कई बार महिलाओं की उपलब्धियों को मीडिया और अन्य माध्यमों द्वारा यूँ प्रस्तुत किया जाता है, मानो अब वे उस मुकाम को हासिल कर चुकी हैं जहाँ उन्हें होना चाहिए। यह सच है कि महिलाएं तेजी से आत्मनिर्भर हो रही हैं और राजनीति से लेकर प्रशासन और कॉरपोरेट जगत तक तमाम बड़े पदों पर काबिज हैं, पर अभी भी उनकी संख्या बहुत कम है। 2015 के आँकड़ों के अनुसार, भारतीय संसद के दोनों सदनों में मात्र 12 प्रतिशत महिलाएं हैं, आखिर तभी तो लोकसभा–विधानसभाओं में महिलाओं के लिए एक–तिहाई आरक्षण की माँग की जा रही है। न्यायपालिका में भी महिलाओं का प्रतिनिधित्व बेहद कम है। आजादी के छः दशक बीत जाने के बाद भी अभी तक सुप्रीम कोर्ट में मात्र 6 महिला जज ही पहुँची हैं–एम. फातिमा बीबी, सुजाता वी. मनोहर, रुमा पॉल, ज्ञान सुधा मिश्र,रंजना प्रकाश देसाई और आर. बानूमथि। किसी महिला को सुप्रीम कोर्ट में मुख्य न्यायधीश बनने का सौभाग्य तो अभीतक नहीं मिला है। इसी प्रकार भारत में सिविल सर्विसेज द्वारा हर साल चयनित आईएएस और अन्य सेवाओं की ही बात करें तो अंतिम चयन में महिलाओं की सफलता दर ज्यादा होती है, पर उनकी संख्या बेहद कम होती हैं। वर्ष 2010 से 2012 तक के आँकड़े देखें तो महिलाओं की सफलता दर 14.3, 14.6, और 15.2 प्रतिशत थी, जबकि पुरुषों की सफलता दर मात्र 6.9, 8.0, और 7.1 प्रतिशत थी। यह दर्शाता है कि बेटियों को यदि उचित परिवेश और परवरिश मिले तो उन्हें अपना रास्ता बनाने से कोई नहीं रोक सकता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि बेटियाँ समाज की अमूल्य धरोहर हैं। इन्हें बचाकर–सहेजकर रखिये, नहीं तो सृष्टि का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

शिक्षा और आधुनिक जीवन शैली के चलते महिलाएं अब पहले की अपेक्षा ज्यादा जागरूक और मुखर हो रही हैं। अब वे सवाल–जवाब औरप्रतिरोध करने लगी हैं। संस्कारों को जीने के साथ–साथ अपनी नियति की बागडोर भी सँभालने लगी हैं। महिलाएं नुमाइश की चीज नहीं बल्कि घर–परिवार और जीवन के साथ–साथ राष्ट्र को सँवारने वाली व्यक्तित्व हैं। आज वो जीवन के हर क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। यह कहना कि वे पराया धन होती हैं, उचित नहीं प्रतीत होता। आज के दौर में तो बेटे भी शादियों के बाद अपना अलग घर बसा लेते हैं। वंश पुत्रों से ही चलता है। ऐसी मान्यताओं का अब कोई आधार नहीं। लड़कियाँ अब माता–पिता की सम्पति में हकदार हो चुकी हैं, फिर माता–पिता का उन पर हक क्यों नहीं। आखिरकार बेटियाँ भी तो आगे बढ़कर माता–पिता का नाम रोशन कर रही हैं। पिता की मृत्यु के बात पुत्र को ही अग्नि देने का अधिकार है, जैसी मान्यताएं बदलनी चाहिए। इधर कई लड़कियों ने आगे बढ़कर इस मान्यता के विपरीत श्मशान तक जाकर सारे कार्य बखूबी किये हैं। बेटियों द्वारा पिता की चिता को मुखाग्नि देने के अलावा पत्नी द्वारा पति की चिता को मुखाग्नि देने और बेटी द्वारा पितृ पक्ष में श्राद्ध कर पिता का पिण्डदान करने जैसे कार्य भी बेटियाँ बखूबी कर रही हैं। अब तो ऐसा कोई बिन्दु बचता भी नहीं, जहाँ महिलाएं पुरूषों से पीछे हैं।

जरुरत है इस विषय पर हम गंभीरता से सोचें कि क्या महिलाओं के बिना परिवार–समाज–देश का भविष्य है। उन्हें मात्र बातों में दुर्गा–लक्ष्मी नहीं बनाएं बल्कि

वास्तविकता के धरातल पर खड़े होकर भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व का दर्जा दें। बात–बात पर नारी की अस्मिता से खिलवाड़ समाज और राष्ट्र दोनों के लिए घातक है। वस्तुतः जब तक समाज इस चरित्र से ऊपर नहीं उठेगा, तब तक नारी की स्वतंत्रता अधूरी है। सही मायने में नारी स्वातंत्र्य की सार्थकता तभी पूरी होगी जब उन्हें शारीरिक, मानसिक, वैचारिक और आर्थिक रूप से संपूर्ण आजादी मिलेगी, जहाँ उन्हें कोई प्रताड़ित नहीं करेगा, जहाँ कन्या भ्रूण हत्या नहीं की जाएगी, जहाँ बलात्कार नहीं किया जाएगा, जहाँ दहेज के लोभ में नारी को सरेआम जिन्दा नहीं जलाया जाएगा, जहाँ उसे बेचा नहीं जाएगा। समाज के हर महत्वपूर्ण फैसलों में उनके नजरिए को समझा जाएगा और क्रियान्वित भी किया जायेगा। आखिर हम इस तथ्य की अवहेलना क्यों करते हैं कि आधी आबादी की महत्वपूर्ण समस्याओं को हल किए बिना कोई समाज विकास के लक्ष्यों को हासिल नहीं कर सकता। नारी के अस्तित्व पर ही सृष्टि का अस्तित्व टिका हुआ है। अकेले पुरुष से दुनिया को नहीं चलाया जा सकता। इक्कीसवीं सदी में, जबकि नारी के प्रति विभेद की दीवारें टूटनी चाहिए, शिक्षित समाज द्वारा इस प्रकार का विभेद स्वयं उसकी मानसिकता को कटघरे में खड़ा करता है। हम प्रायः भूल जाते हैं कि जिन बीजों के सहारे सृष्टि का विकास–क्रम अनुवर्त चलता रहता है, यदि उस बीज को प्रस्फुटित ही न होने दें तो सारी सृष्टि ही खतरे में पड़ जाएगी। यह समय है मंथन करने का, विचार करने का कि सृष्टि का अस्तित्व सह–अस्तित्व पर टिका है, न कि किसी एक के अस्तित्व पर।

शिक्षाशास्त्र

बुद्ध का मध्य मार्गी शिक्षा

–डॉ०र ाजेश्वरि सिंह*

बुद्ध के पूर्व भारतीय इतिहास सर्वाधिक अन्धकारमय था। ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत यज्ञों में कर्मकाण्ड तथा आडम्बरों की प्रधानता हो गई। धर्म के नाम पर ठगविद्या और व्यवसाय प्रचलित हो गये। पुरोहिती कपटाचार एवं अन्धविश्वास का बोलबाला था। सर्वहितकारी नैतिकता का अभाव था। इसी समय बौद्धधर्म की उत्पत्ति हुई। बुद्ध झगड़े नहीं, आलोचना नहीं किये और मूर्तिपूजा को हतोत्साहित किये। चूँकि उन्होंने हिन्दू धर्म का खुला खण्डन न कर अपनी बात का मण्डन किया। इसलिए ब्राह्मणों की सहानुभूति एवं सहयोग भी प्राप्त किये। बुद्ध की विचारधारा कर्मकाण्ड एवं बलिदानों के सर्वथा विपरीत रहीं। बुद्ध की सहानुभूति उपनिषदों की शिक्षा के प्रति प्रगाढ़ थी। इलिजाबेथ ए0रीड ने ठीक ही कहा है "Buddhism was a reaction against Brahmanism even while retaining much of its faith."[1] डॉ0 राधाकृष्णन् के अनुसार ''बौध धर्म नया धर्म नहीं है, अपितु हिन्दू धर्म का ही परिवर्तित रूप है।''[2] स्वामी विवेकानन्द ने बौद्ध धर्मावलम्बी न होते हुए भी बुद्ध के बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म की निरूपति घोषित करते हुए उच्च स्वर में कहा कि, ''यह शाक्यमुनि की गरिमा है कि उनका हृदय इतना विशाल था कि उन्होंने अप्राप्य वेदों से सत्यों को निकालकर उनको समस्त संसार में विकीर्ण कर दिया।''[3]

बुद्ध का संसार के बारे में दो दृष्टिकोण थे। अस्तित्वादी मानते थे कि ईश्वर है (Being)। उन्होंने अपरिवर्तनीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। नास्तिवादी (Nihilist) मानते थे कि ईश्वर नहीं है (Not Being)।

अस्तित्वादी मानते थे कि ब्रह्म का अस्तित्व अकारण है। ये सहज ज्ञान (Intation) को मानते थे। इनका मानना था कि ब्रह्म शाश्वत है। नास्तिवादियों का कहना था कि ईश्वर है ही नहीं। बुद्ध ने मध्यम मार्ग अर्थात जनसाधारण को मध्यम मार्ग की शिक्षा अपाने को कहा। बुद्ध के अनुसार अन्तिम दो कोटियाँ हैं। प्रथम ''कामेषु काम सुखल्लिकानु योग अर्थात् विषयों के उपभोग में लीन होकर रहना और द्वितीय–'अत्त किल मथानु योग' अर्थात कठिन साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लांत करके नियुक्त रहना।[4] कह अपनाया। उन्होंने है (Being) और नहीं है (Not Being) के बीच सम्भवन (becoming) की बात की। ईश्वर के नियम है, पर परिवर्तनीय है। उत्पत्ति कारणाश्रित है, बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद की बात है। बुद्ध मानते थे–अस्मिन् सति इदं भवति (इसके होने पर यह होता है) एक के विनाश के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है। इस नियम को बुद्ध ने प्रतीत्य–समुत्पाद नाम दिया है। हरेक उत्पाद का कोई प्रत्यय है। प्रत्यय और हेतु (कारण) समानार्थक प्रतीत होते है, परन्तु बुद्ध इसका अर्थ दूसरे दार्शनिकों से थोड़ा भिन्न मानते हैं। उनका प्रत्यय से उत्पाद का तात्पर्य बीतने से उत्पाद अर्थात् एक के नष्ट

*बसुन्धरा इन्कलेव, फेज–।।, ब्लाक नं 27, फ्लैट नं0 203, गौतम विहार विस्तार आवासीय योजना, तारामण्डल गोरखपुर (उ0प्र0)

हो जाने के बाद दूसरे की उत्पत्ति से है। बुद्ध का प्रतीत्य समुत्पाद कार्य कारण नियम को अविच्छिन्न नहीं विछिन्न प्रवाह (discontinuous continuity) मानता है। यह बुद्ध के सारे दर्शन का आधार है। यह उनके दर्शन को समझने की कुंजी है। उन्होंने विवेक सम्मत राह निकाला। अतः बौद्ध धर्म न तो शाश्वतता पर जोर देकर अन्धविश्वास पनपने दिया और न ही नास्तिवादी बन उपभोक्तावादी बनने दिया बल्कि कर्मवादी होने पर बल दिया। बुद्ध ने स्पष्ट कहा कि, ''यदि तुम मत बना लो कि न कहीं कोई सृष्टिकर्ता है और न कहीं कोई हेतु प्रत्यय है तो फिर जीवन में जो साधना की जाती है, जो साधनों तथा साध्य का मेल बिठाने का प्रयास किया जाता है उस सबका कोई प्रयोजन नहीं होगा।''[5] इसीलिए मेरा कहना है कि जो चीजें अस्तित्व में आती हैं वे सब सहेतुक हैं। न वे ईश्वर द्वारा निर्मित होती है, न 'ब्रह्म द्वारा' न ''आत्मा द्वारा', और न बिना हेतु यूँ ही अस्तित्व में आती है। हमारे अपने कर्म ही हैं जो अच्छे और बुरे परिणामों को जन्म् देते है। सारा संसार प्रतीत्य–समुत्पाद के नियम से बंधा है और जितने भी हेतु हैं वे अचैतसिक नहीं है। जिस सोने से सोने का प्याला निर्मित होता है, वह आदि से अन्त वह सोना ही सोना होता है।[6]

''इसीलिए हम ईश्वर और उससे प्रार्थना करने सम्बन्धी मिथ्या–धारणाओं का त्याग करें, हम व्यर्थ ही सूक्ष्म उड़ानों में न उलझे रहे, हम आत्मा और आत्मार्थ से मुक्त हों क्योंकि सभी चीजें सहेतुक हैं। इसलिए हम कुशल कर्म करे ताकि उनका परिणाम भी कुशल ही हो।''[7]

बुद्ध ने मध्यम मार्ग (Middle-path) व्यवहारितकता, स्वीकार्यता एवं तत्कालीन प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर अपनाया। उनका अनुभव था कि उनके उन्तीस वर्ष के राजसी भोग विलास एवं वैभवपूर्ण जीवन में शान्ति नहीं मिली तो दूरी तरफ तप करते सुखकर कांटा हो जाने चलने–फिरने में असमर्थ हो जाने पर भी ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। इसलिए उन्होंने बुद्धत्व हेतु दोनों के बीच का मार्ग अपनाया। बुद्ध जिस समय थे पुरोहिती आडम्बर जोर पर थी, परन्तु श्रमण प्रवृतित भी थी। बुद्ध ने वैदिक परम्परा की कटु आलोचना नहीं की और इसीलिए ब्राह्मणों का उग्र विरोध नहीं झेलना पड़ा। अन्यथा इतिहास साक्षी है, ब्रूनों को यह कहने के लिए कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है, असहिष्णु धर्मान्ध लोगों ने उसे जिन्दा जला दिया था। यद्यपि कि चर्च ने चार सौ वर्षो बाद सामूहिक रूप से माफी मांगा कि ब्रूनों सही था, चर्च गलत था। कोपरनिकस घोर रूप से अपमानित किया गया था। बुद्ध बच ही नहीं गये उन्हें प्रभावित कर प्रब्रजित भी किये। अति अहिंसावाद के कारण जैन धर्म की अग्राह्यता को परिलक्ष्य कर बुद्ध ने कतिपय शिथिलता बरती। मांसाहार की आपवादिक स्थिति में अनुमति दी जब भिक्षा के रूप में कोई दे दे। परन्तु कतिपय पशुओं के मांस को उन्होंने सर्वथा, वर्जित घोषित किया। सुप्रिया द्वारा कहीं से मांस एक भिक्षु की याचना को पूरा करने हेतु न पाने पर उसने अपने जंघे का मांस दे दिया था। बुद्ध ने कहा, ''भिक्षुओं! जगत में श्रद्धालु हैं। प्रसन्न हैं। अपने मांस तक को दे देते हैं।'' उन्होंने कहा, भिक्षुओं मनुष्य का मांस नहीं खाना चाहिए। उन्होंने पुनः निषेध किया ''भिक्षुओं! हाथी, अश्व, स्वान, सर्प, सिंह, बाघ, चीता अर्थात् द्वीपी, भालू, तरक्ष अर्थात् लकड़बग्घा का मांस नहीं खाना चाहिए।'' बुद्ध ने मांस खाने का समर्थन नहीं किया बल्कि यदि कोई नहीं मानता है और उतारू हो खाना ही चाहता है तो बिना अपने हिंसा किये कहीं से मिल जाने पर खा सकता है। यह नियम नहीं अपवाद है।

बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों को भी अति के रूप में नहीं देखा। उनका नियम था कि कोई पुरूष भिक्षु महिला बौद्ध विहार में नहीं जायेगा, परन्तु महाप्रजापति गौतमी जब मीबार पड़ी तब बुद्ध स्वयं सेवा हेतु गये और नियम में शिथिलता की अनुमति दी। भिक्षु पहले सिले वस्त्र नहीं पहनते थे। जीवक को काशी नरेश ने एक बहुमूल्य

कम्बल स्वस्थ होने के उपलक्ष्य में भेजा। जीवक ने उसे बुद्ध को अर्पित किया। उन्होंने स्वीकार करते हुए भिक्षुसंघ को आमन्त्रित कर कहा– भिक्षुओं! चीवर 6 प्रकार के हांगें। उनकी मैं अनुज्ञा देता हूँ। वे होगें क्षौम, कार्पाशिक, कौशेय, कमल, सेन, तथा भंग।'' शिवि देश के राजा ने जब जीवक को उत्तम दुशाला भेजा तो उसने उसे बुद्ध को अर्पित किया। बुद्ध ने स्वीकार करते हुए भिक्षु संघ को सम्बोधित किया– भिक्षुओं! ग्रहपति चीवर की अनुज्ञा देता हूँ। इच्छानुसार पासुकालिक अथवा गृहपति चीवर धारण करें।'' बुद्ध महान समन्वयवादी थे। वे तर्क एवं विवेक से संशोधनीय थे और यही मध्यम मार्ग उनकी सफलता का रहस्य था।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बुद्ध ने शिक्षा के क्षेत्र में मध्यम मार्गी शिक्षा का जो स्वरूप समाज के सामने रखा। वह अद्वितीय प्रकार की शिक्षा का मार्ग था। इससे सर्वसमाज की कल्याण एवं विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। उनसे पूर्व की शिक्षा एक वर्ग विशेष वर्ग के लिए एवं आडम्बरपूर्ण थी। आज आवश्यकता है कि बुद्ध के मध्य मार्गी शिक्षा द्वारा वर्तमान शिक्षा प्रणाली को और प्रभावशाली बनाया जाय।

सन्दर्भ

1. प्रिमीटिव बुद्धिज्म, पृ0 25, 183, 198, 254
2. राधाकृष्णन्–इंण्डियन फिलासफी, Vol.1.P360
3. Gough: "Philosophy of the Upanishads". P.P.187
4. महावग्ग, 1–6–42
5. डॉ0 अम्बेडकर, भगवान बुद्ध और उनका धम्म, पृ0 117
6. वही,
7. वहीं.

शिक्षाशास्त्र

नवीन चयनित विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि का आयु के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन

–डॉ० सतेशस ारस्वत*

प्रस्तुत अध्ययन में नवीन चयनित विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षकों में अपने व्यवसाय के प्रति संतुष्टि का मापन व मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। शोधकर्ता ने यह जानने का प्रयास किया है कि आयु के आधार पर लिंग (पुरुष या महिला) तथा शैक्षिक योग्यता शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि से किस प्रकार सम्बन्धित है। शिक्षकों में अपने कार्यकलापों में मूल्यांकन व सुधारात्मक प्रवृति के विकास की महती आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध में सामान्य सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है शोध कार्य में स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि का प्रयोग किया गया है। शोधकर्ती ने समस्या के विशिष्ट स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए डॉ0 बी0सी0 मुथैय्या द्वारा निर्मित मानकीकृत ''व्यायसायिक संतुष्टि मापनी (Job Satisfaction (Scale) का प्रयोग किया है।

प्रस्तावना

वर्तमान में प्राथमिक शिक्षकों के रूप में नियुक्त होने वाले उच्चतर योग्यताधारी व्यक्तियों में अवसर मिलते ही प्राथमिक शिक्षा को छोड़कर अन्यत्र उच्चतर पदों पर चले जाने की प्रवृत्ति दृष्टिगत हाक रही है। इसकी पृष्ठभूमि में मुख्यधारा से दो कारण हो सकते है व्यवसाय में असंतुष्टि तथा प्रतिष्ठा विशिष्ठा। विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक माध्यमिक स्तर का बी0एड0 प्रशिक्षण प्राप्त कर प्राथमिक शिक्षा में आते है फलतः सम्भव है कि वे निम्नतर स्तर पर कार्य करने के कारण अपने व्यवसाय से असंतुष्ट हो। यह भी हो सकता है कि कुछ लोग प्राथमिक शिक्षक के रूप में कार्य करके अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा में न्यूवता का अनुभव करते हैं।

अतः शोधकर्ती को यह अनुभव हुआ, कि विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि के अध्ययन की आवश्यकता है। प्रायः देखा जाता है कि अल्प आयु वर्ग के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों में प्राथमिक शिक्षा को छोड़ने की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि सरकारी सेवा हेतु निहित आयु के अन्तर्गत आते है सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन करने पर शोधकर्ती को इस विषय में किसी अन्य अनुसंधान की कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई। अतः शोधकर्ती ने आयु के आधार पर विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों को व्यावसायिक संतुष्टि का अध्ययन करने का निश्चय किया।

प्रमुख शब्दों का परिभाषीकरण–

आयु वर्ग–

प्रस्तुत अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से शिक्षकों को आयु को आधार पर दो वर्गो में विभाजित किया गया है।

*असि. प्रोफेसर, भगवती कॉलेज ऑफ एजूकेशन मेरठ (उ0प्र0)

1. 30 वर्ष से कम
2. 30 वर्ष तथा उससे अधिक।

सामान्य योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक–

वे विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक जो बी0एड0 के साथ–साथ स्नातक एवं परास्नातक स्तर पर परम्परागत उपाधि धारक है।

विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक :–

वे विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक जो एम.एड., एम. फिल, पी–एच.डी., नेट इत्यादि उपाधि धारक है।

विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक–

विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षा के वे प्रशिक्षित स्नातक है जिन्हें सरकार ने 6 माह का प्रशिक्षण प्रदान कर प्राथमिक शिक्षक के रूप में नियुक्त किया है।

व्यावसायिक संतुष्टि :–

व्यावसायिक संतुष्टि व्यक्ति की अपनी मनोवैज्ञानिक, पर्यावरणीय तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रति सकारात्मक अनुभव है।

अध्ययन के उद्देश्य–

1. सभी आयु वर्गो के महिला व पुरुष बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि का अध्ययन।
2. 30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन।
3. 30 वर्ष से कम आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन।
4. 30 वर्ष से अधिक आयं के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन।
5. सामान्य योग्यताधारी एवं विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन।

अध्ययन की परिकल्पनायें–

1. सभी आयु वर्गो के महिला एवं पुरुष बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थ अन्तर नही है।
2. 30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।
3. 30 वर्ष से कम आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।
4. 30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थ अन्तर नहीं है।
5. सामान्यतः योग्यताधारी एवं विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नही है।

सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन–

एजुकेशन स्टेडीज 32 (4) 2012– हयूरेन बी0एल0 न्यूयार्क शहर के शिक्षकों पर व्यवसायिक संतुष्टि तथा योग्यता में सम्बन्ध का अध्ययन किया अध्ययन का निम्न निष्कर्ष प्राप्त हुआ–

प्राथमिक स्तर पर शिक्षक सबसे अधिक असंतुष्ट (52%) पाये गये जोकि उच्च योग्यता रखते थे।

सांख्यिकीय विश्लेषण एवं व्याख्या

1. प्रथम परिकल्पना 30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

सभी आयु वर्गो के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की व्यवसायिक संतुष्टि

क्र.सं.	समूह का नाम	समूह संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान
1	पुरूष	45	33	3.21	2.75
2	महिला	45	35	3.68	2.75

उपुर्यक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि

महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों के व्यवसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 35 तथा पुरुष विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 33 है।

इन दोनों समूहो के मध्य t का गणात्मक मान 2.75 है तथा df=88 पर t का तालिका मान 0.05 पर 1.99 तथा 0.01 पर 2.63 है। अतः t का गणनात्मक मान सार्थकता के किसी भी स्तर पर सार्थक नहीं है। अतः हमारी शून्य परिकल्पना निरस्त होती है दोनों समूहो के मध्य 0.05 व 0.01 पर सार्थक अन्तर है।

इस प्रकार महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों तथा पुरुष विशिष्ट शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर है। अतः शोध से यह जानकारी प्राप्त हुई कि महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक, पुरुष बी.टी.सी. शिक्षकों की अपेक्षा अधिक संतुष्ट है।

द्वितीय परिकल्पना 30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 2

30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि

क्र.सं.	समूह का नाम	समूह की आयु	समूह संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान
1	पुरुष व महिला	30 वर्ष से कम	45	35.5	4.17	2.73
2	पुरुष व महिला	30 वर्ष से अधिक	45	38.0	4.51	

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 30 वर्ष से कम आयु के शिक्षकों के व्यवसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 35.5 है। 30 वर्ष से अधिक आयु के शिक्षकों के व्यावसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 38 है इन दोनों समूहों के मध्य t का गणनात्मक मान 2.73 है तथा df=88 पर t का तालिका मान 0.05 पर 1.99 तथा 2.63 है अतः दोनों समूहों के मध्य 0.01 व 0.05 पर सार्थक अन्तर है।

इससे स्पष्ट है कि 30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर है। अतः हमारी शून्य परिकल्पना निरस्त होती है 30 वर्ष से अधिक आयु वाले विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक 30 वर्ष से कम आयु वाले विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों से अधिक संतुष्ट है।

तृतीय परिकल्पना वर्ष से कम आयु के पुरुष विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

चतुर्थ परिकल्पना 30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 3

30 वर्ष से कम आयु के पुरुष व महिला विशिष्ट बी. टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि

क्र.सं.	समूह का नाम	समूह संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान
1	पुरूष	21	32.5	3.92	2.563
2	महिला	24	35.5		

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि 30 वर्ष से कम आयु आयु के पुरुष विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षण के व्यवसायिक संतुष्टि प्राप्तांको का मध्यमान 32.5 है। इन दोनों समूहों के मध्य t का गणनात्मक मान 2.563 है तथा df=43 पर t का तालिका मान 0.05 पर 2.02 तथा 0.01 2.71 है। अतः 0.05 पर दोनों समूहों के मध्य सार्थक अन्तर है परन्तु 0.01 पर दोनों समूहों के मध्य सार्थक अन्तर नही है। हम जानते है कि किसी एक स्तर पर शून्य परिकल्पना निरस्त होने पर शून्य परिकल्पना निरस्त होने पर शून्य निरस्त मानी जाती है। अतः दोनों समूहों के मध्य सार्थक अन्तर है स्पष्ट है कि 30 वर्ष से कम आयु के पुरुष व महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर है महिला शिक्षक पुरुष शिक्षक की अपेक्षा अधिक संतुष्ट है।

चतुर्थ परिकल्पना 30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 4

30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष व महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि

क्र.सं.	समूह का नाम	समूह संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान
1	पुरूष	22	34.5	2.55	1.972
2	महिला	23	36.0		

उपर्युक्त तालिका के विवेचन से स्पष्ट है कि 30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष बी.टी.सी. शिक्षकों के व्यवसायिक संतुष्टि प्राप्तांकों का मध्यमान 34.5 है। 30 वर्ष से अधिक आयु की महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 36 है इन दोनों समूहों के मध्य t का गणनात्मक मान 1. 972 है तथा df=43 पर t का तालिका मान 0.05 पर 2. 02 तथा 0.01 पर 2.71 है। अतः 0.05 व 0.01 स्तरों पर दोनों समूहों के मध्य सार्थक अन्तर नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि 30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष व महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर नही है।

पंचम परिकल्पना ''सामान्यतः योग्यताधारी एवं विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में कोई सार्थक अन्तर नही है''।

तालिका 5

सामान्य योग्यताधारी एवं विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यासायिक संतुष्टि

क्र.सं.	समूह का नाम	समूह की योग्यता	समूह संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	't' मान
1	पुरूष व महिला	सामान्य योग्यता	45	35.50	8.00	310
2	पुरूष व महिला	उच्च विशिष्ट योग्यता	45	31.00	5.54	

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सामान्य योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान 35.50 है। विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि प्राप्ताकों का मध्यमान है।

इन दोनों के मध्य t का गणनात्मक मान 3.10 है तथा df=88 पर t का तालिका मान 0.05 स्तर पर 1.99 तथा 0.01 स्तर पर 2.63 है। अतः दोनों समूहों के मध्य 0. 01 व 0.05 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

इससे स्पष्ट होता है कि सामान्य योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक, उच्च/विशिष्ट योग्यताधारी शिक्षकों से अपने व्यवसाय के प्रति अधिक संतुष्ट है।

अध्ययन के निष्कर्ष–

अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किये–

आयुवर्ग के आधार पर विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में अन्तर पाया गया सभी आयु वर्गो के विशिष्ट बी.टी.सी. महिला एवं पुरुष शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि की तुलना करने पर पाया कि पुरुष विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की अपेक्षा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक अपने व्यवसाय से अधिक संतुष्ट है।

30 वर्ष से कम तथा 30 वर्ष से अधिक आयु के विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि का अध्ययन करने पर पाया कि 30 वर्ष से अधिक आयु कि विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक, 30 वर्ष से कम वाले विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों से अधिक संतुष्ट पाये गये।

30 वर्ष से कम आयु के पुरुष व महिला विशिष्ट बी. टी.सी. शिक्षकों की व्यावसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर पाया गया। महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक, पुरुष विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की अपेक्षा अपने व्यवसाय से अधिक संतुष्ट पायी गयी।

30 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष तथा महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर नही पाया गया। दोनों वर्गो की व्यवसायिक संतुष्टि अच्छे स्तर की पायी गयी।

सामान्य योग्यताधारी व विशिष्ट/उच्च योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि में सार्थक अन्तर पाया गया। सामान्य योग्यताधारी विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों से अपने व्यवसाय के प्रति संतुष्ट पाये गये।

अध्ययन का शैक्षिक निहितार्थ :–

शिक्षक सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया की धूरी है समस्त शैक्षिक कार्यक्रमों के संचालन में उसकी महती भूमिका है। वर्तमान में समय में समाज में शिक्षकों की स्थिति में गिरावट आयी है जिसके कारण शिक्षा की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है।

स्वतंत्र भारत में शिक्षक को समाज एवं राज्य द्वारा वेतनभोगी कर्मचारी एवं सेवक समझा जाता है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा शनैः शनैः धूमिल होती जा रही है इसी क्रम में विशिष्ट बी.टी.सी. प्रशिक्षण प्राप्त कर प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के रूप में नियुक्त हो रहे शिक्षक अवसर मिलते ही उच्चतर पदों पर नियुक्त होकर प्राथमिक शिक्षा से पृथक हो रहं है। अपेक्षाकृत कम आयु के शिक्षकों में प्राथमिक शिक्षा से पृथक होने की प्रवृति अधिक पायी जाती है।

अतः शोधकर्ती ने आयु वर्ग के आधार पर विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों की व्यवसायिक संतुष्टि का अध्ययन किया है।

अध्ययन के आधार पर शोधकर्ती ने पाया कि 30 वर्ष से कम आयु वर्ग के महिला शिक्षक पुरुषों की अपेक्षा अधिक संतुष्ट पायी गयी। प्राथमिक विद्यालयों में आवागमन की सुविधायें, जटिल कार्य दर्शायें, बढ़ते हुए शिक्षणोत्तर दायित्व जैसे–जनगणना, मतगणना, प्रतिष्ठा को साथ जोड़ना, पल्स पोलियों अभियान, पुरुष प्रधान समाज, सामाजिक दायित्य, पारिवारिक दायित्व आदि वे महत्त्वपूर्ण कारक है, जिसके कारण पुरुषों का व्यावसायिक संतुष्टि स्तर महिलाओं की अपेक्षा निम्न है।

इसके अतिरिक्त विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों के समक्ष भविष्य में उन्नति के अवसर भी पर्याप्त नहीं है। अतः शोधकर्ती विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों के व्यासायिक संतुष्टि को उच्चतर स्तर तक ले जाने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत कर रही है–

1. विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों को प्रोन्नति के अच्छे अवसर उपलब्ध कराये जाये उन्हें योग्यता व अनुभव के आधार पर उपजिला बेसिक शिक्षा अधिकारी, सहायक बेसिक शिक्षा अधिकारी तथा बेसिक शिक्षा अधिकारी के पदों पर प्रान्नति प्रदान की जायें।
2. प्राथमिक शिक्षकों को शिक्षणोत्तर दायित्वों से मुक्त रखा जाये ताकि वे शिक्षण कार्य पर पूरी तरह ध्यान दे सके।
3. पुरुष शिक्षकों को आवागमन की सुविधा की दृष्टि से यथासम्भव उनके निवास के विकास खण्ड में नियुक्त किया जायें।
4. शिक्षकों की दी जाने वाली विभिन्न सुविधाओं कों सरल किया जाये।
5. विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों को योग्यतानुसार माध्यमिक शिक्षा में नियुक्त किया जाये।
6. प्राथमिक विद्यालयों में संचालित विभिन्न योजनाओं के पर्यवेक्षण हेतु पृथक नियुक्त किये जाये जिससे शिक्षक अपना पूरा समय शिक्षण कार्य में लगा सकें।
7. प्राथमिक शिक्षा में महिला विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों का आरक्षण प्रतिशत ओर बढ़ाया जाये।
8. विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षकों के लिये न्यूनतम आयु 30 वर्ष कर दी जाये।

एक ओर जहां इन विशिष्ट शिक्षकों की कार्यदशाओं व सुविधाओं में सुधार हेतु सरकार तथा समाज द्वारा हर सम्भव प्रयास करने की आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर

शिक्षकों द्वारा सामाजिक चकाचौंध व भौतिकता से सुरक्षित दूरी बना बनाये रखना आवश्यक है। प्राचीन भारतीय साहित्य में पदे–पदे संतोष को धारण करने का आहवान किया गया है महाभारत में वेदव्यास जी ने लिखा है–

सन्दर्भ

Kolte, N.V. (1987). Job satisfaction of primary school teachers : A test of the generality of two factor theory, Hyderabad : National institute of rural development.

पुस्तकें एवं शोध/पत्रिकायें

Asthana, V. and Asthana, Shweta (2005) Measurement and evaluation in psychology and education, Agra : Vinod pustak mandir.

Best, J.W. Kahn, J.V. (2004), Research in education, N-Delhi : Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

Buch, M.B. (1973). A survey of research in education, Baroda : CASE.

Buch, M.B. (1979). Second survey of research in education, Baroda: Society for education research and development.

Buch, M.B. (1993), Fifth survey of education research, New Delhi: NCERT.

Sharma, R.A. (1995). Fundamentals of educational researcs, Meerut: International publishing house.

आर0 एस0 (1998), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर

सिंह, एन पी0 (2003) शिक्षा के दार्शनिक आधार, मेरठः आर0 लाल बुक डिपों

वर्मा एस0 बी0 (1996), बृहत विश्व सूक्ति कोश, दिल्लीः प्रभात प्रकाशन

शिक्षाशास्त्र

A Comparative Study of The Attitude Towards Conventional Instructional And Adjunct Auto- Instructional Materials In Civics At Junior High School Level.

-Dr. Anita Singh*

Education derived from “Latin” word "Educatum” meaning the act of teaching and training holds a different value for Indian Educational thinkers. For Rig Veda it is a tool for 'self reliance and selflessness', for Upanishads it leads to “Salvation” where as for Panini it is a 'training imparted by nature'. However the modern exponent of Vedanta, Swami Vivekananda perceives education as an instrument helpful in 'man- making'. There by Indian thinkers have used education as self disciplining.

Besides all these definitions of education it can be further said that education can be 'Formal' and 'Informal'. An education which is incidental important and natural but not deliberately planned is termed as 'Informal Education'. However 'Formal Education' is deliberately planned systematic instruction of the young in a selected environment.

Formal Education helps in the process of growth, preparation of young for the responsibilities, discipline of mind and recognizing and reconstructing human life. Thus at every stage of life formal education is required. However formal education in India has been broadly classified in the following four stages.

(1) Primary Level of Education.
(2) Junior High School Level of Education.
(3) Secondary Level of Education.
(4) University Level of Education.

Of all these four levels of Formal Education the second level i.e. the Junior High School Level seems to relatively most important as this is an adolescent stage where students are in process of developing their physical and mental faculties and also start discovering of new and useful knowledge. At this level of Formal Education fundamental tools of education begin to work for a broader goal of education. Hence, emphasis on Formal Education at Junior High School level seems a justified concern of researchers in education.

Formal Education at Junior High School Level covers subjects like Hindi, English, Mathematics, Science, Social Studies (Geography, History and Civics), Home Science and Art keeping in view meeting of certain social values as building of good and ideal citizens, thereby attaching special importance to social studies in general and Civics in particular.

*Assistant Professor, Digvijay Nath L.T. Training College, Gorakhpur (U.P.)

On the use of text books as teaching aid at Junior High School Level has been a subject of debate. Since the students are of adolescent age they prefer to learn by doing instead of story listening. Thus there was need of a book for the subject to be so designed, that it meets the psychological requirements of adolescence and make the students aware of the problems in Civic life.

At present time the aims of teaching of Civics being unclear coupled with defective curriculum, inadequate aids, defective teaching methods, lack of proper arrangements and goods teachers and defective examination system pushed the researcher in a problem related with design and development of a suitable innovative text book using Educational Technology. On account of its advantage in presentation of Knowledge, Transmission of knowledge and Advancement of knowledge. Educational Technology has been used effectively in designing of new text book of the different approaches of Educational Technology like Hardware Approach, Software Approach and System Analysis. Linear programming of Software Approach has been used in the preparation of the Text-book. Not only linear programming but Adjunct Auto-instructional material due to its superiority over other systems as it uses concept of 'sub ordinate to and in support of' has been used in combination.

Adjunct Auto-instructional material being based on the psychological principle of problem solving and generation of appropriate situation of learning along with remediation would prove better and effective than the Conventional Text-book has been the assumption behind this effort. Thus this approach has been used to design a new text-book. A review of researchers completed in this area revealed that various types of programmes teach as good as teachers or sometimes even better. There seems to be lack of evidence as to how a combination of the text-book with a programme teaches as compared to a Conventional Text-book at the Junior High School level in formal system of education. Thus it was observed that no research work was done in any subject using semi- programmes with a view in conformity with Pressey that only difficult areas should be programmed and no such work of semi programming undertaken in India. It was felt by the researcher to check the attitude of students towards the two different types of reading materials. Thus the present research problem was worked upon by the researcher.

The Research Problem-

A Comparative Study Of The Attitude Towards Conventional Instructional And Adjunct Auto-Instructional Material In Civics At Junior High School Level.

The important terms used in the title of the research problem have been defined for clarity.

(i) Conventional Instructional Material-

This term stands for the text-book of Civics which is prescribed by the U.P. Government for the students of Class VIII under the Junior High School System of Education in U.P.

(ii) Adjunct Auto-instructional Material-

This term stands for the Adjunct Auto-instructional programme developed by the researcher herself. This material was developed on the principles of programming recommended by S.L.Pressy and referred by Dececco (1977 p.388).

(iii) Attitude -

This term stands for a pre disposition or a tendency to respond positively or negatively towards a certain idea, object, person or situation.

Objective Of The Study:-

To compare the attitude of these two groups of students exposed to the two different types of reading materials in Civics at Junior High School Level.

Assumption:-

It was assumed that Linear programmes would suit to a majority of students because there are the largest number of average level students in a class according to the established rule of normal

distribution.

Secondly it was also assumed that only linear prorammes would be most befitting to be incorporated in a Conventional text to transform it into Adjunct Auto- instructional material.

Hypothesis :

In order to achieve the objective hypothesis was framed which was converted into the following null form in order to apply suitable statistical tests on it.

There is no significant difference between mean attitude scores of the Control (Conventional Text-book) Group and the Experimental (Adjunct Auto- instructional Text-book) Group of Junior High School student in Civics at the post- test stage.

The Research Design :

To conduct this experimental study a pre-test-post- test equivalent groups design has been employed. The design is diagrammatically described below-

The pre-test - post- test equivalent groups design-

RO_1XO_2

RO_3CO_4

Where,

X gain	=	O_2-O_1
C gain	=	O_4 - O_3
O_1O_3	=	pre-test
O_2O_4	=	post- test

(Best 1983, p.70)

In any research work monitoring of the gains by various groups is evaluated. For evaluation of the work we need suitable sample which is selected from its population.

The Sample :

In the present work all the four hundred students of Class VIII of the M.P.Inter College, Gorakhpur during the Session 1999-2000 were taken as a representative sample of the population of VIII Class students studying Civics in Junior High School of U.P.

From these a random sample of fifty students was taken and they were randomly put into two equivalent groups of twenty five each.

Group one was known as Conventional Text-book or Control Group while group two the Adjunct Auto- instructional Text-book or Experimental Group in this study.

The Tools :

In order to collect date for this study two types of tools were required.

(i) Adjunct Auto-Instructional Text-book.

(ii) Attitude Scale

The first tools was Adjunct Auto-Instructional Text-book that included four programmes in it. This tool or text was constructed by the researcher herself keeping is mind Pressey's argument that Conventional Instructional Material should carry main burden of instruction and programmed material should take care of potentionally difficult portions.

The Researcher has adopted the steps described by De Cecco (1988 pp 371-386) for the construction of the programme because these steps are more clear and practical. These are-

Stage I	-	Preparation
Stage II	-	The Actual Writing
Stage III	-	Tryout And Revision

Four Linear Programmes after validation were incorporated in the text- book. For validating of the programmes the procedure adopted is that of Patricia Calander (1990, pp 75-76).The six steps are-

1. Selection of Sample from Target
2. Administration of Pre-test.
3. Administration of Programme.
4. Administration of Post- test.
5. Administration of Attitude Scale.
6. Analysis of criteria of the Programme.

The next step has been to fit in the four programmes in the Civics text- book. The text-book which was to be converted into a new Adjunct Auto-instructional Text is known by the title "gekjk bfrgkl

vkSj ukxfjd “kkL=^^ Its Section 2 is meant for the study of Civics. Only this 2nd section was selected to be converted into the Adjunct Auto-instructional Material in order to study its efficacy and effectiveness as against the Conventional Text- book.

The Attitude Scale was also designed by the researcher herself. In accordance with Edwards postulate that the statements representing the various aspects of the psychological object having fairly equal both the positive and negative aspects of the attitude should be used and the fourteen informal criteria, Twenty six statements were designed by the researcher. This preliminary draft was tried on forty students of Civics at Junior High School level.

From these items, to select the desired number of items. The researcher used Likert method of determining the difference between the means of the high and low groups on the individual statements and selecting items from top where statements are arranged is descending order of the mean difference. On this basis twenty four good statements were selected for pupil's Attitude scale.

Collection And Analysis of Data-

After the administration of Attitude scale on both the groups (1) Control (Conventional Text-book) group (2) Experimental (Adjunct Auto-instructional Text-book) group. The Attitude score for each students were obtained. These score were tabulated and analysis. Followed by a logical discussion of the same.

Discussion of Result :

Comparison of attitude of the two groups of students towards their books:-

The objective of the present investigation was to compare the attitude of these two groups of students towards their books who where exposed to the two different types of reading materials in Civics at the Junior High School level. The null hypothesis tested to achieve this objective is being reproduced here: “There is no significant difference between mean attitude scores of the Control (Conventional Text-book) Group and the Experimental (Adjunct Auto-instructional Text-book) Group of Junior High School Students in Civics at the post-test stage”

Table shows the results on the basis of which the said hypothesis could be tested.

Table

Showing Significance of Difference Between Mean Attitude Scores of the Control (Conventional Text-book) Group and the Experimental (Adjunct Auto-instructional Text-book) Group of Junior High School Students in Civics at the Post-test Stage

Groups	N	M	S.D	SE_M	$D=M_1-M_2$	$S.E_{DM}$	't'
Control	25	53.8	15.64	3.128			
					13.88	4.06	3.419**
Experimental	25	67.68	12.97	2.594			

df= 24

* Significant at 0.05 level

* Significant at 0.01 level

Above Table shows the means of the Control Group and the Experimental Group at the post- test stage which were found to be 53.8 and 67.68 respectively. The S.D. for the two groups were 15.64 and 12.97 in that order. Similarly standard error etc. are given in the table. The obtained 't' value of 3.419 with df=24 is significant at 0.01 level. Thus the null hypothesis could be rejected. It could very well be concluded that the two groups differ significantly with respect to their attitudes towards their text-books of Civics.

While comparing the Mean Value of the two groups it could be observed that the Experimental Group possesses a higher mean value than the Control Group. It shows that the Adjunct Auto-instructional Text-books are liked more than the Conventional Text- books. The reason for better acceptability of Adjunct Auto-instructional Text-book may be due to its newness and mode of reading which follows the sequence of Read, Write, Check and Advance. These two factors may have kept the interests of students alive in the subject thereby

prompting better learning on their part as compared to Conventional Text-book group of students.

It has been established beyond any doubt in several studies that students like Adjunct Auto-instructional Text-books better than the Conventional Text-books or even better than the class room teaching by teachers.

Findings-

The Adjunct Auto-instructional Text-book was also found to be more acceptable to its students than the Conventional Text-book to its students as evidence by by significant difference between the Mean Attitude scores of the two groups of students. The higher Mean value could be found for the Adjunct Auto-instruction group in this study that supports this fact.

Reference

1- Best, John.W. (1983) "Research in Education" Delhi: Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

2- Best, John.W. and Kahn, V.J. (1986) "Research in Education", New Delhi : Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

3- Bhatia, B.D. (1974) "The Theory And Principles of Education" Delhi : Mrs. Som Datt Puri, Doaba House, Nai sarak.

4- Bloom, B.S. et al (1956) "Taxonomy of Educational Objectives The Congnitive Domain: Hand work- I." New York: David Mackay Co. Inc.

5- Buch, M.B.(ed) (1991). "Fourth Survey of Research in Education", New Delhi: N.C.E.R.T.

6- Callender, Patricea (1969) "Programmed Learning its Development and Structure", London: Greek and Company Ltd.

7- Dececco, John P. and Crowford, W. (1988) "The Psychology of Learning and Institution", New Delhi: Prentice Hall of India Pvt.Ltd.

8- Kapil, H.K. (1992) "Elements of Statistics in Social Sciences" Agra : Vinod Pusthak Mandir.

9- Sharma, R.A. (1979) "Abhikramit Anudeshan",Meerut: Modern Publisher.

10. Sharma, R.A. (1990) "Educational Technology", Meerut : International Publishing House.

शिक्षाशास्त्र

Tribal Education in India : Challenging Issues

-Dr Bhartendu Mishra*

Education is a very important factor of human resource development and management. After a long period of independence our nation is yet to achieve desired level of education. This is worst in tribal societies. Tribes are the primeval communities that constitute a considerable proportion of national population. Each of the tribal communities has its own cultural identity but in general they are very poor. Educational backwardness lies at the root of their economic, social and political backwardness. The Indian constitution identifies for special consideration certain ethnic minority groups, traditionally referred to as tribes or tribal, as scheduled tribes who constitute around 8.2 percent of total population of the country. According to the census of 2011 total population of STs is 84326240. They have suffered segregation, isolation and underdevelopment due to their having a distinctive social organization and economy. In the post independence period, the constitution of India recognized this population as weaker section based on their social and educational backwardness and the age old social discriminations.

The constitution of India has clearly stated in its preamble that everyone has the right of equality of status and of opportunity. The directive principles of the state policy further stress in Art. 41 the right of work, to educate and to public assistance in certain cases including disablement, In addition to Art. 45 the constitution lays down that free, compulsory and universal primary education should be provided to all children up to 14 years of age.

Art 46 of the constitution of India commits the state to promote educational and economic interests of Sc, St's and weaker section. Even today India is struggling to fight against all kinds of biases of caste, religions, ideology, gender etc. Education can play a significant role to minimising and finally eliminating these differences by proving equality of access to quality education and opportunity. Out of all the children enrolled at primary stage, a very high percentage drops out nearly 160 million children of 6-14 age group, do not get enrolled in school (based on 6th education survey data and available statistics on 5- 14 age group children in India, NCERT (2002) and among those who get enrolled, nearly half dropout before completing the primary education About 10 million children of school going age are not attending elementary schooling even today (Aggarawal, 2002: vol 2) Elementary education is a priority area in the Tribal sub- plans from the fifth five year plan .

Education of ST children is considered important, not only because of the constitutional obligation but also as a crucial input for total development of tribal communities.

*Astt. Prof. Deptt. of Teacher Education S.M.M Town P.G. College Ballia (U.P.)

State with highest proportion of ST	Mizoram	94.5%
State with lowest proportion of ST	GOA	0.04%
UT with highest proportion of ST	Lakshadweep	94.5 %
UT with lowest Proportion of ST	A&N Islands	8.3 %
District with highest proportion of ST	Sarchhip, Mizo.	98.1%
District with lowest proportion of	STHathras U.P	0.01%

The union and state government have spent considerable sums of money for tribal youth's education, but the results are meager. Government reports indicate that there is no scarcity of schools, other facilities or scholarships for the implementation of tribal education schemes. Most tribal youths find these incentives unattractive, however, consequently, the government's dream to assimilate the tribes remains unfulfilled and raises basic questions about the implementation of such policies and strategies. Another important development in the policy towards education of tribal's is the National policy on education, 1986 which specified among other things the following :- (1) Priority will be accorded to opening primary schools in tribal areas (ii) There is need to develop curricula and devise instructional material in tribal language at the initial stages with arrangements for switch over to regional languages, (iii) ST youths will be encouraged to take up teaching in tribal areas (iv) Ashram *schools/* residential schools will be established on a large scale in tribal areas (v) Incentive schemes will be formulated for the ST's keeping in view their special needs and life style. The main cause of the non - implementation of this basic objective of our national policy are well known, viz,(a) financial inadequacy (b) non-availability of a sufficient number of suitable teachers (c) lack of motivation (d) poverty (Aggrawal, 2002)

Literacy percentage in Tribals

Literacy is an important and primary index of educational development. The trend of literacy of tribes in India from 1961 to 2011 is shown in this table, (in percent)

Year	Male	Female	Total
1961	13.83	3.16	0.54
1971	17.63	4.85	11.39
1981	24.52	0.05	16.35
1991	40.65	18.19	29.60
2001	59.17	34.76	47.10
2011	71.70	54.4	63.1

Source- National Commission for Sc's & ST's fifth report & census 2011

The literacy rate among ST boys was 13.83 in 1961 and 71.70 in 2011. ST Girls literacy rate was 3.16 in 1961 and 54.4 is 2011. So there is a significant improvement in ST's literacy.

Enrolment and dropout Ratio in Tribals

Gross Enrolment Ratio (In Percent)

Class	Boys	Girls
Class 1 – 5 (6-10 years)	137.2	136.7
Class 6 – 8 (11-13 years)	90.7	87
Class 9 – 10 (14-15 years)	57.1	49.1
Class 11 – 12 (16-17 years)	32.7	24.8

Source – Statistics of school children, 2010-11

This data shows that the tribal enrolment declines significantly in higher classes. The GER was much satisfactory in class 1 to 5th but dissatisfactory in higher class 11 to 12th.

The dropout rate of ST students (in percent)

Class	Boys	Girls
Class 1 – 5	37.2	33.9
Class 1 – 8	54.7	53.4
Class 1 – 10	70.6	71.3

Source – Statistics of school children, 2010-11

The drop out rate of ST boys and Girls are higher in upper level classes than lower level classes.

Problems of Tribal Education

This review clearly underlines that inspite of

constitutional guarantees and persistent efforts, tribal communities continue to log behind the general population in education. The reasons for this can be categorized as external, internal and socio-economic and psychological. The external constraints are related to problems and difficulties at levels of policy, planning, implementation, and administration, Internal constraints are school system, content, curriculum, medium of instruction, pedagogy, academic supervision, monitoring and other teacher related problems. The third set of problems relates to social, economic and cultural background of tribals and psychological problems of learners.

Poor Health

Poor health is another major hindrance in the promotion and participation of tribal children in education, Contagious diseases like scabies, eye infection, malaria and diarrhoea are common in tribal area, and also affect children's attendance at school. Further some tribal communities are seasonal migrants and this leads to absenteeism among their children and makes it difficult for them to effectively benefit from schooling.

Government programmes for tribal Education

In First five year plan government allocated financial resources for tribal development. In the mid of first plan 43 special multipurpose tribal development projects were created. In 1961-66 the government adopted the strategy of converting areas with more than 66 percent tribal concentration into tribal development Blocks (TBD) In 1969- 74, by the end of 4^{th} five year plan the number of TBS's rose to 504. Additionaly, in 1972 the tribal sub- plan strategy (TSP) was implemented by the ministry of Education and social welfare. TSP was based on two objectives of socio- economic development and protection against exploitation. It was generally implemented in the areas where the ST population was more than 50 percent of total population. The Panchayat extension to scheduled Areas act 1996, has made it mandatory for the states having scheduled areas to make specific provisions for giving wide ranging powers to the tribes on the matters relating to decision- making and development of their community. A centrally - sponsored govt scheme of ashram schools exclusively for ST children from elementary to higher secondary levels was initiated in the 1970's. But the poor quality of education in ashram schools, however, has undermined confidence in education as a vehicle for social mobility.

The Janshala programme is a collaborative effort of the govt of India and five UN Agencies- UNDP, UNICEF, UNESCO, ILO and UNFPA- a community based primary education programmed, aims to make primary education more accessible and effective, especially for girls and children in deprived communities, marginalized groups, SC/ST, minorities children with specific needs.

Suggestions -

Some suggestions for improvement of tribal education are as follows —

Emphasis should be on quality and equity rather than quantity

In order to make education effective and sustainable, building partnership between the community and the government is important.

Environment building is of immense importance in the context of educational **development** among tribal communities.

Skill development, competency building and teachers motivation also need to be strengthened for sustaining educational development. The teacher should be made the centre of educational

transformation, and therefore, must remain the primary facilitator.

Conclusion-

The strides made by our government of tribal education needs proper implementation. Despite the sincere and concerned affects by the government for the overall development of the scheduled tribes, they are still for behind in almost all the standard parameters of developments. If govt will not take some drastic steps for the development of tribal education, the status of education among tribes will be a story of distress, despair and death. Hence the educational status of the scheduled tribes the role of governance in this direction is highly essential. Time has come to think it seriously about tribal education and inclusive growth.

References

1. Aggarwal, D.D. (2002) History and development of Elementary education is India, Vol II Sarup and sons New Delhi.
2. Census of India (2011) – Govt. of India, Ministry of Home Affairs, New Delhi.
3. NCERT (2002) Sixth all India Education survey, New Delhi.
4. Sahu, Kabita Kumari, Challenging issues of Tribal Education in India, IOSR Journal of Economics and Finance.
5. Sujata, K, Education among Scheduled Tribes, Indian Education Report.
6. University news, Vol 52 No. 25, June – 23 – 29 – 2014 New Delhi.
7. University news Vol 57 No. 26, July 01 – 07 2013 New Delhi.

समाजशास्त्र

ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिकी की भूमिका एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

–डॉ०(श्रीमती)कृ ष्णा सिंह*

प्रस्तुत लेख उ0 प्र0 के जनपद आजमगढ़ में स्थित गावों के अध्ययन पर आधारित है, जिसमें प्रौद्योगिकी के प्रभावों से ग्रामीणजनों की जीवनशैली में होने वाले परिवर्तन का वैज्ञानिक विवरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय समाज एक अति प्राचीन समाज है, जो प्राचीनता के साथ जटिल भी है। इस समाज का लगभग 5000 वर्षों तक का इतिहास इतिहासकारों द्वारा लिपिबद्ध किया गया है, जो एक दीर्घकालीन सांस्कृतिक विरासत को प्रकट करता है। इसी बीच भारतीय समाज की मूल परम्परायें पूर्णरूप से विकसित हुई। वैदिक संस्कृति के इसी युग में सामाजिक संगठन की संस्थागत आधारशिलाएं एवं वैचारिक मान्यताएं भी विकसित हुई। भारतीय सामाजिक संरचना में प्रवाहित होने वाली इन आधारशिलाओं एवं वैचारिक मान्यताओं को जीवन की क्रियाविधि के रूप में अपनाने वाले मनुष्यों का समूह जो गिरोह अथवा झुण्ड के रूप में स्थापित था उसे ग्रामीण समूह की संज्ञा दिया गया। इस समूह के स्थापन को याली अथवा सुरक्षित स्थान कहकर पुकारा जाता था। इस संगठन का मुखिया ग्रामीण कहलाता था, जिस पर दो मील के क्षेत्र में रहने वाले परिवारों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व होता था, उसका क्षेत्र ग्राम कहलाता था।

ऋगवेद में ग्राम निर्माण का आधार परिवार को माना गया है, जब कई परिवार गिरोह के रूप में निवास करने लगा तब ग्राम शब्द का उदय निर्धारित किया गया। जिस शब्द का प्रयोग आदिकाल से होता चला आ रहा है।

मनुस्मृति में भी सामाजिक संगठन की इकाइयों को पुर अर्थात ग्राम के अर्थो में प्रयोग किया गया है, जिसका प्रयोग आदिकाल से होता आया है। श्री ए0आर0 देसाई जी ने ग्राम शब्द का प्रयोग समस्त ग्रामीण इकाई के रूप में किया है, उनका मानना है कि ''गांव ग्रामीण समाज को इकाई है, यह वह रंगमंच है जहॉ ग्रमीण जीवन का प्रमुख भाग स्वयं प्रकट होता है और कार्य करता है।'' इस प्रकार से ग्रामीण मानवीय स्थापना का केन्द्र एवं ग्रामीण जीवन की इकाई का नाम ही ग्राम है, जो अपने सीमित जीवन में पूर्ण रूपेण आत्मनिर्भर है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गांवों का उद्भव सामाजिक संरचना में आये उन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से

*एसोसिएट प्रोफेसर, गॉधी स्मारक त्रिवेणी स्नाकोत्तर, महाविद्यालय बरदह, आजमगढ़ (उ0प्र0)

हुआ, जहॉ खानाबदोशी जीवन की पद्धति, जो शिकार, भोजन संकलन तथा अस्थायी कृषि पर आधारित थी, का संक्रमण स्थायी जीवन में हुआ।

मानव इतिहास के आरम्भ से ही गिरोह या झुण्ड या समूह, निश्चित भू–भाग में रहते हुए सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप अपने अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण गांवों को समुदाय की संज्ञा दिया गया। समुदाय की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बोगार्डस ने लिखा ''समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह होता है जो कुछ अंशों में 'हम की भावना' रखता है और एक निदिष्ट क्षेत्र में निवास करता है।'' इस प्रकार ग्राम या गांव एक समुदाय के रूप में अपनी लघुता, विशिष्टता, समरूपता जैसी विशेषताओं से सरल सामाजिक संरचना का रूप लिए भारतीय समाज में विद्यमान है। आज भी देश की कुल जनसंख्या का दो तिहाई से अधिक भाग (2011 की जनगणनानुसा 68.84 प्रतिशत) ग्रामीण समाज में ही निवास करता है। इस समाज में आवासीयजनों का मुख्य व्यवसाय कृषि, प्रकृति से निकटता, स्थायी जीवन धार्मिक विचारों की प्रधानता जैसी गुणवत्ता आज भी प्रभावी है। आज का गांव जिस रूप में दिखाई देता है वह एक परिवर्तनशील प्रक्रिया का परिणाम है। ग्रामीण संगठन में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर गति से चलती रहती है।

वर्तमान युग में प्रौद्योगिक उन्नति ने सरल ग्रामीण जीवन को जटिल अवस्था प्रदान करने में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर रही है।

प्रौद्योगिकी क्या है?

समान्य तौर पर प्रौद्योगिकी का अर्थ मशीनों के उपयोग अथवा मशीनीकरण से लगाया जाता है। कारीगर वर्ग प्रौद्योगिकी को ऐसी विशेषता के रूप में देखता है जिसने उसकी सम्पूर्ण कला को नष्ट कर दिया है। श्रमिक संघ इसे अपने अस्तित्व के लिए खतरा मानते है। लेकिन वास्तविक स्थति इससे विल्कुल भिन्न है। आगबर्न के अनुसार ''प्रौद्योगिकी का अर्थ किसी भी प्रविधि से है।''

प्रौद्योगिकी एक सामाजिक तथ्य है। इसका कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों और वर्गो की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न आविष्कार और व्यवहार के नये ढ़ंग जन्म लेते है, जो किसी उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अप्रत्यक्ष तथा उच्च श्रेणी के साधनों की व्यवस्था है। जो साधन या वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से हमारे उद्देश्यों को पूरा करती है व स्वयं नहीं होती, बल्कि इन साधनों का निर्माण करने वाले उपकरणों अथवा ज्ञान को प्रौद्योगिकी कहा गया है। अतः प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध उन सभी ज्ञान की शाखाओं, विधियों तथा कुशलताओं से है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक और जैविकीय दशाओं पर नियन्त्रण रखकर उन्हे उपयोग में लाता है, क्योंकि इसकी प्रकृति एक ही दिशा में आगे की ओर बढ़ने की होती है। पाषाण युग में पत्थर के औजार आदि समाज की प्रौद्योगिकी थी, जबकि सामन्तवादी युग में हल, बैल और कुदाल जैसी प्रौद्योगिकी के द्वारा कृषि कार्य किया जाता था। ग्रामीण समुदाय का आत्मनिर्भर स्वरूप आकार में छोटा रहने से धर्म, जाति और परम्परागत नियमों के द्वारा ही व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता था। परन्तु जैसे–जैसे प्रौद्योगिकी में विकास होने लगा वैसे–वैसे ही मानव के सामाजिक सम्बन्धी, सांस्कृतिक दशाओं तथा अर्थ व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगा।

सर्वप्रथम यान्त्रीकरण या मशीनीकरण के अधिकाधिक उपयोग के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से लाभ की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इससे हस्त शिल्प और सामूहिक जीवन का महत्त्व कम हो गया। स्त्रियों में जागरूकता उत्पन्न करने प्रेशर कुकर, गैस चूल्हा, वाशिंग मशीन के प्रयोग से स्त्रियों को घरेलू कार्यो के अतिरिक्त समय प्राप्त होने लगा, टेलीविजन एवं

मोबाइल के प्रयोग ने स्त्रियों को शिक्षित और संगठित होने का तथा घर की चाहरदीवारी के बाहर कार्य करने का अवसर प्रदान किया, जिससे परम्परागत संस्कृति का प्रभाव कमजोर पड़ने लगा विभिन्न जाति, धर्म और विचारों के लोगों का एक साथ रहकर कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ, जिससे धार्मिक विश्वासों की कड़ी कजोर हुई, संयुक्त परिवारों का विघटन होने लगा तथा व्यक्तियों के बीच हित प्रधान सम्बन्ध विकसित होने लगे।

परिवहन तथा संचार के साधनों के उन्नति के कारण जैस–हवाई जहाज, रेल, बसों, तथा कारों के संचालन से स्थानीय दूरी का प्रभाव कम हुआ, सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक हुआ। संचार साधनों की नयी प्रविधियों जैसे टेलीविजन, रेडियो, मोबाइल, फैक्स, ई–मेल का प्रयोग तत्काल प्रभाव से घटित होने, घटनाओं की जानकारी प्रदान करने में सहायक हुआ, जिससे ग्रामीण एवं नगरीय समुदायो के बीच का अन्तर कम हो गया है।

वर्तमान उत्पादन प्रणाली में होने वाले परिवर्तन ने श्रम विभाजन और विशेषीकरण का महत्त्व बढ़ा दिया, जिससे नगरो की भांति ग्रामीण जन भी प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे है। ग्रामीण क्षेत्रों से प्रतिदिन नगरीय क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के आवागमन से स्थानीय गतिशीलता उपर्युक्त वर्णित तथ्यों से सैद्धान्तिक पक्ष को प्रमाणित करने के उद्देश्य से अन्वेषणात्मक अध्ययन को लेखिका ने अपने अध्ययन की आधारशिला बनाया है, जिसमें क्षेत्रीय कार्य की सर्वेक्षण प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण होती है। सर्वेक्षण कार्य की प्रक्रिया को सम्पन्न करने हेतु सविचार निर्दशन द्वारा जनपद मुख्यालय आजमगढ़ से 45 किमी0 दूर पूर्णरूप से ग्रामीण परिवेश लिए हुए ग्राम बरदह तथा जनपद मुख्यालय से 50 किमी0 दूर ग्राम जिवली को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया।

ग्राम बरदह जनपद मुख्यालय से 45 किमी0 दक्षिण थाना–बरदह चौराहा से सड़क के पूर्वी एवं पश्चिमी भाग में स्थित है। इस गाँव की आबादी 25000 है। बरदह चौराहे के पश्चिम में थाना तथा प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षण संस्थानों का संचालन कार्य सम्पन्न होता है। राष्ट्रीय राजमार्ग के नाम से विख्यात यह स्थान आजमगढ़ जौनपुर मार्ग को जोड़ता है। इस समुदाय को एक इकाई के रूप में ग्राम जिवली चौराहा बरदह से 05 किमी0 दूर सड़क के पश्चिम भाग में स्थित है। इस गांव की भी आबादी 25000 है। आबादी एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से इन दोनों गांवों में समानत पायी जाती है। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का प्रत्यक्ष स्वरूप इन दोनों गांवों में दृष्टिगत होता है।

लेखिका द्वारा उद्देश्य पूर्ण निर्देशन के अन्तर्गत दैव निर्दशन की लाटरी पद्धति द्वारा 5 प्रतिशत के आधार पर प्रत्येक गांव से विभिन्न जातिय 150 एवं 150 अर्थात कुल 300 सूचनादाताओं से साक्षात्कार की प्रक्रिया को पूर्ण करते हुए प्रौद्योगिकी के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है, जिसमें 207 अनुसूचित जाति, 88 पिछड़ी जाति तथा सर्वण 05 अर्थात 1.67 प्रतिशत, 29.33 प्रतिशत पिछड़ी जाति तथा 69 प्रतिशत उत्तरदाता अनुसूचित जाति के चुने गये है। इस अध्ययन में सर्वाधिक अनुसूचित जाति के उत्तरदाताओं का चयन इस उद्देश्य से किया गया है कि सवर्ण एवं पिछड़ी जातियॉ स्वय में जागरूक मानी जाती है, लेकिन कमजोर वर्ग के रूप जानी जाने वाली जातियों के जीवन में प्रौद्योगिकी का प्रभाव किस सीमा तक पड़ा है।

प्रस्तुत अध्ययन चयनित उत्तरदाताओं में 177 महिलाओं 59 प्रतिशत तथा 123 अर्था 41 प्रतिशत पुरुषों का चयन किया गया है। साक्षात्कार की प्रक्रिया में 30 से 44 वर्ष, जिसमें 90 महिलाएं, 62 पुरुष, 45 से 59 वर्ष में 75 महिलायें तथा 64 पुरुष और 75 से 89 वर्ष के 6 महिलायें तथा 3 पुरुषों का चयन किया गया है। उक्त

उत्तरदाताओं में शैक्षिक स्थिति के आंकलन पर 132 उच्च शिक्षा प्राप्त, 81 प्राथमिक, 39 मिडिल, हाईस्कूल 27, इण्टरमीडिएट 14 तथा 7 अशिक्षित व्यक्तियों से सम्पर्क किया गया।

इसके साथ ही 15–29 वर्ष के 62 बालक–बालिकाओं से भी साक्षात्कार किया गया जो 20.67 प्रतिशत है, जिसका उद्देश्य यह पता लगाना था कि विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने वाले इन उत्तरदाताओं को प्रौद्योगिक परिवर्तन ने कितना प्रभावित किया है। उपरोक्त आयु समूह के अन्तर्गत हाईस्कूल, इण्टरमिडिएट एवं उच्च शिक्षा से सम्बद्ध विद्यार्थियों को साक्षात्कार का अंग बनाया गया है। क्योंकि व्यक्ति के दृष्टिकोण के निर्धारण में शिक्षा की अहम भूमिका होती है। शिक्षा अन्य परिर्वत्यों के ही समान व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति को स्पष्ट करती है। इन उत्तरदाताओं में 44 प्रतिशत अशिक्षित एवं 56 प्रतिशत शिक्षित उत्तरदाता सम्मिलित है। परम्परागत समाज अपने सीधे सादे सरल जीवन में परिवर्तनकी मन्द गति के लिए विख्यात है, फिर भी सूचना प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास के प्रभाव से परम्परागत समाज अछूता नही है। एक झोपड़ी से लेकर महलों में रहने वाले लोगों द्वारा आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग आवश्यकतापूर्ति के लिए करते हुए पाया गया। साक्षात्कार में सम्मिलित शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही वर्गो में पुरुषों की अधिकतम संख्या मोबाइल प्रयोग, वाट्सएप, फेसबुक इण्टरनेट आदि का प्रयोग करते हुए पाया गया, जिनकी संख्या चयनित उत्तरदाताओं में 41 प्रतिशत है। इनकी तुलना में महिला उत्तरदाताओं द्वारा मोबाइल, गैस चूल्हा, वाशिंगमशीन, फ्रिज, मिक्सर, टेलीविजन के माध्यम से दूरदर्शन की त्रिस्तरीय सेवा जैसे–राष्ट्रीय, प्रादेशिक एवं स्थानीय स्तर पर सूचनाओं के प्रसारण को देखना सूचना, डी.टी. एच., के माध्यम से मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों एवं सीरियल्स को देखना केबल चैनलों को देखने तथा उपभोग करने की प्रक्रिया पायी गई। उपर्युक्त उपकरणों का प्रयोग दैनिक जीवन की क्रियाविधि के रूप में करते हुए पाया गया है। इस प्रकार आधुनिक उपकरणों का प्रयोग अध्ययन समग्र के गांवों में 59 प्रतिशत महिलाओं द्वारा किया जा रहा है। विद्यार्थी वर्ग जिनकी संख्या 62 अर्थात 20.67 प्रतिशत है, इनमें 07 विद्यार्थी जिनमें 04 बालिक एवं 03 बालकों से साक्षात्कार किया गया। इन बच्चों में कैलकुलेटर एवं मोबाइल तथा कम्प्यूटर के प्रति आकर्षण एवं प्रयोग की जिज्ञासा पाया गया, यह विद्यार्थी दसवी कक्षा की छात्र/छात्रायें है। 15 विद्यार्थी जिनमें 09 बालक और 06 बालिकायें इण्टरमीडिएट स्तर की छात्र/छात्राओं में अधिकतम आकर्षण मोबाइल और टेलीविजन के प्रति पाया गया। उच्च शिक्षण संस्थानों में 25 छात्रायें एवं 15 छात्र पाये गये जो अध्ययन की दृष्टि इण्टरनेट, ई–मेल फेसबुक का प्रयोग मोबाइल के माध्यम से करते हुए पाये गये। मोबाइल समाचार सुनने तथा प्रचार माध्यम से अपने जीवन शैली को बदलने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर है।

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि ग्रामीण समुदाय में भी आधुनिक उपकरणों का प्रयोग अधिकाधिक रूप में किया जा रहा है, जिससे औद्योगिकीकरण का विकास नगरीकरण के प्रति आकर्षण, गतिशीलता में वृद्धि, व्यक्तिवादीता में वृद्धि, मनोरंजन का व्यापारीकरण एकांकी परिवारिक संरचना का निर्माण, विलम्ब विवाह सामुदायिक जीवन का ह्रास, श्रमिक संगठनों को प्रोत्साहन, धार्मिक मूल्यों और दृष्टिकोणों में होने वाला परिवर्तन विद्युतीकरण का प्रयोग इत्यादि ग्रामीण समुदायों को पूर्ण रूपेण प्रभावित किया है। इस प्रभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण–ग्रामीणजनों के जीवन शैली में उनके जीवन की क्रिया–विधियों आचरण–व्यवहार, प्रतिमान, मनोवृत्तात्मक अभिव्यक्तियॉ जो किसी सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के प्रतीक होते है, ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन की दशा को स्पष्ट रूप से

प्रदर्शित करने से प्राप्त होता है।

निष्कर्षतः यह स्पष्ट हुआ कि प्रौद्योगिकी ने ग्रामीणजनों के सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हुए सामाजिक संरचना में परिवर्तन उत्पन्न किया साथ ही साथ तार्किकता, उच्च जीवन स्तर, सामाजिक गतिशीलता तथा व्यापारीकरण को प्रोत्साहन दिया, श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण को प्रोत्साहित कर ग्रामीण समाज को अनेकों प्रकार से लाभान्वित किया। वहीं दूसरी तरफ प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवादिता, व्यवसायिक, अनिश्चितता, बेरोजगारी, पारिवारिक तनावों तथा साइबर अपराधों में वृद्धि करके सामाजिक जीवन को प्रतिकूल रूप से भी प्रभावित किया है। ये सभी दशायें ग्रामीण समुदायों के सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिक कारकों की भूमिका को स्पष्ट करती है।

सन्दर्भ

1. श्री रामबिहारी सिंह तोमर, ग्रामीण समाजशास्त्र चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा–3
2. प्रो0 एम.एल. गुप्ता एवं डॉ डी.डी. शर्मा, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स–आगरा (2000)
3. डॉ0 हिरेन्द्र प्रताप सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थायें मिश्रा ट्रेडिंग कार्पोरेशन टी/20ए किला कालोनी, वाराणसी (1999)
4. डॉ0 जी. के अग्रवाल, मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीव्यूर्टस (प्रा0) लि0 (2000)
5. डॉ0 जी. के0 अग्रवाल, सामाजिक नियन्त्रण एवं परिवर्तन साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा0) लि0, 34 लालपतकुंज अगरा (2005)

समाजशास्त्र

ग्रामीण भारत में उच्च शिक्षारत छात्र-छात्रायें तथा डिजिटल इण्डिया कार्यक्रम

–डॉ०र वीन्द्रन ाथ मिश्र*

भारतवर्ष को गाँवों का देश कहा जाता है। यहाँ की ग्रामीण जनता का जीवन प्रायः कृषि पर आधारित है। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप नगरों के उद्भव एवं बड़े–बड़े उद्योगों तथा कल–कारखानों की स्थापना ने ग्रामीण जीवन को गतिशीलता प्रदान किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत सरकार को संचालित करने वाले विभिन्न राजनैतिक दलों की सरकारों ने देश के विकास एवं ग्रामीण विकास के लिये अनेक योजनाओं का क्रियान्वयन किया और वे योजनाएँ पूर्ण या आंशिक रूप से सफलता एवं असफलता प्राप्त करती रहीं। 'डिजिटल इंडिया' नामक एक अनूठा कार्यक्रम वर्तमान सरकार द्वारा लागू किया गया है। यह कार्यक्रम दिनांक 02 जुलाई 2015 को भारत सरकार के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी द्वारा भारत के नवयुवकों के लिये लागू किया गया है। ग्रामीण नवयुवक, ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें तथा ग्रामीण प्रौढ़जन के बीच संचार के साधन, मोबाइल, टैबलेट या लैपटाप का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय, इस बात का प्रयास सरकार द्वारा किया जा रहा है। संचार के ये विभिन्न साधन मानव का जीवन सरल बनाये हैं। मोबाइल फोन का उपयोग शिक्षित, अशिक्षित, किशोर, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध तथा युवतियाँ एवं प्रौढ़ महिलायें सभी अपनी सुविधानुसार कर रहे हैं। उच्च शिक्षित या उच्च शिक्षारत युवक/युवतियाँ तो मोबाइल, टेबलेट या लैपटाप को अपनी आवश्यक आवश्यकता समझने लगे हैं। प्रत्येक छोटी–बड़ी सूचना, संदेश या बात के लिये अधिक से अधिक मात्रा में लोग मोबाइल पर निर्भर होते जा रहे हैं।

21वीं शदी के भारत में आज भी गाँवों की संख्या एवं गाँवों में निवास करने वाले लोगों की संख्या का प्रतिशत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या के आधे से अधिक है। नगर और गाँव की विभेदक रेखा ''विकास'' से दूर ग्रामीण जनता के सम्मुख आज भी अनेकानेक समस्यायें हैं। ग्रामीण जीवन आज भी अनेक कठिनाइयों एवं असुविधाओं के विस्तृत वितान के नीचे समय गुजार रहा है। प्रमुख रूप से कृषि पर आधारित ग्रामीण जीवन अपने विकास के लिये प्रयासरत है। केन्द्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा बनायी गई विकास की नीतियाँ तथा विकास की विभिन्न योजनायें नगरीय और ग्रामीण दो स्तरों पर निर्धारित होती हैं। ग्रामीण परिवेश में मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष उपयुक्त वातावरण एवं संसाधन के अभाव में अविकसित है। भारतवर्ष के ग्रामीण जीवन में यदि केवल एक समस्या को चिन्हित किया जाय तो उसी के निदान एवं

*एसो. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मर्यादा पुरुषोत्तम पी.जी.कालेज, भुड़सुरी–रतनपुरा, मऊ (उ0प्र0)

समाधान में वर्षों का समय लग जाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, यातायात तथा संचार के साधनों के विकास एवं व्यापक रूप से स्वीकार्यता या ग्राह्यता के लिये आज भी सरकारों एवं स्वैच्छिक संगठनों को अभियान चलाकर प्रचार–प्रसार करना पड़ता है। जीवन के इन सभी पक्षों में जहाँ स्वयं को जागरुक रहना चाहिए, उसके लिए अभियान चलाना पड़ता है, जो ग्रामीण जीवन की सोच, कार्य पद्धति एवं मानसिक स्थिति के स्तर को बताने के लिये पर्याप्त है। भारत सरकार द्वारा चलाए जा रहे स्वच्छता अभियान एवं शौचालय बनवाने के लिये देश के बड़े–बड़े फिल्मी स्टार, प्रदेशों के मुख्यमंत्री एवं स्वयं प्रधानमंत्री जी अभियान के माध्यम से प्रयासरत हैं और ग्रामीण जनता लोटा लेकर शौच के लिये खेतों में एवं सड़कों के किनारे जाना बन्द नहीं कर रही है, क्यों?इसका एक ही उत्तर है–जागरुकता का अभाव। जागरुकता स्वयं आती है अथवा बताने पर तो तत्काल क्रियान्वयन होता है।

भारत सरकार का महत्वपूर्ण कार्यक्रम 'डिजिटल इंडिया' का उद्देश्य है–पावर टू इम्पावर अर्थात् 'सशक्त होने के लिये शक्ति'। इन्टरनेट की सुविधाओं के माध्यम से देश की जनता अपने आवश्यक कार्य कागज रहित व्यवस्था (पेपरलेस सिस्टम) के अन्तर्गत सम्पन्न करे, यही इस योजना का उद्देश्य है। यांत्रिकी के क्षेत्र में इन्टरनेट की सुविधा से सबकुछ आनलाइन सुलभता का प्रयास डिजिटल इंडिया का मूल उद्देश्य है।

प्रस्तुत शोध–पत्र में उत्तर प्रदेश के वाराणसी जनपद के तीन महाविद्यालयों (उ.प्र. शासन से वित्तीय सहायता प्राप्त) जो ग्रामीण क्षेत्रों में अवस्थित हैं, के स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के छात्र–छात्राओं की 'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम के प्रति तत्परता, जागरुकता, सुलभता एवं निष्ठा जानने का प्रयास किया गया है।

ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित डॉ. राममनोहर लोहिया पी. जी. कालेज, भैरव तालाब–राजातालाब, वाराणसी, श्री बलदेव पी. जी. कालेज बड़ागाँव वाराणसी एवं कालिकाधाम पी.जी. कालेज, सेवापुरी वाराणसी के उच्च शिक्षारत छात्र–छात्राओं के बीच से प्रत्येक महाविद्यालय से 100–100 ऐसे छात्र–छात्राओं का अध्ययन के लिये चयन किया गया जो नियमित रूप से महाविद्यालय आते हैं और मोबाइल, टैबलेट या लैपटाप का प्रयोग करते हैं। 300 उत्तरदाताओं में 150 छात्र तथा 150 छात्राओं का उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से चयन किया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध–पत्र में यह जानने का प्रयास किया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्र/छात्रायें अपने मोबाइल, टैबलेट या लैपटाप का प्रयोग किन–किन सुविधाओं के लिये करते हैं। डिटिजल इंडिया कार्यक्रम के प्रति ग्रामीण युवाओं की जागरुकता तथा इस कार्यक्रम की सफलता में आने वाली समस्याओं का अध्ययन अभीष्ट है।

प्राक्कल्पना

प्रस्तुत अध्ययन की निम्नांकित प्राक्कल्पनायें रही हैं–

1. मोबाइल, टैबलेट या लैपटाप के प्रयोग में ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्रों एवं छात्राओं की रुचि में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
2. ग्रामीण क्षेत्र में उच्च शिक्षारत छात्रों एवं छात्राओं में एण्ड्रायड या डिजिटल क्षमता के मोबाइल के प्रयोग की प्रवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
3. ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्र/छात्रायें मोबाइल से सूचना के आदान–प्रदान हेतु ह्वाट्सएप तथा फेसबुक का प्रयोग करते हैं।
4. आनलाइन इण्टरनेट की सुविधाओं का ग्रामीण उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें केवल मनोरंजन हेतु प्रयोग करते हैं न कि अपने ज्ञानवर्द्धन हेतु।
5. ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्र/छात्रायें नेट

बैंकिंग या रेलवे या एयर टिकट बुकिंग आदि कार्य मोबाइल से नहीं करते।

सारणी संख्या–01

प्रश्न : क्या आपका मोबाइल फोन एण्ड्रायड है?

सारणी संख्या 01 में प्राप्त आँकड़ों के आधार पर

क्र.सं.	उत्तर	छात्र	प्रतिशत	छात्रा	प्रतिशत	योग	प्रतिशत
1.	हाँ	114	76	120	80	234	78
2.	नहीं	36	24	30	20	66	22
	योग	**150**	**100**	**150**	**100**	**300**	**100**

यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें अधिसंख्य मात्रा में एंड्रायड (डिजिटल) मोबाइल फोन का प्रयोग करते हैं। सम्पूर्ण उत्तरदाताओं का 78 प्रतिशत भाग एण्ड्रायड (डिजिटल) मोबाइल प्रयोग करता है, केवल 22 प्रतिशत उत्तरदाता ही साधारण मोबाइल का प्रयोग करते हैं। इसका तात्पर्य है कि ग्रामीण परिवेश के उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें एण्ड्रायड मोबाइल द्वारा प्राप्त होने वाली सुविधाओं से परिचित हैं। मोबाइल फोन के एण्ड्रायड वर्जन के प्रयोग की स्वीकृति में छात्रों की तुलना में छात्राओं का प्रतिशत अधिक है। ऐसा स्वीकार करने वाले छात्र 76 प्रतिशत और छात्रायें 80 प्रतिशत हैं।

सारणी संख्या–02

प्रश्न : आप मोबाइल फोन से कौन–कौन–सी सुविधाएँ प्राप्त करते हैं?

क्र.सं.	सुविधा	हाँ				नहीं				योग			
		छात्र	प्रति.	छात्रा	प्रति.	छात्र	प्रति.	छात्रा	प्रति.	हाँ	प्रति.	नही.	प्रति.
1.	ह्वाट्सएप	114	76	120	80	36	24	30	20	234	78	66	22
2.	फेसबुक	105	70	120	80	45	30	30	20	225	75	75	25
3.	इण्टरनेट मनोरंजन	60	40	75	50	90	60	75	50	135	45	165	55
4.	इण्टरनेट से अध्ययन	30	20	30	20	120	80	120	80	60	20	240	80
5.	इण्टरनेट बैंकिंग	15	10	0	0	135	90	150	100	15	5	285	85
6.	इण्टरनेट से टिकट बुकिंग (रेलवे एवं हवाई जहाज)	30	20	0	0	120	80	150	100	30	10	270	90
7.	मोबाइल इण्टरनेट से टी.बी, मोबाइल रिचार्ज	45	30	15	10	105	70	135	90	60	20	240	80
8.	मोबाइल से सामान	0	0	0	0	150	100	150	100	0	0	300	100

सारणी संख्या 02 के आँकड़ों के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अवस्थित महाविद्यालयों में उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें मोबाइल फोन एण्ड्रायड वर्जन प्रयोग तो करते हैं, किन्तु डिजिटल इंडिया कार्यक्रम को गति प्रदान करने में ग्रामीण छात्र–छात्राओं की भूमिका नगण्य प्रतीत होती है। सूचना, संदेश अथवा फोटो के आदान–प्रदान हेतु ये छात्र–छात्रायें ह्वाट्सएप का प्रयोग शत–प्रतिशत करते हैं, जिनके पास एण्ड्रायड फोन है, किन्तु फेशबुक पर सामग्री डालना या डाउनलोड करने का कार्य केवल 75 प्रतिशत उत्तरदाता ही करते हैं। 25 प्रतिशत छात्र–छात्रायें फेशबुक का प्रयोग नहीं करते। इण्टरनेट से मनोरंजन प्राप्त करने का कार्य 45 प्रतिशत छात्र–छात्रायें करते हैं। इण्टरनेट से अध्ययन सामग्री एकत्रित करने का कार्य केवल 20 प्रतिशत उत्तरदाता/उत्तरदात्रियाँ करते हैं। समग्र के केवल 5 प्रतिशत उत्तरदाता/उत्तरदात्रियाँ मोबाइल द्वारा बैंकिंग का लाभ प्राप्त करना स्वीकार करते हैं। रेलवे अथवा हवाई जहाज का टिकट बुक करने का कार्य केवल 10

प्रतिशत उत्तरदाता करते दिखाई देते हैं। समग्र के 20 प्रतिशत उत्तरदाता यह स्वीकार करते हैं कि वे टी.बी. या मोबाइल रिचार्ज करने का कार्य एण्ड्रायड मोबाइल द्वारा करते हैं। बाजार से क्रय की गई वस्तुओं का मूल्य मोबाइल के एप्स द्वारा भुगतान करने के प्रश्न पर सम्पूर्ण उत्तरदाता नकारात्मक उत्तर देते हैं।

भारत सरकार द्वारा घोषित 'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम को गतिशीलता प्रदान करने की दिशा में ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें (युवक एवं युवतियाँ) अत्यन्त न्यून मात्रा में क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के युवाओं के भीतर जागरुकता का अभाव है। जागरुकता का अभाव, इण्टरनेट कनेक्टिविटी की न्यूनता, इन्टरनेट पैक की समस्या तथा आनलाइन कार्य करने के ज्ञान का अभाव तथा ग्रामीण क्षेत्रों के उच्च शिक्षण संस्थानों में इन्टरनेट सुविधायें एवं वातावरण का अभाव 'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम की उच्च स्तर पर स्वीकार्यता में बाधक है। मोबाइल, लैपटाप या टैबलेट को छोटे बच्चे एवं किशोर तथा उच्च शिक्षारत ग्रामीण छात्र–छात्रायें केवल मनोरंजन प्रदान करने वाला खिलौना समझकर व्यवहार करते दिखाई पड़ते हैं।

ग्रामीण भारत में 'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम की शत–प्रतिशत स्वीकार्यता एवं सफलता तभी सम्भव है जब स्वयं ग्रामीण युवा एवं युवतियाँ जागरुक होकर एण्ड्रायड मोबाइल या टैबलेट का उपयोग कर कैशलेस एवं पेपरलेस व्यवस्था के लिये स्वतःस्फूर्त भाव से क्रियाशील होंगे।

सारणी संख्या–03

प्रश्न : मोबाइल फोन लाभकारी है अथवा हानिकारक?

क्र.सं.	मोबाइल फोन के लाभ/हानि	छात्र	प्रति.	छात्रा	प्रति.	योग	प्रति.
1.	लाभ	150	100	150	100	300	100
2.	हानि	150	100	150	100	300	100

सारणी संख्या–03 मे प्रदर्शित आँकड़ों के अवलोकन से परिलक्षित होता है कि समग्र के सम्पूर्ण उत्तरदाता/उत्तरदात्रियाँ मोबाइल फोन को लाभकारी बताते हैं तथा दूसरी तरफ समग्र के सम्पूर्ण उत्तरदाता/उत्तरदात्रियाँ मोबाइल फोन को हानिकारक भी बताते हैं। शोधकर्ता द्वारा पूछे जाने पर उत्तरदाताओं ने मोबाइल फोन के लाभ एवं हानि निम्न प्रकार व्यक्त किए।

मोबाइल फोन के लाभ–

सम्पर्क में सुविधा होती है। कहीं भी रहने पर आकस्मिक सूचनायें तुरन्त मिल जाती हैं। किसी व्यक्ति या विभाग से आवश्यकता की सूचनायें तत्काल प्राप्त हो जाती हैं। दुर्घटना के समय मोबाइल फोन की काल डायरी या फोन डायरी से पहचान आसान हो जाती है। किसी समस्या या दुर्घटना के समय मोबाइल फोन से सहायता प्राप्त होती है। मोबाइल फोन द्वारा पुलिस, अग्निशमन विभाग, स्वास्थ्य सेवाओं (चिकित्सक, चिकित्सालय एवं एम्बुलेंस) को तत्काल सूचना दी जा सकती है। घर बैठे मोबाइल तथा टी.बी. रिचार्ज किया जा सकता है। मोबाइल बैंकिंग से अपना पैसा किसी बैंक खाते में भेजा जा सकता है। मोबाइल फोन से ट्रेन, बस या हवाई जहाज की समय सारणी तथा वर्तमान स्थिति की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मोबाइल फोन से बस, ट्रेन या हवाई जहाज का टिकट खरीदा जा सकता है और आरक्षण कराया जा सकता है। मोबाइल का रिमाइण्डर, एलार्म आदि व्यक्ति को सावधान रखता है। इस प्रकार मोबाइल के अनेक लाभों के साथ एण्ड्रायड फोन से व्हाट्सएप, फेसबुक, ई–मेल के माध्यम से अनेक आवश्यक सूचनायें तथा कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त होती है।

मोबाइल से हानियाँ–

समग्र के सम्पूर्ण उत्तरदाता जहाँ मोबाइल फोन के अनेक लाभों की बात स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर मोबाइल फोन से होने वाली निम्नांकित हानियों को भी

व्यक्त करते हैं।

मोबाइल फोन समय–असमय कार्य में व्यवधान डालता है। फोन करने वाला फोन सुनने वाले की परिस्थिति से अनभिज्ञ होता है, जिससे वैचारिक मतभेद उत्पन्न होता है। मोबाइल फोन को लोग समय बिताने के साधन के रूप में दुरुपयोग करते हैं। युवक–युवतियाँ, छात्र–छात्रायें घर अथवा विद्यालय अथवा कार्यस्थल से दूर जाकर घण्टों बात करके समय नष्ट करते हैं। अनिवार्य कार्य करते समय भी कार्य छोड़कर लोगों द्वारा मोबाइल पर बात की जाती है। बैठक में श्रोतागण, कक्षा में अध्यापक अथवा विद्यार्थी, चिकित्सालय में डाक्टर नर्स एवं मरीज, सफर में ड्राइवर एवं कण्डक्टर स्वयं मोटर साइकिल या कार चलाते समय मोबाइल से बात करना मोबाइल फोन के दोष या हानियाँ हैं। ह्वाट्सएप, फेसबुक या ट्विटर पर अनावश्यक एवं अपवादजनक झूठे तथ्य डालकर लोग बात का बतंगण बनाते रहते हैं। ह्वाट्सएप एवं फेसबुक को लोग बहस का प्लेटफार्म बनाकर समय नष्ट करते हैं। उत्तरदाताओं के अनुसार जहाँ एक ओर ह्वाट्सएप एवं फेसबुक द्वारा नियम–नियमावली, सरकारी आदेश, राजाज्ञा तथा अवकाश आदि की सूचना प्राप्त करते हैं वहीं अफवाहें और व्यर्थ की साम्प्रदायिक बातों का दुष्प्रचार भी करते हैं। उच्च शिक्षारत छात्र–छात्रायें एण्ड्रायड मोबाइल फोन का सदुपयोग कम करते हैं बल्कि इण्टरनेट द्वारा आपत्तिजनक सामग्री से अपना मनोरंजन करते हैं और विकृत मानसिकता पालते हैं। पारिवारिक स्वतंत्रता प्राप्त छात्र–छात्रायें एण्ड्रायड फोन एवं इण्टरनेट का दुरुपयोग करते हैं तथा अधिकांश समय छात्र–मित्र या छात्रा–मित्र से बात करते हैं, जो उनके पठन–पाठन एवं भविष्य के लिये घातक हैं। अध्ययन अवधि में छात्र–छात्राओं का एक दूसरे की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसको एंड्रायड फोन की सुविधा से विकृत स्वरूप दे दिया जाना आज की सबसे बड़ी समस्या और मोबाइल फोन से होने वाली हानि है।

सारणी संख्या–04

प्रश्न : डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की सफलता में कठिनाइयाँ

क्र.सं.	कठिनाइयाँ	छात्र	प्रति.	छात्रा	प्रति.	योग	प्रति.
1.	एण्ड्रायड फोन की समस्या	36	24	30	20	66	22
2.	नेट पैक की समस्या	114	76	120	80	234	78
3.	इण्टरनेट कनेक्टिविटी की समस्या	150	100	150	100	300	100
4.	जानकारी का अभाव	120	80	114	76	234	78

सारणी संख्या 04 के समंकों के अवलोकन से डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की सफलता में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ता है। समग्र के 22 प्रतिशत उत्तरदाता जो एण्ड्रायड फोन का प्रयोग नहीं करते वे एण्ड्रायड फोन की उपलब्धता को समस्या के रूप में देखते हैं। 88 प्रतिशत उत्तरदाता जो एण्ड्रायड फोन का प्रयोग करते हैं, वे भी एण्ड्रायड फोन की कमियों, जैसे–फीचर साफ न होना, बैटरी बैकअप कम होना आदि की समस्या व्यक्त करते हैं। ऐसे छात्र–छात्रायें एक फोन खराब होने पर दूसरे फोन के खरीद के व्यय को ही समस्या के रूप में देखते हैं। अध्ययन क्षेत्र के 78 प्रतिशत उत्तरदाता जिसमें 76 प्रतिशत छात्र एवं 80 प्रतिशत छात्रायें सम्मिलित हैं, नेट पैक की समस्या बताते हैं। प्रतिमाह नेट पैक में पैसे खर्च होते हैं जो घर वाले नहीं देना चाहते। नेट पैक के अभाव में एण्ड्रायड फोन का कोई डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के विकास या क्रियान्वयन में लाभ नहीं है। समग्र के शत–प्रतिशत उत्तरदाता इण्टरनेट कनेक्टिविटी की समस्या की बात करते हैं। 2जी एवं 3जी इन्टरनेट ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य नहीं करता। 4जी कनेक्टिविटी के लिये 4जी मोबाइल एण्ड्रायड वर्जन की आवश्यकता होती हे। छात्र–छात्राओं के अनुसार मोबाइल सिम से ग्रामीण क्षेत्रों में कनेक्टिविटी तथा इण्टरनेट कनेक्टिविटी दोनों की समस्या आती है। ग्रामीण क्षेत्रों के महाविद्यालयों में वाई–फाई सुविधायुक्त परिसर नहीं है,

जिससे छात्र–छात्रायें लाभान्वित हो सकें। इस प्रकार छात्र–छात्राओं की पूर्ण स्वीकृति के साथ यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की सफलता के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में इण्टरनेट कनेक्टिविटी की सुविधा अत्यन्त आवश्यक है। छात्र–छात्राओं का एक समूह समग्र का 78 प्रतिशत भाग यह स्वीकार करता हुआ पाया गया कि छात्र–छात्राओं को इण्टरनेट बैंकिंग, मनी ट्रांसफर, एप से वस्तुओं की खरीद एवं अध्ययन सामग्री की खोज आदि के विषय में कोई जानकारी नहीं होती और महाविद्यालय स्तर पर इस प्रकार की जानकारी देने वाला कोई भी कार्यक्रम संचालित नहीं किया जाता। डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की सफलता हेतु डिजिटल योजनाओं की जानकारी महाविद्यालय स्तर पर कराया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

निष्कर्ष–प्रस्तुत शोध पत्र के लिये एकत्रित किये गये तथ्यों एवं सम्पन्न किए गए साक्षात्कार के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित उच्च शिक्षण संस्थानों के उच्च शिक्षारत छात्र–छात्राओं की गतिविधियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है और शोधकर्ता द्वारा पाया गया कि उच्च शिक्षारत ग्रामीण छात्र–छात्रायें मोबाइल द्वारा अध्ययन सामग्री का संग्रहण, इण्टरनेट की गतिविधियाँ, इण्टरनेट बैंकिंग तथा भीम या पेटियम आदि एप्स के माध्यम से वस्तुओं के क्रय का कार्य अत्यन्त न्यून मात्रा में करते हैं। 'डिजिटल इंडिया' कार्यक्रम को बढ़ावा देने के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में इन्टरनेट कनेक्टिविटी को सुव्यवस्थित करते हुए छात्र–छात्राओं को प्रशिक्षित करने का अंशकालिक कार्यक्रम अनिवार्य रूप से शासन द्वारा संचालित कराये जाने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण भारतवर्ष के ग्रामीण क्षेत्रों के समस्त उच्च शिक्षण संस्थानों में वाई–फाई इन्टरनेट कनेक्टिविटी उपलब्ध कराना तथा आनलाइन कार्य पद्धति का प्रशिक्षण छात्र–छात्राओं को प्रदान कराना आज की महती आवश्यकता है।

संदर्भ

1. दी इकोनामिक टाइम्स, 29 फरवरी 2016
2. दी टाइम्स आफ इंडिया, 18 फरवरी 2016
3. दी इकोनामिक टाइम्स–रिट्रीव्ड, 28 अक्टूबर 2016
4. www.deccanchronicle.com 18.10.216
5. Maximumgournance.com
6. India.gov.in
7. moneycontrol.com, 8 oct 2015
8. द स्टेट्समैन, 8 अक्टूबर 2015
9. दी हंस इंडिया, 2 मई 2017– Digital Literancy classes for unemployed
10. https/mygov.in>group>digital India

समाजशास्त्र

Role of Social Tolerance in Deviant Behaviour of Slum Children

-Binu Kumari*

Slum Children are often associated with juvenile delinquency and other forms of deviance. This has been linked to the level of social or family tolerance. It is often made out that juvenile deviance directly hinges upon social and official tolerance. In this, family plays a critical role. Parental reaction to different forms of juvenile deviant behaviour paves the way for law-abiding or law-violating behaviour. This is best exemplified in a slum context. The paper focuses on children of such colonies in the Gaya District.

KEYWORDS: Delinquency, Tolerance, Deviant Behaviour

INTRODUCTION

Delinquency may be defined as anti-social behaviour (Hadfield's definition}[1]. According to this definition delinquency means a behaviour which is unsocial or anti-social in nature. The term delinquency refers to the breaking of some law (Valentine's deflation)[2].

Delinquents are such children who steal or damage propery etc. Some of them even commit such heinous crime as dacoity, murder, etc. And it is very often found that he or she has not learnt to distinguish between right and wrong conduct.

INDIVIDUALISTIC CAUSES

(i) If a child is suffering from some physical defect or disorder, he begins to feel that something is lacking in him or her. In case the physical defect is laughed at, there is every possibility that the child may adopt antisocial behaviour which would be on account of reaction formation against the law of the society. The child will then wish to destroy the social norms and will consider that the society is responsible for his defect.

(ii) In case the motor and physical development of a child is more rapid or slower than an average child at that age, than adjustment difficulties are usually created and the child may adopt delinquent behaviour.

(iii) Often low intelligence also encourages anti-social behaviour. A child who is of low intelligence can be easily attracted towards anti-social behaviour.

(iv) Some children also become delinquents on account of physiological disorders in them. Such delinquents are considered as "temperamental delinquent"[3]. For example, some girls show delinquent behaviour during their menses. The above are the major biological determinants or Individualistic causes which are believed to have some connections with delinquencies of children.

1. Mathur, Dr. S.S., Educational Psychology, 1962,

*Research Scholar, Pg Deptt. Sociology magadh University, (Bihar)

P - 594.

2. Ibid.. P- 594. 38

3. Mathur, Dr. S.S., op.cit............ P.-595.

FAMILY TOLERANCE

CAUSES PERTAINING TO FAMILY ENVIRONMENT

Unfavourable home or family environment is also argued as a primary cause of deviant or delinquent behaviour of children. The causes/factors pertaining to unfavourable family environment may be summarized as follows :

(i) presence of step-mother or step-father (ii) lack of parental affection, care and control, (iii) quarrels among parents, (iv) poverty, so that the basic needs of the children are not satisfied, (v) use of alcohol and other drugs by the parents (vi) high ambitions of parents which they want to realize through the achievements of their children. (vii) loose or very strict discipline at home, (viii) broken home- -divorce, separation or death of any one of the parents, (ix) mother being in service, no control over the children (x) sexual defect in mother, or her being of low character, mental abnormality in the mother or father etc.

SOCIAL TOLERANCE

CAUSES PERTAINING TO SOCIAL ENVIRONMENT

Criminal or deviant behaviours are the result of factors in the environment of the offender and not solely due to the biological makeup or defects of the offenders. The factors/ determinants available in the social environment which induce children to exhibit deviant o r delinquent behaviour, can be summarized as follows :

i) Separation of youths, that is, marginal status of adolescents in society which results in a feeling of isolation and a feeling of not being a part of the com m unity or society. This separation also results in peer group's considerable influence on the youths, and this influence extends to alcohol and drug use, as well as other anti-social activities. More over extensive separation of youths from adults and lack of positive peer support may also result in isolation from the mainstream of interaction, and then the reaction to this situation would be some sort of deviant behaviour. The technical terminology for this phenomenon is "anomie"- a feeling of isolation (Anomie Theory — Emile Durkheim).

ii) The discrepancy between the social or cultural goals that the individual learn to aspire in their environment and the institutionalized means available for achieving those goals, may result in strain or frustration in the minds of the youths. This strain or frustration can produce behaviour that is deviant, anti-social or contrary to the norms of the society[4].

iii) Economic determinism which dictates unequal distribution and consum ption of goods, may also be cited as a cause of delinquency.Econom ic status has a great deal to do with the rate of delinquent behaviour. T h e greater the econom ic deprivation, the greater the delinquency. It is felt that person in economically disadvantageous position often have the same material aspirations as persons in economic advantageous position.

4. Merton, Robert ., Social Structure and Anomie—Amercan Sociological Review, 3 No.5,1938, p. — 672

This disparity very often creates situation conducive to deviancy, delinquency and crimes[5]. Moreover, industrialization which results in urbanisation, slum dwelling etc. is also a determinant for rise of delinquent behaviour in children. Small children who are employed in factories and industries, very often show delinquent or deviant behaviour because of their economic condition, isolation from the affordable section, etc.

iv) Association of youths with other delinquents, drug- addicts, criminals and maladjusted children also results in deviant or delinquent behaviour in children. Because, if individuals associate mostly with delinquents or criminals, or mal-adjusted individuals, chances are that they will become involved in

delinquent activities. (Theory of Differential Association— Edwin Sutherland)

v) In addition to family, community, religious institutions and the school play an important role in socializing children, in the contemporary schools which are purveyors of middle class values, only the students who fit within the modern school systems are likely to do well and profit from their schooling. But those who are not so lucky— who are intellectually, socially, emotionally or economically deprived— have difficult times in meeting their expectations and likely to become delinquents.

vi) Besides these, media influence and subsequent information explosion may also be blamed for the rise in delinquent activities of children

Magnitude of the Problem

Slum children constitute a marginalized population in most urban centres of the world. There are major difficulties in trying to estimate the number of street children and the magnitude of difficulties they experience. In their marginalised state they constitute a truly "hidden" population who are not covered by nor find place in the national census, educational or health data, largely because they have no fixed address. This problem is further compounded by the fact that they are also a highly mobile population. “Hidden populations” euphemistically refers to those who are disadvantaged and disenfranchised: the homeless, chronically mentally ill, criminal offenders, prostitutes, juvenile delinquents, gang members, runaways and other “street people” – those we are all aware of to one degree or another, yet know so little about.

Methodology

This paper reports on some of the data gathered from the study of 100 children in and around Gaya District, Bihar.

1. Initial qualitative assessment of the problem of social tolerance in the slum Children of Gaya through key informant interviews.2. Follow up assessments were done in 100 of these children. During the followup stage, children were assessed with the followup instrument, to collect data on sexual activity, delinquency, nutrition, daily stresses and coping other than tolerance and deviant behavior

5. Show, Clifford R. and Mekay, H .D ., Juvenile Delinquency and Urban Areas, Chicago Press, 1969, P.- 316.

FINDINGS:

Coping strategies and skills

To deal with a wide range of stressors likely to be encountered in everyday life, the individual requires to acquire a wide range of coping and social skills. They may be cognitive or behavioral Cognitive skills - self assurance, cognitive restructuring, cognitive distraction, self control etc. Behavioral skills - problem solving, action through negotiation / compromise, withdrawal through leaving/ avoiding the situation, communication skills, assertiveness, social networking, engaging in alternate activities, relaxation Practical performance skills and Survival skills (which may be considered "aberrant" in the wider community) –e.g. fighting, running fast, reacting quickly, weathering physical harm etc. may be very important for the slum child. However , a child who has not had the opportunity to learn adequate coping and survival skills may use drugs as a coping strategy.

High Risk Behaviour

One of the major realizations from the study was that drug use / abuse could not be viewed in isolation. Drug use in children formed just one of the many elements which contributed to their High Risk Lifestyle.

Delinquency and Criminal behaviour : Slum children have Delinquent behavior(78%). This included stealing, fighting, rape and self directed aggression. The delinquent behaviour predominantly occurred in the context of the peer gang(70.3%) but a significant proportion of the deviant behaviour was solitary.

Age inappropriate sexual behavior :About half (51%) of the children are being sexually active. Almost all of these predominantly male children reported one or more incident where they had either been forced into, or paid for, or offered drugs in exchange for sex. Although a small number reported indulging in sex for comfort with peers, a significantly large number of children regularly visited commercial sex workers. There was a nexus between street children and local commercial sex workers, many of whom abused alcohol and drugs. Children frequently acted as pimps or go – betweens in exchange for money, drugs, shelter or sexual favours.

Attitudes and practices inimical to safe sex : The sexually active children, by and large, reported having sex in intoxicated states and not using barrier contraception, despite knowledge of condom use and the potential for HIV and other infection. Intoxication made them careless or daring. The other attributions for not taking precautions were that they couldn't care less, or that they did not think it could happen to them.

Sexual harassment	Percentage of sexual harassment
Teasing	28.33%
Physical harassment	13.33 %
Rape	1.66%

General Health

These children also reported a wide variety of general health problems. Some of the common complaints were

- cough, breathing problems and chest pain (30%)
- Headache (15%)
- Stomach problems (20%)
- Fever and bodyache (20%)
- Toothache(10%)
- Skin problems (25%)
- Burning sensation while passing urine / sores on genitalia (30%)
- Tingling and numbness of hands & feet (15%) and
- Accidental injuries to body and limbs (10%)

Emotional problems: Emotional problems were frequently reported with many complaining of chronic lack of interest in their day to day existence and sadness with crying.

Deliberate self-harm and self-mutilation: Self mutilation ,specifically scarification and slashing themselves with sharp objects, especially when intoxicated with "solution" was a peculiar phenomenon found universally amongst boys and girls. Some of the children attributed this to self directed anger and states of sadness enhanced by the drug. Others said they slashed themselves in groups as part of a bonding ritual and that the drug had an anaesthetic effect. Some children reported incidents when other children killed themselves by flinging themselves under a passing vehicle or deliberately standing in front of an oncoming train while intoxicated. Almost all the children recounted having known at least one child who had died suddenly while inhaling solvents, although these claims could never be substantiated.

GIRL CHILDREN in SLUMS :

The data regarding girl children is much more sketchy. This is partly because most of the participating organisations in the study had a greater street presence among the boys. Also boys outnumber girls in the slums . From key informants learning was that the girls stay in their own gangs (which often include one or two small boys), some of the girls enter into informal "marriages" with some of the older boys, while others are given shelter by various adults. Almost invariably these girl children are subject to physical and sexual abuse. Among the girls sickness, ill health (physical & emotional) are high. Some girls die as a consequence of illegal abortions, most others due to a combination of poor nutrition and drug use.

Trafficking	Children	3.33%	Women	5.00%	
Violence	Injuring 85%	Between two children 85%	Using weapon 60%	Between two groups 43%	Killings 0.00 %
Drug addiction	Cigarette	1oo%	Marijuana	86.67 %	
Mugging	35%	Robbery	20%	Theft	45%

Existing Resources : Access to resources affects a child's ability to learn skills, change attitudes and perceptions, decrease some of the stresses. The children studied had very little access to health care, education , age appropriate leisure activity. Additionally they were naturally suspicious of the very structures that the State has erected to take care of these children. Most of the children preferred to stay on the streets or even get admitted to a "mental hospital" rather than having to go to the Juvenile Home. Almost all the children (more than 90%) had been abused, violated and exploited by policemen at some time in their short lives and understandably wanted to have nothing to do with the Police.

CONCLUSION : Protective Factors

Adult attachment appeared to reduce chances of drug use and any future intervention would be well advised to invole an adult mentor system, where each child is tied in with an adult educator. The adult would be responsible for day to day monitoring of progress, as well as responsible for crisis management. He / she should also be trained to provide counselling and be able to refer the child appropriately in times of need. Peer educators appear to be the major influence on the street child's learning. Intervention programmes would require to train and utilise older children to sensitise, protect, recruit and counsel younger children. They could also be employed to conduct community awareness initiatives. Supervised employment appears, from this study, to be yet another protective factor. Encouraging children to work in adult supervised jobs or providing safe, regulated employment. For example organizations could organize rag pickers in their area, provide each child with thick rubber / leather gloves and interface with their buyers Decreased cash liquidity and encouragement to save decreases the chances of drug abuse.

Advice to children on savings, as well as providing resources for banking and also perhaps small loans may be helpful. Life skills training with a focus on general problem solving appears to have some validity as a brief, cheap, easy to administer method which leads to demonstrable behavioral and attitudinal change.

Providing night shelters and subsidized food counters. Night schools and more importantly vocational training centres would allow children to both work and learn.

Community centres could be utilised to organize melas (fairs) where along with recreational activities, sex education, drug education and life skills education components may be provided. 19 Making available via persuasive communication media like posters, comics, video, community theatre information pertaining to safe sex, drug prevention, nutrition etc. as well as providing knowledge about available resources.

References

1. A One - Way Street ? Report on Phase I of the Street Children Project (1993) World Health Organisation.
2. Drug Abuse: Summaries of Research Studies Sponsored By Ministry of Welfare (1992) Published by the National Institute of Social Defense, Ministry of Welfare, Government of India, New Delhi.
3. Dusenbury L, Khuri E, Millman RB () Adolescent Substance Abuse: A Sociodevelopmental Perspective in The Textbook of Substance Abuse . Eds. (pp. 832 - 842)
4. Reducing Risk Behaviour Related to HIV / AIDS, STD's and Drug Abuse Among Street Children: National Report (1996) Ed. J Mehra. Published by Ministry of Welfare, UNDCP, UNICEF, WHO and NACO

मनोविज्ञान

आधुनिकता एवं परोपकारिता

–डॉ०र ाहीप्र सादम ौर्य*

The aim of this study was to investigate the impact of level of modernity on altruistic tendency of college students (120 male and 120 female) 240 college students ranging in the age range of 17 to21 years were selected for this study. The technique of sampling was employed stratified random sampling. The instruments employed for the collection of data were Modernity Scale (Ahluwalia & Kalia) and Altruism Scale (Alam). The results revealed that respondents belonging to Low Modernity score were found more altruistic than the respondents of high Modernity group. Obtained mean difference was found statistically significant at respectable level of significance.

शब्द आधुनिकता एक विवादास्पद पद है क्योंकि कुछ विद्वान (Lerner(1928), Moore (1978), Rosto (1960), Eisenstadt (1966)) ने आधुनिकता को पारगमन की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में मानते हैं जिसके द्वारा समाज के लोग एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने को गतिमान रहते हैं। जबकि दूसरे अध्येता इस विचारधारा को भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण मानते हैं, क्योंकि संसार में कोई ऐसा समाज नहीं है जो पूर्णतया आधुनिक हो अथवा पूर्णरूप से परम्परागत हो। अध्येताओं का एक दूसरा वर्ग आधुनिकता की व्याख्या आर्थिक विकास के सन्दर्भ में करता है (Chattopadhya 1970, Gore 1971) जिसमें 4 अन्र्तसम्बन्धित प्रक्रियाओं –प्राद्योगिकी, कृषि, उद्योग एवं पारिस्थितिकी को सम्मिलित किया जा सकता है। अध्येताओं का एक दूसरा वर्ग आधुनिकता की व्याख्या कुछ विशिष्ट परिवर्तनों– सामाजिक संरचना में परिवर्तन, संरचना के विभेदीकरण में परिवर्तन, भूमिका के विशिष्टीकरण में परिवर्तन तथा संस्थाओं एवं भूमिकाओं की एकीकरण व्यवस्था में परिवर्तन (Parsons 1951,1964), मूल्य, प्रतिमान, सार्वभौमवाद में परिवर्तन, विशिष्टवाद एवं कार्यसिद्धि स्थिति–निर्धारण में परिवर्तन (Parsons 1951), धर्म निरपेक्ष तर्कपरक दृष्टि में परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन (Lerner 1958), सामाजिक न्याय, वैयक्तिक स्वतन्त्रता आर्थिक समृद्धता (Sharma 1978) अथवा आधुनिक प्रोद्योगिकी के स्वीकरण की प्रकृति एवं मात्रा Levy (1966) के आधार पर करता है।

इन भिन्नतापरक दृष्टिकोणों के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि आधुनिकता का तात्पर्य न तो केवल आधुनिकीकरण का विकास है और न आधुनिकता का। वरन यह एक ऐसी बहुआयामी जटिल अन्र्तसम्बन्धित परिवर्तन की प्रक्रिया है जो एक समाज विशेष के सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन–क्षेत्रों, जैसे उनके वैयक्तिक, अर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक– को इस रूप में स्पर्श करती है जिससे कम विकसित समाज अधिक विकसित समाज की

*P. G. Department of Psychology , Shibli National College Azamgarh (U.P.)

विशेषताओं को प्राप्त कर लेते हैं।

आधुनिकता को विशेषीकृत करते हुये यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है जिसमें सार्वभौमिकता, अनुकूलनशीलता, गतिशीलता, अपरिवर्तनशीलता, क्रान्तिकारी तथा उदविकासवादी प्रकृति, प्रसारवादिता, एकरूपकारी एवं मूल प्रकृति को बचाये रखने की प्रकृति पाई जाती है। परिणामस्वरूप आधुनिक समाज की विशेषताओं के रूप में उच्च नवाचार प्राक्टय, नवीन अनुभव की उच्च तत्परता, बहुश्रुत, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अभिरूचि, उच्च काल–बोध, अधिक सहिष्णुता, उच्च विश्वबन्धुत्व, उच्च राजनीति एवं सामाजिक सहभागिता, उच्च परिवर्तन प्रवृति तथा जीवन के नूतन अवसरों के प्रति उच्च क्रियाशीलता को लिया जा सकता है।

सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन को विविध प्रक्रियाओं की भांति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी एक महत्वपूर्ण एवं बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तित्व, सामाजिक संरचना और संस्कृति में होने वाले समस्त प्रकार के परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है। भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकता की अवधारणा पाश्चात्य संस्कृति में आधुनिकता का सम्प्रत्यय सार्वभौम स्तर पर विचारों में होने वाली प्रगति, वैज्ञानिक ज्ञान के विकास तथा बौद्धिक एवं प्रत्यक्षवादी मूल्यों की प्रधानता से सम्बन्धित है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप विद्यमान आधुनिकता के कारण व्यक्ति के व्यवहार में अनेक प्रकार के लक्षण देखे जा सकते हैं। आधुनिकता के कारण ही आज का मानव प्राणी नवाचार एवं परिवर्तन के प्रति नूतन अनुभवों एवं खुलेपन के लिये तत्पर रहता है, विविधता उत्पन्न करने तथा दूरस्थ करने वाली समस्याओं एवं परिणामों पर मत बनाता है, उसे समय की बेहतर अनुभूति होती है, आयोजित एवं संगठित कार्यो को करने में विश्वास करता है, उसमें कार्यक्षमता तथा परिकलन करने की योग्यता पाई जाती है, विज्ञान एवं तकनीकी में उसकी आस्था होती है, तथा वितरणात्मक न्याय (distributive justice) के प्रति उसमें विश्वास पाया जाता है (Inkless 1974)।

अनेक अनुसंधानकर्ताओं ने आधुनिकता के लिये अनेक मनोवैज्ञानिक घटकों (psychological components) को उत्तरदायी माना है। Everett(1955) ने सर्जनशीलता (creativity) तथा प्रर्वतक व्यक्तित्व (innovative personality) को आधुनिकता का प्रमुख कारण माना है। इनका विश्वास है कि परम्परात्मक समाज से आधुनिक समाज की ओर परिवर्तन तभी सम्भव है जब प्राधिकारपरक व्यक्तित्व (authoritarian personality) में प्रवर्तक प्रकार (innovative type) के व्यक्तित्व की ओर से परिवर्तन हो। प्राधिकारपरक व्यक्तित्व परम्परात्मक समाज की विशेषता है। प्राधिकारपरक/सत्तात्मक व्यक्तित्व से प्रर्वतक व्यक्तित्व की ओर परिवर्तन कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर Hagen(1935) ने अपने पद प्रतिष्ठा के प्रत्याहरण (withdrawl of status respect) के सिद्धान्त के द्वारा किया है। इस प्रकार (McClelland (1958) ने उपलब्धि– अभिप्रेरणा को आधुनिकीकरण का मुख्य कारण माना है। उनका विश्वास है कि जब तक समाज के अधिकांश सदस्यों में उपलब्धि की तीब्र इच्छा नहीं होगी, तब तक वह आधुनिक समाज का निर्माण नहीं कर सकता। इन्ही की भॉति Lesner (1983) ने परानुभूति (empathy) तथा सहभागी व्यक्तित्व (participant personality) को आधुनिकता के लिये आवश्यक माना है। इनका विश्वास है कि व्यक्तियों में परानुभूति की विशेषता का होना आधुनिक समाज की पहचान है।

इन अनुभवजन्य प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि आधुनिकता मनोविज्ञान एवं समाजशस्त्र दोनों ही विषयों के अनुसंधानकर्ताओं के अध्ययन का केन्द्र रहा है। परन्तु दोनों ही विषय के

अनुसंधानकर्ताओं ने परोपकारिता पर आधुनिकता के भिन्नतापरक प्रभाव का प्रकार्यात्मक अध्ययन नहीं किया है। इसी रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये यहां एक प्रयास किया गया है।

विधि

प्रतिदर्श एवं प्रक्रिया

परोपकारिता पर आधुनिकता की भिन्नतापरक मात्रा के प्रभाव के अध्ययन के लिये कुल 240 उत्तरदाताओं का यादृच्छिक चयन किया गया। सर्वप्रथम उन पर आधुनिकता मापनी (अहलूवालिया एवं कालिया) को प्रशासित करके उन्हें उच्च एवं निम्न आधुनिकता समूहों में वर्गीकृत किया गया। तत्पश्चात उन पर परोपकारिता मापनी (आलम) को प्रशासित किया गया और प्रदत्त संकलन किया गया।

परिणाम एवं व्याख्या

तालिका 1

परोपकारिता मापनी पर उच्च एवं निम्न आधुनिक समूह के उत्तरदाताओं का मध्यमान प्राप्तांक, प्रामाणिक विचलन एवं टी मूल्य

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रा0वि0	टीमूल्य	स्तर
उच्च आधुनिकता समूह	120	40.00	4.12	4.08	.01
निम्न आधुनिकता समूह	120	43.10	4.22		

आधुनिकता एवं परोपकारिता के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों का विश्लेषण यह इंगित करता है कि निम्न आधुनिकता समूह (मध्यमान= 43.10 ± 4.22)की तुलना में उच्च आधुनिकता समूह(मध्यमान= 40.00 ± 4.12) के उत्तरदाताओं में परोपकारिता की मात्रा कम पाई जाती है क्योंकि उनमें पीढ़ी रिक्त (generation gap) का प्रभाव अधिक पाया जाता है (Enayatullah & Ishrat 1997), नगरीकरण, आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण के कारण उनकी आर्थिक संरचना कुप्रभावित होती है (Bhatt & Dhruvarajan 2001), उनका पालन–पोषण व्यष्टिपरक विधियों द्वारा होता है, उनमें उपलब्धि अभिप्रेरणा की मात्रा अपेक्षाकृत कम पाई जाती है (Prasad 1974), उनमें नवीन सूचनाओं को प्राप्त करने की प्रवृति अधिक पाई जाती है (Trivedi 1973), उनमें धार्मिकता की मात्रा कम पाई जाती है (Imam 1970), उनमें आर्थिक मूल्य उन्मुखता अधिक पाई जाती है (Krishnamurthy 1987), उनमें अति सक्रियतावाद की मात्रा अधिक पाई जाती है (Beriot 1973), उनमें पर्याप्त मात्रा में सामाजिक असुरक्षा पाई जाती है (Bhatt & Dhruvarajan 2001), उनमें प्राधिकारवाद (authoritariansim) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है (Shah 1972), उनका आकांक्षा स्तर उच्च होता है (Singh 1972), सामाजिक प्रथायें उनके लिये महत्वहीन होती हैं (Imam 1970), उनमें वैज्ञानिक तार्किक उन्मुखता (scientific rational orientation) की मात्रा पाई जाती है (Trivedi 1974), उनमें सामाजिक एवं राजनीतिक सहभागिता अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है, उनका आकांक्षास्तर उच्च होता है, वे प्रतियोगी, उद्यमशील, प्रतिस्पर्धी एवं नवाचारी होते है, उनमें जीवन के नूतन अवसरों के प्रति अधिक अनुक्रियाशीलता पाई जाती है, धर्म के प्रति तर्कणापरक अभिवृत्ति पाई जाती है, उनके ज्ञान का स्तर प्रधानतः वैज्ञानिक होता है तथा वे नैतिक रूप से तटस्थ होते है, इसलिये उनमें परोपकारिता की मात्रा कम पाई जाती है।

ठीक इसके विपरीत निम्न आधुनिकता समूह के उत्तदाताओं में परोपकारिता की मात्रा अधिक प्राप्त की गई है क्योंकि उनकी आर्थिक संरचना अधिक संगठित होती है (Bhatt & Dhruvarajan 2001), उनके पालन पोषण में समूहपरक (collectivistic) विधियों का प्रयोग होता है (Patel & Power 2002), उनमें उपलब्धि अभिप्रेरणा और प्रतिबद्धता की मात्रा अधिक पाई जाती है (Prasad 1974), वे नवीनता को अधिक महत्व न देकर

परम्परा को अधिक महत्व देते है (Trivedi 1973), उनमें प्राधिकारवाद की मात्रा कम पाई जाती है (Shah 1976), उनमें निम्न आकांक्षा स्तर पाया जाता है (Singh 1972) उनमें अपेक्षाकृत धार्मिकता अधिक पाई जाती है (Imam 1970), उनमें अनुनयता (persuation) अधिक पाई जाती है (Krishnamurthy 1987), उनमें अति सक्रियतावाद की मात्रा निम्न पाई जाती है (Beriot 1973), उनमें पीढ़ीरिक्ति (generation gap) का प्रभाव कम पाया जाता है (Enayatullah & Ishrat 1997), वे पारम्परिक मूल्यों को महत्ता प्रदान करते हैं (Bhatt & Dhruvarajan 2001), वे सामाजिक शिष्टाचार एवं सामाजिक प्रथाओं को अधिक महत्व देते हैं (Imam 1970), उनमें काल बोध की मात्रा या तो शून्य होती है या उसका स्तर निम्न होता है, वे भाग्यवादी होते हैं, उनमें उच्च कर्मकाण्ड़ की प्रधानता पाई जाती है, वे धार्मिक क्रियाओं के अनुपालन पर विशेष बल देते हैं तथा उनके विचारों में अध्यात्मवाद एवं व्यक्तिवाद की प्रधानता पाई जाती है, इसलिये उनमें परोपकारिता की मात्रा अधिक पाई जाती है।

सन्दर्भ

Beriot, Colette (1973) Attitude towards modernization: Activism. Journal of Psychological Researches 17(2),54-58.

Bhatt & Dhruvarajan (2001) The impact of modernity on consumption Simmel's philosophy of money: Advances in Consumer Resaearch Vol 21, p 65-69.

Enayatullah & Ishrat (1997) Effect of modernity in baptized and non-baptized tribal groups of Bihar, Indian Journal of Psychological Issues (June & Dec)5 (182),19-24.

Gore N. S. (1971) Urbanization and family change: Bombay, Popular Prakashan.

Hess U. & Hagen (2006) The intensity of facial expression is determined by underlying affective state ad social situation. Journal of Personality and Social Psychology 69, 280-288.

Imam Z. (1970) Modernization Seminar, 125, 15-17.

Lerner (1928) Modernization individual modernity and fertility. In J. T. Fawcett(ed.) Psychological Perspectives on Population, New York

Mc Celland D. C. (1958) The achieving society N. J. D. Von Nostrand

Parsons T. (1951) Some consideration on the theory of social change. Rural Sociology 26, 219-239.

Prasad R. (1974) Measurement of socio-economic and psychological characteristics, Indian Journal of Industrial Relations, 9,(3),427-434.

Rosto (1960) “Eugene Weber's France” Journal Social History Vol. 25.

Sharma S. (1978) A study of job involvement in relation to certain demographic variable among white and colour workers. Indian Psychological Review 16, 11-16.

Trivedi, D. N. Caste (1973) Modernization and institutionalization change. Eastern Ansthropologist,26(3),235-245.

Trivedi ,D. N. (1974) Modernization of rural society: Differential acceptance of change. Social Action, 24(3), 260-268

Demographic Patterns and Autonomy Motive

-Dr. Tasneem Jamali

Murray states that the existence of a need can be inferred on the basis of (a) the effect or end result of the behaviours, (b) the particular pattern or mode of behaviour involved (c) the selective attention response to a particular class of stimulus objects (d) the expression of particular emotion or effect and (e) the expression of satisfaction when a particular effect is achieved or disappointment when the effect is not achieved (Murray 1938).

According to the above definition and criteria for inferring or calcifying social needs, Murray (1938) following the intensive study of a small number of subjects, arrived at a tentative list of twenty needs viz. need for abasement, achievement, affiliation, aggression, autonomy, counteraction, deference, dominance, exhibition, harm avoidance, inavoidance, nurturance, order, play, rejection, sentience, sex, security, and understanding. Although, this list has been subjected to considerable modification and elaboration, the original twenty needs remain highly representative. The list of twenty needs and their definitions as given by Murray are not present in all people. Some people never experience certain needs in their life times while others may run the gamut of the entire list and do so in a relatively short period of days/weeks.

METHOD

Sample and Procedure: 60 university students were randomly selected from Shibli National College Azamgarh ranging in the age of 17 to 21 years of age in this study for each demographic variable.

RESULT & INTERPRETATION

Table : 1 Showing Mean, SD and t-values on Autonomy Motive of Male and Female college students:

Sex	N	Mean	SD	t-value	Level
Male	30	15.3	1.23	7.83	.01
Female	30	12.4	1.59		

The difference between these two groups is significant and reliable. There is reason to believe that sex/gender has produced change in the Autonomy Motive of Male and Female students. Table :1 shows that Sex has affected significantly the Autonomy Motive scores of college students. Male students have scored

*P.G. Dept of Psychology, Shibli National PG College, Azamgarh (U.P.)

comparatively higher score than the Female students.

Table : 2 Showing Mean, SD and t-values on Autonomy Motive of Rural and Urban college students.

Culture	N	Mean	SD	t-value	Level
Rural	30	12.3	1.48	4.67	.01
Urban	30	14.4	1.99		

The difference between these two groups is significant and reliable. There is reason to believe that culture produced change in the Autonomy Motive of Rural and Urban college students. Table 2 shows that culture has affected significantly the Autonomy Motive scores of Rural and Urban college students. Rural students have scored comparatively lower score than the Urban students.

Table : 3 Showing Mean, SD and t-values on Autonomy Motive of First Born and Last Born college students.

Birth Order	N	Mean	SD	t-value	Level
First Born	30	13.5	1.68	3.44	.01
Last Born	30	11.4	2.19		

Table :3 shows that Order of Birth has affected significantly the Autonomy Motive scores of First Born and Last Born college students. First Born college students have scored comparatively higher score than the Last Born students.

Table: 4 Showing Mean, SD and t-values on Autonomy Motive of Forward Caste and Scheduled Caste (SC) college students

Caste	N	Mean	SD	t-value	Level
Forward Caste	30	15.5	1.68	6.56	.01
S C	30	12.2	2.19		

The difference between these two groups is significant and reliable. There is reason to believe that Caste produced change in the Autonomy Motive of Forward Caste and SC college students. Table 4 shows that Caste has affected significantly the Autonomy Motive scores of Forward and SC college students.

Table 5 Showing Mean, SD and t-values on Autonomy Motive of Hindu and Muslim college students

Religion	N	Mean	SD	t-value	Level
Hindu	30	13.2	1.99	3.58	.01
Muslim	30	11.3	2.12		

Table 5 shows that Religion has affected significantly the Autonomy Motive scores of Hindu and Muslim college students. Hindu students have scored comparatively higher score than the Muslim students.

Reference-

Bandura, A.(1989)' Human agency in social cognitive theory', American Psychologist 44: 1175-84.

De Charms, R.(1968): Personal causation New York, ACADEMIC press.

Deci, E.L., Koestner R and Ryan, R.M.(1999) 'Ameta-analytic review of experiments examining the effects of extrinsic rewards on intrinsic motivation; Psychological Bulletin 125: 627-68.

Deci, E.l. and Ryan, R.M.(2000) 'The “what” and “why” of goal Pursuits: Human needs and the self- determination of behavior', psychological inquiry 11:227-68.

Ryan, R.M. and Deci E.L. (2006) 'self-determination theory and facilitation of intrinsic motivation, social development, and well-being ; American Psychologist 55: 68-78.

मनोविज्ञान

The Effect of Hypertension on Diabetic Patients

-Dr. Akanksha Srivastava*

The subject of the present study were 100 diabetic patients. The control group consisted of 100 normal subjects not having suffered from any ailment during the past one year. Subject belonging to both groups were administered Jodhpur Multiphase Personality Inventory. The study showed that diabetic patients and normal respondents differ in their hypertension problem.

Hypertension is generally known as high blood pressure and is usually considered a psycho physiological disorder (Sarason & Sarason, 2002). A blood pressure level that is over 140 when the heart contracts (Systolic Pressure) and dose not fall bellow 90 when the heart relaxes (diastolic pressure) is usually considered high.

High blood pressure is a major contributor to cardiovascular disorders and is on of the conditions that creates increased risk of heart attacks. Usually it is a silent or symptomless risk because the hypertensive individual might show unobservable sings of a medical problem the most common major chronic disease in all the countries of the world.

Now-a days diabetes has become a serious health problem. It develops as a result of insufficient insulin. The body of a person suffering from diabetes becomes unable to properly utilize the foods he or she consumes. The development of diabetes results in thirst, tiredness, increased urine, changes in weight and so on (Gleitman, 1982). Such problems lead to decreased level of adjustment and poor health, both, physical and psychological. Diabetes may cause some other psycho physiological problem also on such as anxiety, stress, depression, hypertension etc. The persons suffering from diabetes also report relatively more psychosomatic problem as comared to normal individuals (Carson etc. 1998 : Carlson, 1990).

Like diabetes psychosomatic problems also affect adversely the physical also affect adversely the physical and psychological well-being of the individuals.

Hypothesis :-

To Compare normal subjects and diabetic patients from the point of view of hypertension.

Methodology:-

Sample of the present study was constituted with diabetic and normal subjects. Both the group consisted of 100 subjects each, this making the strength of the sample 200.

Tool:-

The II part of Jodhpur Multiphasic Personality Inventory (JMPI). JMPI has been costructed by Joshi & Malik (1983).

Result & Discussion:-

whether or not diabetic patients suffer more form hypertension than normal subjects It may be noticed from result table that on this scale also the diabetic subjects have scored a higher mean value than the normal subjects. It is obvious from result table that mean and SD values of diabetic subjects are

*Assistant Prof. Mohmmad Hasan P.G. College Jaunpur (U.P.)

33.91 and 7.4 respectively. The group of non-diabetic subjects have scored a relatively low mean value. Its mean and SD values are 30.94 and 6.5 respectively. There is apparent difference between means of the two groups on hypertension scale. This suggest that diabetic patients feel more hypertension related problems than the non-diabetic subjects.

Result Table

Showing mean & SD value between non-diabetic & diabetic group effect of hypertension on psychosomatic scale.

Group	Hypertension			
	Mean	S.D.	C.R.	P
Non-Dia sub	30.94	6.5	2.09	.05
Diabetic Sub	33.91	7.4		

The critical ratio has been calculated to see the significance of difference between the two means. It may be observed from result table that the obtained C.R. (2.09) is significant at .05 level. This clearly suggests that the difference between the two means is real, not attributable to chance variable. In other words, diabetic patients and normal subjects differ significantly with each other so for as experiencing the hypertension is concerned.

According to Jorgensen et.at. (1996), there is growing evidence that personality constellations including anxiety, anger and depression contribute to elevated blood pressure.

Hypertension leads to many types of behavioral problems. For example it is related to assertiveness which is defined as the ability to stand up for one's right; express feeling and avoid mistreatment by others. (Sarason & Sarason. 2002).

Unfavorable environment may also contribute to hypertension. (Sehnall et. at. 1990).

The diabetic patients and normal subjects on hypertension scale suggests that diabetic patients feel more hypertension related problems. The diabetic group obtained a higher mean value than the non-diabetic group. This suggests that diabetes is an important cause of hypertension.

Keeping in view of the present study some suggestions may be offered to conduct further studies in this area

1 The data collection in the present study based on the pattern of single shot studies. So it would be better if the process of data collation is repeated . Such an approach will be helpful in obtaining more reliable results.

2 In this study only diabetes was tapped as an independent variable. It would be more useful if some other diseases are also tapped for the porpuse of comparison.

3 The collation of data was limited to Jaunpur city and its adjoining areas only. This limit the generalizing porpuse of the finding of the present study . So it would be better if the sample is selected on a broader geographic basis.

References

1 Carlson. N.R.(1990) Psychology: The Science g Behavior. Allyn becon Boston.

2 Carson, R.C. Butcher, J.N. Mineka, J. C. (1998) Abnormal Psychology and Modern Life . Allen & Bacon.

3 Gleitman , H. (1982) . Basic Psychology . Norton. N. Y.

4 Jargensen . R. S. Jognson ; B.T. Kolodziej , M.E. Scherer , G.E. (1996)Elevated blood pressure and Personality : A meta –analytic review. Psychological Bulletin. 120, 293-320.

5 Joshi , M.C. & Malik , A.K (1983). Jodhpur Multiphasic Personality Inventory. Rupa psycho. corpon, Varanasi .

6 Sarason, I.G sarason , B.R. (2002). Abnormal Psychology :The problem of maladaptive behavior . Pearson Education. Singapore.

7. Sehnall et. al. (1990). The relationship between job strain, work place , diastolic blood pressure and left ventricular mass index .Journal of the American medical Association, 263,1929-72.

मनोविज्ञान

Patience : A dimension of Social Intelligence and Depression

-Rudal Yadav*

The purpose of the present investigation was to determine the impact of different levels of Patience - a dimension of Social Intelligence employing 120 male and female undergraduates. Respondents were administered Social Intelligence Scale (Chadha & Ganeshan) and Beck Depression Inventory (Sinha & Kapoor). The results indicated that (a) Respondents belonging to Below Average Patience Group have obtained comparatively higher mean score on Beck Depression Inventory than the respondents of Above Average Patience group, and (b) Female respondents were found more vulnerable to depression than male respondents. All the F-ratios were found statistically significant.

Introduction

Social intelligence is closely related to cognition and emotional intelligence and can also be seen as a firesh level in developing systems intelligence. Research psychologists studying social cognition and social neuroscience have discovered many principles which human social intelligence operates. More recently, Daniel Goleman (2003) has drawn on social neuroscience research to propose that social intelligence is made up of a social awareness (including empathy, attunement, empathic accuracy, and social cognition) and social facility (including synchrony self presentation, influence and concern Goleman's immense research indicates that our social relationships have a direct effect on our physical health and deeper the relationship the deeper the impact.

Term 'Patience' was operationally defined as "calm endurance under stressful situations". There is no doubt that patience, persistence and persiperation make an unbeatable combination for success. Patience is bitter, but its fruit is sweet. A man who is master of patience is master of everything else. Good character is not formed in a week or a month. It is created little by little, day by day, Protacted and patient effort is needed to develop good character. So, patience is necessary for every individual and one can not reap immediately where one has sown. It is an art of hoping and we can remove mountains with patience and deligence like faith. Patience is the best remedy for every trouble. All individual commend patience, but few are willing to practice it. The keys to patience are acceptance and faith. It s a blending of moral courage with physical timidity. Thus, we can conclude that patience have magical effect before which difficulties disappear and obstacles vanish.

Some personality factors do also act as antecedent of depression. Personality factors like

*Head, Dept. of Psychology, RajdeoKrishakMahavidyalaya, Surai, Sathiaon, Azamgarh (U.P.)

responsibility, dominance, self- concept, ego-strength, and emotional stability seem to be associated with depressive symptoms. Observation has been that persons who have poor sense of responsibility, negative self-concept, poor ego-strength, are likely to exhibit stronger depressive tendency than those who have comparatively better sense of responsibility, stronger ego strength, and, positive self-concept. Likewise, poor emotional-stability also show higher degree of depression. Dominance is least likely to make persons prone to the depression. Needless to say, low quality of judgmental and decisionness traits also make the persons prone to the depressive tendency. Keeping these facts in mind, the investigator tried to explore the impact of different levels of patience-a dimension of social intelligence on depression.

Method

Sample

The sample consisted of 120 male and female undergraduates studying in different streams e.g. Science, Arts and Commerce were randomly selected. The average age of Ss was 18.5 years with a range from 17 to 20 years.

Tools

1- Social Intelligence Scale - N.K. Chadha & Usha Ganeshan

2- Beck Depression Inventory - Sinha&Kapoor

Procedure

To explore the impact of different levels of patience on depression, the respondents were categorized into Above Average and Below Average groups on the basis of their respective scores obtained on Patience Sub-scale of Social Intilligence Scale. After that, they were administered Beck Depression Inventory.

Result & Interpretation

Table-1

Showing Mean and S.D. values obtained on Beck Depression Inventory by respondents of different levels of Patience and Sex

Sex	Levels of Patience		Grand Mean
	Above Average	Below Average	
Male	A N = 30 M = 7.30 = 1.89	B N = 30 M = 8.90 = 1.73	E N = 60 M = 8.10 = 1.81
Female	C N = 30 M = 9.2 = 1.86	D N = 30 M = 10.9 = 2.01	F N = 30 M = 10.05 = 1.94
Grand Mean	G N = 60 M = 8.25 = 1.86	H N = 60 M = 9.90 = 1.88	

Mean performance of Above Average respondents on BDI = 8.25 $\pm$ 1.86

Mean performance of Below Average respondents on BDI = 9.90 $\pm$ 1.88

Mean performance of Male respondents on BDI = 8.10 $\pm$ 1.81

Mean performance of Female respondents on BDI= 10.05 $\pm$ 1.94

(a) The obtained Mean values indicate that respondents belonging to Below Average Patience group were more vulnerable to depression than the respondents of Above Average Patience group, and

(b) Female respondents were found more vulnerable than male respondents.

To test the significantness of these mean differences : Two-way-Analysis of Variance was computed and obtained F values were presented in Table-2.

<u>Table - 2</u>

Summary Table : Two-way Analysis of Variance

Source of Variance	Sum of Squares	df	Mean Squar	F Value	Level of Significance
A=Patience	15.18	1	15.18	8.12	.01
B = Sex	15.61	1	15.61	8.35	.01
Interaction : A×B	14.64	1	14.64	7.83	.01
Within (Error)	216.00	116	1.87		
Total	**262.35**	**119**			

A close inspection of Table-2 reveals that all F-values were found significant at respectable level of significance. The interaction between A×B was also found significant at .01 level of significance. Meaning thereby that the interaction variance was also significant at respectable level of significance which shows strong association between all the variables i.e. level of Patience, Sex and Depression.

A high depression among Below Average respondents on Patience dimension can be accounted for the fact that Below Average respondents lack the quality of endurance, tolerance, faith, courage, grace, openness, love, perseveration and dedication. They have no systematic pattern of patience, compassion and deligence. That is why they were found more vulnerable to depressive tendency. Whereas Above Average respondent were considered as self-assured, ambitious, sociable, competetive, risk-taking, hard-working, determined, accepting, shrewed and positive. These personality traits of Above Average (more confident) helps them to reduce their depressive tendency. Thus, we can conclude that, "Even a happy life can not be without a measure of darkness, and the word happy would loose its meaning if it were not balanced by sadness. It is for better take things as they come along with patience and equanimity- Carl Jung.

References

Goleman, D. (2003) : Working with emotional intelligence, New York, Bantain Books.

Chadha, N.K. &Ganeshan, G. (2005) : The Social Intelligence Scale, National Psychlogical, Corporation, Agra.

Sinha, L.N.K. &Kapoor, A.P. (2000) : Beck Depression Scale, P.G. Dept. of Psychology, Patna University, Patna.

मनोविज्ञान

Culture and Job Satisfaction

-Dr. Himbala*

The present study investigated the impact of culture (Rural-Urban) on job satisfaction of primary teacher respondents of Vaishali district ranging in the age range of 30 to 45 years of age. The technique of sampling employed was stratified random sampling. The sample was stratified into two strata on the basis of residential background. The instrument employed for the collection of data was Job Satisfaction Questionnaire. Findings revealed that higher mean of urban respondents (M=45.30 $\pm$ 13.69) have shown stronger job satisfaction than their rural counterparts (M=41.63 $\pm$ 10.57). The obtained t value (t=21.21 >.01) was found statistically significant.

It has become a truism that the cultural and social background of an individual moulds his experience and behavior in a great many ways. Culture is a sort of interpersonal environment. Since the emergence of interdisciplinary approach in social science and interaction among psychology, sociology, anthropology etc. culture variable has assumed new significance.

A fish is not aware that it is in water, nor are we generally conscious that we live in a culture. David Fzench (1963), the anthropologists, note that "it is for us to "forget" our culture, even after we have become intellectually convinced that we have one. Our culture becomes for us, "The way people do things" and ordinarily come as a shock when we step in to another culture and find that people do things differently".

Lindgren (1971) notes, that "culture consists of the overriding system of values, beliefs, norms, artifacts and symbols that have been developed by a society and are shared by its members. Each society develops ways of coping with its environment and making sense out of it. These approaches tend to become systematize and are transmitted to the following generations where environments are relatively stable. Culture may persist over long period of time with relatively little change but market changes in the environment lead to changes in the culture.

Cultures function to reduce variability in the environment and make its more predictable and manageable. For example, the effect of variations in weather is reduced by clothing, housing, air-conditioning and heating. The system of artifacts developed become, in turn, part of the environment with which the society must cope.

The behavior patterns produced by a society also serve to reduce variations in human behavior. Social norms limit the way in which a society's member may express their attitude, beliefs and

*Asstt. Prof. A.P.B.S. College, Nadaul, Masaurhi, Patna

behavior and interact with another, but the compensating reward for this loss of freedom with the behavior of others.

The restrictions or norms imposed by a society's culture are seldom viewed as objectionable by its members. They become so natural, so much a part of us, that we are oblivious of their existence, and it is only when we encounters other who behave according to a different set of norms that we are conscious of such a thing as a "Culture" (Lindgrem 1971).

In Indian perspective, habitat is supposed to exercise differential cultural effect. Therefore, in our country rural folk are supposed to differ from their urban counterpart with regard to overriding system of values beliefs, norms, attitudes, artifacts and symbols that have been developed by their respective rural and /or urban societies and /or shared by its members.

The sample of the present study included primary school teachers from both rural and urban cultures. Hence, it was decided to probe the impact of rural-urban culture on job satisfaction of primary school teachers.

Method

Sample

The study was carried out among 200 primary teacher respondents. Among them 100 were rural and 100 were urban primary school teacher ranging between 30 to 45 years of age. The respondents were matched in terms of their profession.

Tools

1- Job Satisfaction Questionnaire

Procedure

All the primary teacher respondents were selected from Vaishali district and categorized into rural and urban groups. After that, they were administered Job Satisfaction Questionnaire to explore the impact of residential teachers.

Result and Interpretation

Table-1: Showing Mean, S.D. and t values obtained on Job Satisfaction Questionnaire.

Respondents	N	Mean	SD	T ratio	Level
Rural	100	41.63	10.57	21.21	.01
Urban	100	45.30	13.69		

From Table-1 it is evident that urban teacher respondents (M=45.30 $\pm$ 13.69) have been scored comparatively higher mean score on Job Satisfaction Questionnaire than rural primary teachers (N=41.63$\pm$10.57) meaning thereby that urban teachers were found more satisfied with their job than rural teachers. Obtained mean difference was found statistically significant at respectable level of significance (t=21.12 > .01).

It may be because of the fact that natural disasters in the form of heavy rain, drought and flood etc not only influence the crops of rural respondents but also produce in them an anxiety and depression and make them fatalism.

Apart from these factors villagers are often involved in court cases because of their struggles to land etc. This is also a cause of their monetary exploitation and their anxiety and depression. Rural teacher is to have lower evaluation of himself and his worth. Rural teachers are more oppressive (Srivastava 1982). Rural atmosphere is less congenial, and people in rural areas get lesser opportunities to express and exchange their ideas and feelings.

Whereas people living and serving in urban areas mostly depend on service, business and other professions where natural disasters does not create much uncertainty in their living. Urban teachers are provided better school conditions, recreational,

medical and other facilities. Urban schools are equipped with modern facilities like education, health, communication etc. The teaching practices adopted by urban teachers are quite different. Urban teachers are more expressive (Srivastava 1982) and creative (Ameerjan 1980). Urban atmosphere is more congenial to free thinking and expression and exchange of ideas and feeling. Hence, urban atmosphere is more congenial to the development of creative and effective teaching. That is why urban teachers were found satisfied with their job than their rural counterparts.

References

Ameerjan, A.S.(1980): The cultural background of creative personalities. Perspective in Psychological Researches, 12,(2) 17-21.

Fzench, D. (1963): Awareness of culture. Chicago, Aldive.

Lindgreen, H.C. (1971): An introduction to Social Psychology, Wiley Eastern Private Ltd. New Delhi.

Srivastava, P.(1982): Effects of Cultural belongingness in relation to social change Indian Journal of Psychology, 70, 3 & 4, 77-81.

मृदागढ़ी से लोहागढ़ तक

–डॉ०अ ालोकक ुमार*

भौतिक उन्नति हेतु उपलब्ध भौगोलिक संसाधनों का उपयुक्त व सामयिक उपयोग आवश्यक है। यह किसी भी जातिगत समूह अथवा समाज को उन्नति एवं एक नवगठित राज्य को नवीन प्राण वायु व रक्त वाहिनी प्रदान करता है। भौगोलिक संसाधन स्थानीय व अति सुलभ होते हैं साथ ही उनकी विशिष्टताओं (गुण–दोष व लाभ–हानि) से समाज परिचित भी होता है। इसीलिए भौगोलिक संसाधनों को आधार बनाकर राज्यों ने जब–जब नीति निर्धारण किया (प्रशासनिक, राजनीतिक, युद्ध–नीति व रणनीति) सदैव सफलता ने उनके कदम चूमे हैं, इतिहास ऐसे प्रमाणों से परिपूर्ण है–

प्रस्तुत शोध पत्र में भरतपुर राज्य के निर्माण के प्रथम चरण में शक्ति केन्द्र के रूप में प्रयुक्त की गई 'मृदा गढ़ियों' की संरचना, निर्माण, भौगोलिक उपयोगिता तथा युद्धनीति गत सफलता के फलस्वरूप किस प्रकार 50.60 वर्षों के अन्तराल में ही एक नए विशाल 'जाट साम्राज्य' के निर्माण की रूपरेखा बनी, इसका निरूपण किया गया है। यह शोध पत्र 'मृदा गढ़ी से लोहागढ़ तक' जाटजाति की अपनी भौगोलिक अवस्था की विशिष्टताओं के प्रति जागरूकता, ग्रामीण परिवेश के बावजूद वैज्ञानिक व तकनीकी मेधा, समसामायिक व सामरिक महत्त्व के आधार पर मृदा गढ़ियों के निर्माण व उनके सटीक उपयोग का वर्णन है। साथ ही भौगोलिक संसाधनों के सटीक प्रयोग से किस प्रकार एक कृषक जाति ने, विशाल संसाधनों से परिपूर्ण मुगल साम्राज्य से टक्कर लेकर, अपना नया व सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, इसका भी वर्णन है। इतना ही नहीं, नव स्थापित राज्य भरतपुर के भविष्य की सुरक्षा हेतु – 'लोहागढ़' दुर्ग का निर्माण करवाया। अपराजेय मानी जाने वाली ईस्ट–इण्डिया कम्पनी सेना व सेना नायकों को, लगातार चार आक्रमणों में धूल चटा कर अपनी 'लोहागढ़' संज्ञा को चरितार्थ भी किया।

17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जाटों ने हिन्दुस्तान में खलबली बढ़ा दी थी। इस शूरवीर कृषक जाति ने 18वीं सदी के अर्द्धांश (1750 ई. तक) की समाप्ति तक अपनी शक्ति के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर लिया था। साथ ही उनके अधिकार में इस देश का इतना विशाल भू–भाग आ गया था जिसने उनकी आर्थिक स्थिति को अत्यधिक सृदृढ़ बना दिया था। भरतपुर राज्य के निर्माण में थून, डीग, कुम्हेर, वैर व भरतपुर के दुर्गों का अपरिमित योगदान राजस्थान व भरतपुर राज्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इन दुर्भेद्य दुर्गों के अतिरिक्त 'विराट जाट साम्राज्य' (महाराजा सूरजमल कालीन) की सुरक्षा, व्यवस्थित शासन व्यवस्था, शासक वर्ग व जनता के निवास हेतु समय–समय पर अनेकानेक दुर्गों को विजित किया गया और कुछ का पुनर्निर्माण किया गया। ऐसा नहीं है कि इन सभी विशाल गढ़ों का निर्माण व भरतपुर राज्य की स्थापना का प्रयास वीरवर गोकुला, राजाराम, रामचहेरा, भज्जा,

*एसोसिएट प्रोफेसर, एम.एस.जे. कालेज, भरतपुर (राजस्थान)

ब्रजराज तथा चूणामन द्वितीय के अथक प्रयासों व बलिदान से ही फलीभूत हुआ हो, वरन् इन आन्दोलनकारियों द्वारा मुगल साम्राज्य के विरुद्ध 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, आरम्भ किए गए जन–आन्दोलन को 'गति', 'सुरक्षा' व 'संरक्षण' भरतपुर क्षेत्र की भौगोलिक संरचना से भी प्राप्त हुआ। इस क्षेत्र का भौगोलिक 'आधार व आकार'–दलदली भूमि तथा तश्तरीनुमा होने के कारण, यहाँ पर सघन वनों की श्रृंखला तथा काँटेदार झाँड़ियों की उपलब्धता के रूप में रही।

भौतिक रूप से भरतपुर राज्य ट्रॉन्स–यमुना मैदान के अन्तर्गत आता है जो नदियों की बाढ़ के निक्षेप से बना हुआ एक जलोढ मैदान है, जिसमें केवल कुछ स्थानों पर कुछ प्राचीन पहाड़ियाँ बिखरी हुई मिलती हैं जो अरावली पर्वत श्रृंखला का अंग है। इस क्षेत्र की मिट्टी मुख्यतया जलोढ, बलुई व चीका किस्म की है जिसमें पर्याप्त उर्वरता पाई जाती है। इस क्षेत्र में 17वीं सदी में बड़ी मात्रा में नदियों की बाढ़ के कारण विशाल व घने वनों का फैलाव था। बाढ़ के लिए इस क्षेत्र की बाणगंगा, रूपारेल, गम्भीर व काकुन्द नामक बरसाती नदियों की मुख्य भूमिका रही। इसके फलस्वरूप बाढ़ क्षेत्र व दलदलों का निर्माण सम्भव हुआ। अपनी निम्नस्थ स्थिति (Low Lying Area) व तश्तरीनुमा आकार के कारण आसपास के अतिरेक जल का प्रवाह भी इसी तरफ केन्द्रित होकर आ जाता था। वर्तमान काल में भी 1924ए 1971.72 व 1996 ई. आने वाली समस्त बाढ़ रूपी आपदा इस भौगोलिक स्थिति के कारण ही सम्भव हुई।

मथुरा के तिलपत ग्राम से मुगलों की अराजक शासन नीतियों के विरुद्ध आरम्भ हुए जाट जाति के विद्रोह को जल्द ही डीग व उसके आसपास के क्षेत्र की इस भौगोलिक विशेषता ने अपनी छापामार रणनीति (गुरिल्ला युद्ध अथवा धार पद्धति से युद्ध) हेतु उपयुक्त स्थान प्रदान कर किया। मुगल सेनानायकों व उनके विशाल संसाधनों के विपरीत, अपने अल्प संसाधनों के आधार पर मुगल सेनाओं को टक्कर देने हेतु, यह दलदली भूमि व सघन वन क्षेत्र, जाट कृषक जाति के लिए वरदान सिद्ध हुए। जाट जाति कृषि व युद्ध अथवा 'हल व हथियार' दोनों के प्रयोग में महारथ रखती है और इन हष्ट–पुष्ट एवं पुरुषार्थी जाटों में सर्वोत्तम सैनिक बनने की क्षमता थी, यह एक सर्वविदित ऐतिहासिक व सामाजिक तथ्य है। मथुरा व ब्रज क्षेत्र के जाट कृषकों को भी मुगलों का विरोध करने में अपने इस 'जातिगत गुण' का लाभ तो मिला ही, इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति व पारिस्थितिकी (Ecology) ने भी उनका मनोबल बढ़ाया होगा। कृषक होने के नाते वे भूमि व मृदा के गुणों से पूर्णतया परिचित थे। अतः अपनी ग्रामीण 'तकनीकी मेधा' का इस्तेमाल करके एक तरफ तो जंगलों को काटकर तथा दलदलों को सुखाकर कृषि योग्य भूमि का विकास किया तो दूसरी ओर अपनी 'सुरक्षा' व 'संरक्षण' हेतु दलदल तथा वनों के मध्य 'मृदा गढ़ियों' (मिट्टी के कच्चे किलों का) का निर्माण किया जो एक दुर्ग की समस्त विशेषताओं से परिपूर्ण होती थी, केवल उनका निर्माण ही 'अतिसुलभ' मिट्टी से किया जाता था। अन्य जाति व धर्म सम्प्रदायों के जमींदारों की भाँति जाट जमींदारों ने भी अपनी रैयतों की सुरक्षा हेतु सेना की नियुक्ति कर ली थी और ये सिपाही जमींदारों के खिदमती काश्तकार अथवा उसी डूंग व पाल वंश के सदस्य ही होते थे। इतना ही नहीं इन जमींदारों ने अपनी वैधानिक सत्ता को प्रदर्शित करने के लिए अनेक सुरक्षित गढ़ियों (मिट्टी) का निर्माण भी कर लिया था। जनधन, पशुधन तथा व्यक्तिगत सामग्री की सुरक्षा हेतु गाँवों के चारों ओर आदमी की ऊँचाई बराबर एक मिट्टी की दीवार खड़ी करके कच्चे किलों या मृदा गढ़ियों का निर्माण किया गया। इन मिट्टी की दीवारों पर हर वर्षा ऋतु में मिट्टी चढ़ाई जाती थी और 'खाई' को बड़ा व गहरा किया जाता था। इस क्षेत्र व जाट राज्य के इतिहास में इस भू–भाग की चीका दलदली मिट्टी, सघन

वनों, व ऊष्ण जलवायु का विशेष योगदान रहा है। जाटों ने जब अपने राज्य का विकास किया तो उन्होंने स्थानीय मिट्टी से जिन गढ़ियों का निर्माण किया, वे दुश्मन के लिए दुर्भेद्य थे तथा उसके चारों ओर स्थित घने वन उसकी सुरक्षा व शत्रुओं को परेशान करने के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करते थे। इस क्षेत्र की शुष्क ग्रीष्म जलवायु, घेरा डालने वाली सेनाओं को जल्द ही वापस जाने अथवा घेरा उठाने को मजबूर कर देती थी। विश्व इतिहास में कृषक जाति द्वारा हथियार उठाने के अनेकानेक उदाहरण है पर मृदा निर्मित गढ़ियों का सफल प्रयोग ब्रज क्षेत्र के कृषकों द्वारा ही प्रस्तुत किया गया जबकि उन्होंने आततायी शासक वर्ग के आर्थिक व सामाजिक शोषण व अत्याचार का सामना करने हेतु हथियार उठाए और 'मिट्टी की गढ़ियों' का अपने कार्य–संचालन हेतु सफलतम प्रयोग किया।

भरतपुर राज्य के पूर्ववर्ती नेतृत्व कर्त्ताओं व संगठनकर्त्ताओं ने मिट्टी की अभेध गढ़ियों की श्रृंखला द्वारा पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य का सफलतापूर्वक सामना करते हुए एक नए राजवंश (सिनसिनवार) की नींव ही नहीं रखी वरन् कृषक प्रधान जाति समूह को राजवंशों की श्रृंखला में लाकर खड़ा कर दिया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि मिट्टी की ये 'गढ़ियाँ' भरतपुर 'जाट–साम्रज्य' की स्थापना में नींव का पत्थर सिद्ध हुई। मुगल साम्राज्य के विरुद्ध ब्रज क्षेत्र के 'विद्रोही व लुटेरे' घोषित किए जा चुके, जाट पालों के नेताओं – वीरवर गोकुला से आरम्भ होकर चूडामन द्वितीय तक – को यदि इन मृदा गढ़ियों की विशाल श्रृंखला प्राप्त नहीं होती तो संभवतः जाट विद्रोह समय के चक्र में फँसकर व मुगल साम्राज्य व आमेर कच्छवाहा नरेशों के जाट विद्रोहियों के विरुद्ध छेड़े गए लम्बे सैनिक अभियानों की भेट चढ़ गया होता। "छापामार रणनीति व मृदा गढ़ियों ने जाट विद्रोह रूपी शरीर में रक्त वाहनियों के अनुरूप कार्य किया।"

राजाराम ने इस क्षेत्र (सिनसिनी व सोगर यमुना के दोनों किनारों के) के किसानों व जमींदारों की जातीय एकता एवं पाल प्रतिबद्धता को जाग्रत करके मुगल शासन को चुनौती देने के लिए एक विशाल जातीय संगठन का प्रारूप तैयार किया। अपनी संगठनात्मक योग्यता व प्रतिभा से राजाराम ने इस संगठन को एक प्रशिक्षित व अनुशासित सैन्य संगठन में बदल दिया जिसके दूरगामी परिणाम हुए। यमुना के दोनों ओर दिल्ली से आगरा तक जमींदारों की सैकड़ों गढ़ियाँ (Mud Forts) प्रशिक्षित सैनिकों से सुसज्जित व प्रतिरक्षात्मक शक्ति से सम्पन्न हो गई। राजाराम ने इन छोटी गढ़ियों का निर्माण सड़क व रास्तों से दूर व पगडण्डी रहित वनों में करवाया तथा उन्हें मिट्टी की कच्ची दीवारों (परकोटो) से ढका गया ताकि तोपखाने के हमले का उन पर कोई प्रभाव या बहुत कम प्रभाव होता था। इन गढ़ियों ने सैनिक कार्यवाहियों के अड्डों और शरणस्थली का काम तो किया है, साथ ही राजनैतिक शक्ति व लूट से अर्जित धन को सुरक्षित रखने के काम में भी आती थी। इन स्थानों (गढ़ियों) का प्रयोग मुगल साम्राज्य के प्रति वफादार जमींदारों का अपहरण करके उनसे फिरौती वसूलने के लिए भी किया जाता था। इस प्रकार अपने निवास, सुरक्षा तथा मुस्लिम शासन के विरुद्ध आक्रामक गतिविधियों को संचालित करने हेतु थून, सिनसिनी, सोगर, अवार, उवार, कसौट, सौंख, सौंख गूर्जर, पैगोरा, अंरिग, रारह, सेवर, नोह, देहरा आदि स्थानों पर मिट्टी की गढ़ियों का निर्माण कर मुस्लिम शासन को चुनौती दी। इन मिट्टी की छोटी–छोटी गढ़ियों में आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ मौजूद थी और सुरक्षात्मक प्रबन्ध भी पूर्णता लिए हुए होते थे। ये गढ़ियाँ एक–दूसरे से कुछ–कुछ मील की दूरी पर स्थित थी और जहाँ तक चूरामन का प्रश्न था वह सदैव सभी में विद्यमान था। चूरामन ने प्रतिरक्षा व लूट का माल छिपाने के लिए अभेद्य जंगलों में नए दुर्गों का निर्माण करवाया। इस कार्य में राजाराम सहित उसके पूर्वजों की छिपी हुई दौलत काम आई। इन नए

किलों में से एक उसने थून (डीग से 11 मील पश्चिम में) के निचले दलदली और घने जंगलों के क्षेत्र में बनाया। शिवदास लिखता है कि– थून कटीली झाड़ियों के इतने घने जंगलों में घिरा था कि जिसमें से पक्षी भी गुजरने में कठिनाई महसूस करते थे। उसका 'परकोटा' स्वर्ग जितना ऊँचा था और उसके चारों ओर की खाई इतनी गहरी थी कि धरती का स्रोत फूटकर उसमें पानी आ गया था।

इन गढ़ियों की बनावट व बसावट दोनों में ही 'स्थापत्य' का न्यून समावेश भी नहीं होता था क्योंकि इनके निर्माण का मूलभूत उद्देश्य 'सुरक्षा' व 'संरक्षण' था। इसी कारण इनका निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था जहाँ पर चारों ओर सघन वन क्षेत्र तथा दलदली क्षेत्र है। 'सुरक्षा' के लक्ष्य को सामने रखकर निर्मित की गई ये गढ़ियाँ 'लघु दुर्ग' के समकक्ष होते थे जिन पर परकोटे व बुर्जों की व्यवस्था थी। इन बुर्जों पर गोलावारी हेतु छोटी–छोटी तोपों की व्यवस्था भी होती थी ताकि शत्रु पक्ष को गोलावारी करके गढ़ियों से दूर रखा जाए। इस प्रकार स्थापत्य व शिल्प रहित ये गढ़ियाँ 'सुरक्षा' की 'आवश्यकता पूर्ति' के श्रेष्ठ उदाहरण थीं। ग्रामीण कृषक समुदाय द्वारा बनाई गई ये मृदागढ़ियाँ दुश्मन के लिए दुर्भेद्य थीं क्योंकि यहाँ तक पहुँचना नामुमकिन था। इन तक पहुँचने के लिए 'विशाल संसाधनों, पर्याप्त समय व धन' तीनों की आवश्यकता थी। इन्हें विजित करने हेतु यदि उपर्युक्त तीनों के सामंजस्य के फलस्वरूप गढ़ी तक पहुँचने व उसे विजित करने का बिन्दु प्राप्त होने की स्थिति आती भी थी तो जाट नेतृत्वकर्त्ताओं के पास मौजूद मृदा गढ़ियों की श्रृंखला के फलस्वरूप वे सफलतापूर्वक दूसरे गढ़ी दुर्गों (स्थान) पर गुप्त मार्गों से निकल जाते थे और मुगलियाँ सल्तनत उन्हें पकड़ पाने में असफल रहती थी। मृदा गढ़ियों को इस श्रृंखलाबद्ध सुरक्षा व्यवस्था की भी सरिसर्प या अनेक सिखाले जल सर्प से तुलना की जा सकती है– यही कारण था कि राजाराम, चूडामन व खेमकरन को मुगल बादशाहत ने मैत्री का हाथ बढ़ाकर 'राहजन' से 'राहदार' बनाने में ही समझदारी समझी। जिस प्रकार जाट नेतृत्व को एक से अधिक पालों ने नेतृत्व प्रदान किया उसी प्रकार जाट जमींदार अपनी– अपनी गढ़ियों में एक गढ़ी के पतन के बाद दूसरी में शरण लेने व नेतृत्व प्रदान करने को सदैव तैयार थे और इसी कारण मुगल इस सघन व व्यापक मृदा गढ़ियों की श्रृंखला भेदने में असफल रहे।

इन मृदा गढ़ियों की श्रृंखला से युद्ध नीति में प्राप्त सफलता से प्रेरित होकर ही महान बदनसिंह व सूरजमल ने डीग, वैर व भरतपुर के दुर्ग में रक्षा पंक्ति की दृष्टि चारों ओर परिखा (खाई) व Mud wall inner safety हेतु बनाई। मृदा का परकोटा अंदरूनी सुरक्षा हेतु भरतपुर के दुर्ग में रक्षापंक्ति की दृष्टि से दुर्ग के चारों ओर 200 फीट चौड़ी व 50.60 फीट गहरी परिखा (खाई) का निर्माण करवाया गया। इस परिखा से प्राप्त मिट्टी का उपयोग अत्यधिक चौड़ी (आधार पर 200 फीट चौड़ी व ऊँचाई के उन्नतम स्तर पर 60 फीट चौड़ी) 'प्राकार' (चारदीवारी) का निर्माण करने के लिए किया गया। इस Mud wall के कारण, जो दुर्ग के 'प्राकार' से ऊँची थी, ईस्ट इंडिया कम्पनी की लार्ड लेक के सेनापतित्व में आई सेना को लगातार चार बार किये गए आक्रमणों में असफलता का मुख देखना पड़ा और यह Mud wall उनके तोपखाने द्वारा बरसाए गए गोलो की 'कब्रगाह' बन गई क्योंकि तोप के गोले जिन्हें Low Trajectory से छोड़ा जाता था वे इस ऊँची दीवार में धंस जाते थे और High Trajectory से छोडे गए गोले Mud wall व किले को पार करके निर्जन स्थानों पर गिरे और हानिकारक नहीं हो सके। इस प्रकार लार्ड लेक का किले को जीतने का सपना, सपना ही रह गया। अतः कहा जा सकता है कि "जाट शक्ति के उद्भव व शैशवकाल की रक्षा जहाँ मृदा गढ़ियों द्वारा हो सकी वहीं जाट राज्य की रक्षा" 'लोहागढ़' द्वारा प्राप्त हुई। जबकि अपराजेय मानी जाने वाली ईस्ट इंडिया कम्पनी सेना व उसके योग्य

सेनानायकों को लगातार चार आक्रमणों में धूल चटाकर भरतपुर दुर्ग ने 'लोहागढ़' की संज्ञा को चरितार्थ किया।

संदर्भ

1. ब्रोकमैन, डी.— गजेटियर आफ ईर्स्टन राजपूताना स्ट्ेटस (1907) पृ. 6
2. ज्योगरोफिकल एटलस आफ राजस्थान— सर्वे आफ इंडिया, जयपुर, पृ. 4
3. चौधरी, राय— सोइल्स आफ इंडिया, पृ. 12
4. जिला सॉँख्यिकी रूपरेखा, भरतपुर, पृ. 8
5. मिट्टी की दीवार बनाने हेतु मृदा गढ़ी के चारों ओर खोदी गई परिखा (खाई) की मिट्टी की प्रयुक्त की जाती थी। यही तरीका भरतपुर, वैर, कुम्हेर और डीग के किलों में भी प्रयुक्त किया गया
6. हमारे समय में भरतपुर के चारों ओर लम्बाई में 8 कोस से कुछ अधिक बड़ा इस प्रकार का जंगल देखने में आता है, जो पिछले कुछ वर्षों में कटाई पर रोक लगा कर बनाया गया है (आदेश का उल्लंघन करने का दण्ड है दोनों कान काट देना) और इसे इस प्रकार अवपादपों (बड़े पेड़ों के नीचे उग आने वाले पौधों, तल झाड़ियों) समेत इतनी सर्तकता से सुरक्षित रखा जा रहा है कि उतनी संसार में अन्यत्र शायद ही कही हो। फादर वैंडल, जाट सत्ता, सम्पादन डॉ. वीरसिंह दिल्ली, 2001ए टिप्पणी, पृ. 199
7. औडायर, एम.एफ.— ऐसेसमेण्ट रिपोर्ट आफ सर्दन तहसील—भरतपुर स्टेट (1899), भाग—2 पृ. 2
8. जाट—ए—बदजात
9. यह चूरामन की नीति थी कि वह स्वयं कभी भी लम्बे समय तक एक स्थान पर नहीं टिकता था वरन् जल्द—जल्द एक स्थान से दूसरे स्थान (गढ़ी में) पर अपने चुनिन्दा साथियों के साथ लगातार स्थान परिवर्तन करता रहता था। यह स्थान सिनसिनी व अलवर के मध्य स्थित जंगल व दलदली क्षेत्र थे जहाँ पर उसने अपनी के जाट, मीना, शेखावत, राजपूत सभी को शामिल किया था
10. फादर वैण्डल, हिन्दुस्तान में जाट सत्ता, पृ. 16
11. Historical Essays – Prof. K.R. Qanungo, Vol.-II, Agra, 1968, P.No. 220-221
12. कानूनगो, के.आर. — जाटों का इतिहास, पृ. 30.31
13. इन गढ़ियों की आपसी दूरी औसतन 4.8 मील तक थी। कानूनगो, के.आर.— हिस्टोरिकल ऐसेज, पृ. 221
14. लखनवी, शिवदास— शाहनामा मुनब्बर—ई—कलाम, अंग्रेजी अनु॰ डा. सैयद हसन अस्करी, पृ. 17
15. वही, पृ. 17
16. कानूनगो, के.आर.— जाटों का इतिहास, पृ. 28

इतिहास

मध्यकालीन इतिहास सल्तनतकालीन समाज (एक संक्षिप्त पक्ष)

–डॉ०न ीलूक पूर*

सल्तनतकालीन भारतीय समाज में कई वर्ग दृष्टि में आते है। सबसे ऊपर धनी अभिजात्य वर्ग, परम्परागत हिन्दू शासक वर्ग रखे गये। सुल्तान के शासकीय सहयोगी अल्हे सैफ और अल्हे कलम में विभाजित किये गये। जिस व्यक्ति का सैनिक पद जितना ऊँचा नीचा होता था समाज भी उसे वैसे ही मानता था। इन्हें खां, मलिक, अमीर, सिपहसालार में बॉटा गया था। दूसरे वर्ग में लिपिक, खातीब, दाबिर, वजीर थे। 13वीं शताब्दी तक शक्ति का एकाधिकार तुर्को के हाथो रहा, उन्होंने एशिया की मुस्लिम जातियों का नेतृत्व किया। उन्होंने भारतीयों मुसलमानों को राजशक्ति और सरकारी नौकरियों से भी वंचित रखा। ऐबक से लेकर कैकुबाद तक सुल्तानों ने सत्ता पर तुर्को का एकाधिकार बनाये रखा। बलवन को तो निम्न कुल से अत्यन्त घृणा थी।

तेरहवी शताब्दी के अन्त तक मध्य एशिया के देशों से असंख्य मुस्लिम शरणार्थी भारत आये। अर्न्तजातीय विवाहों के कारण वे एकदूसरे से घुल मिल गये। तुर्को की जातीय श्रेष्ठता का घमण्ड टूटा और मुसलमानों की कई नई जाति बन गयी। सल्तनतकालीन इतिहास में पहली बार भारतीय मुसलमानों को शासन से सम्बन्धित करने का श्रेय अलाउद्दीन खल्जी को है, जिसने मलिक काफूर को अपना नायब नियुक्त किया।

यद्यपि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ राजपूतों ने अपने राज्य और राजनैतिक हित खो दिये थे, किन्तु राजस्थान के निकट क्षेत्रों, हिमालय के निर्जन पहाड़ी क्षेत्रों, बुन्देलखण्ड पर अभी भी उनका प्रभुत्व था। पंजाब के कुछ भागों दोआब, बिहार, गुजरात में रहने वाले राय, राणा, रावत के पास अपनी सेना थी।

सल्तनतकालीन समाज का एक तीसरा तत्व अवामे खल्फ था। समाज में एक महत्वपूर्ण अनुवर्ग उन दासों का था जिनके स्वामी सुल्तान और उमरा थे। यद्यपि प्रत्यक्ष साक्ष्य का अभाव है, तथापि यह सोचना असत्य नहीं होगा कि नगर के व्यापारियों में उनकी संख्या सर्वाधिक थी।

वास्तव में बरनी शिकायत करता है कि वैभव और भौतिक सुख साधन में वे मुसलमानों से भी आगे बढ़ जाते थे।

इस काल में हिन्दुओं की परम्परागत जाति व्यवस्था में शायद ही कोई परिवर्तन आया। इस काल के स्मृतिकार अभी भी वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों को उच्च स्थान देते थे। स्मृतिकारों ने क्षत्रिय वर्ग को जनता की सुरक्षा का कार्य सौंपकर उन्हें शस्त्र उठाने की अनुमति दी। आर्थिक रूप से लेन–देन से जुड़े वैश्य वर्ग को व्यापारी कहा गया। शूद्रों के कर्तव्य और व्यवसाय वहीं थे, जो परम्परागत भारतीय समाज द्वारा निर्धारित किये

*कमला आर्यकन्या स्नातकोत्तर महा. मीरजापुर (उ0प्र0)

गये थे। वेदों को पढ़ना और सुनना उनके लिए निषेध था, जो अब हटाया जा चुका है।

दास प्रथा –

सल्तनत काल में एक वर्ग दासों के रूप में भी जाना जाता है, इनका प्रचलन हिन्दू तथा मुस्लिम शासकों के बीच समान रूप से था। स्मृतियों में पन्द्रह विभिन्न स्थितियों का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दास बनाया जा सकता था। मुस्लिम समाज में घर की दासी से यदि गृहस्वामी द्वारा संतान हो तो वह दासी तथा उसकी संतान दोनों ही दासता से मुक्त हो जाते थे। दोनों ही समाजों में कुछ विशेष दशाओं में दासों को स्वतन्त्र करने का नियम था। मुस्लिम समाज में किसी बड़े आदमी का दास होना अच्छी बात मानी जाती थी। मुहम्मद गोरी को अपने दास रिश्तेदारों से ज्यादा प्रिय थे। उनके दासों में ताजुद्दीन यल्दौज, नासिरूद्दीन कुबाचा, ऐबक सुल्तानों के समान शक्ति रखते थे। हिन्दू समाज में दास की अपेक्षा स्वतन्त्र व्यक्ति का सम्मान अधिक था। बरनी ने दास बाजार का उल्लेख किया है कि इनका क्रय–विक्रय मवेशियों के बाजार की तरह किया जाता था। मध्य एशिया में दासों को सैनिक उद्देश्य से तथा दिल्ली में घरेलू कार्यो के लिए खरीदा जाता था। एक खास किस्म के दास जिनको बचपन में बधिया कर दिया जाता था, पहरेदारी का प्रशिक्षण दिया जाता था, इन्हें ख्वाजासरा (हिंजड़ा) कहा गया। मध्यकाल में सूफी सन्तों का जीवन उनके दासों द्वारा की गई कमाई पर निर्भर था। फिरोज शाह तुगलक को दासों से प्रेम था, उसके पास लाखों की संख्या में दास थे।

स्त्रियों की दशा –

मध्यकालीन समाज में महिलाओं की दशा पर एक सामान्य निष्कर्ष निकालना मुश्किल है क्योंकि हिन्दू और मुस्लिम समाज में सांस्कृतिक भिन्नता, उच्च व निम्न वर्ग में अन्तर था। स्त्रियों के सम्बन्ध में मुस्लिम परम्परा भिन्न–भिन्न थी। तुर्क स्वतन्त्रता देते थे तो हिन्दुस्तान में मुसलमान फारसी परम्पराओं को मानते हुए उन्हें निम्न कोटि में रखते थे। हिन्दुस्तानी स्त्री अपने पिता, भाई, पति और पुत्र के अधीन होते हुए कभी अपने को स्वतन्त्र नहीं मान पाई। मध्यकाल में उच्च वर्ग में देवलरानी, रूपमती, पद्यावती और मीराबाई जैसी स्त्रियां की स्थिति उन्नत थी। सल्तनत काल में रजिया का सुल्तान बनना यह सिद्ध करता है कि तुर्क समाज में भी महिलाएं श्रेष्ठ थी।

हिन्दू समाज में परम्परागत प्रथायें चलते हुए कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियॉ चलती रही। विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध लगा रहा। पति सेवा ही पत्नी कर्तव्य माना गया। मध्यकाल में सती प्रथा के प्रचलन पर इब्नबतूता ने ढोल की आवाज के बीच एक स्त्री के सती होने के दर्दनाक दृश्य का वर्णन किया है। उसके अनुसार स्त्रियों को सती होने के लिए सुल्तान से अनुमति लेनी पड़ती थी, जिसे (सुहमरण) कहा जाता था। मृत पति के साथ न जलना, मरना, निष्ठाहीनता और असत्यता का सूचक होता था।

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार घूंघट का प्रयोग होता था। पर्दा प्रथा को भारत में मुस्लिम शासकों ने एक संस्थागत रूप दिया। अरब और तुर्क ईरान और यूनान से पर्दा प्रथा लाये थे। शाही परिवारों में महिलाओं के लिए एक अलग कक्ष या भवन होता था, जिसके हरम कहा जाता था। मध्यकाल में पर्दा प्रथा उच्च वर्गीय स्त्रियों के सम्मान और प्रतिष्ठा का सूचक था, किन्तु रजिया द्वारा बिना पर्दा के दरबार मे आना एक विशेष घटना थी। फिरोज शाह तुगलक ने दिल्ली शहर के बाहर के मकबरों पर मुस्लिम महिलाओं के जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। सम्मानित महिलाओं के लिए बाहर जाने के लिए डोली की व्यवस्था थी। समाज में अभिजात्य वर्ग में बहुविवाह का प्रचलन था। नारी को भोग की वस्तु समझा जाता था।

खानपान –

खानपान के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान की आदतें

अलग थी। मांसाहारी मुसलमानों को मध्य तथा दक्षिण भारत के हिन्दु घृणा की दृष्टि से देखते थे। जैन, बौद्ध, ब्राह्मण तथा वैश्य शाकाहारी भोजन करते थे। पंजाब, बंगाल तथा काश्मीर में ब्राह्मण मांस मछली खाते थे। कलेवा में हिन्दू खिचड़ी या दाल चावल मुस्लिम रोटी और कबाब खाना पसन्द करते थे। उच्च वर्ग के लोग गेहूँ का आटा, चावल, उबली सब्जी, हिन्दू लोग दाल, दही, मक्खन, दूध, तेल से बनी चीजें पसन्द करते थे। सुल्तान बलबन का सेनाधिकारी सबको उत्तम पकवानों से भरे पचास थाल भर भोजन कराता था। शाही रसोईधर में भोजन की दो सूची थी। सुल्तान के लिए खास और अमीरों के लिए आम। मसाले और घी का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। अंगूर, सेब, अनार, अनानास, नारियल, खजूर, मखाना, अखरोट, पिस्ता का सेवन करते थे।

मुस्लिम लोग प्रायः भोजन के सम्बन्ध में अपने धर्म के निषेधों को मानते थे। जैसे सूअर का मांस, बिना हलाल किये पशु का मांस आदि। हिन्दू के बर्तन पीतल या कांसे के तथा मुसलमानों को तांबे या मिट्टी के बर्तन होते थे। फिरोजशाह तुगलक ने सोने चाँदी के बर्तन पर रोक लगा दी थी, क्योंकि यह कुरान के नियमों के विरूद्ध था।

वस्त्र –

मध्यकालीन समाज में लोगों द्वारा पहने वाले वस्त्र व्यक्ति की आर्थिक दशा और परिवेश के सूचक थे। मध्यकालीन सुल्तान एवं अमीर जरी वाली रेशमी और मखमली पोशाक पहनते थे। तारीख–ए–फिरोजशाही के लेखक बरनी तथा अमीर खुसरों ने सुल्तानों तथा अमीरों की पोशाक का विवरण किया है। इनमें दिवा–ए–हफ्तरंग (सात रंगों का किमखाब), बीसात–ए–जमुरादी (मोतिया रंग), जामा–ए–जारबफ्त (सोने के तारों से बुना कपड़ा) प्रमुख थे। अमीर सार्वजनिक अवसरों पर खिलअत पहनते थे। सैनिकों के लिए कोई विशेष वर्दी नहीं थी।

मजदूर और खास वर्ग के लोग सूती लंगोट पहनकर और जाड़े के दिनों में रूई भरा सूती कोट पहनते थे। उत्तरी भारत के लोग ठंड के मौसम में रूई भरी टोपी पहनते थे। अमीर लोग मखमल और जरी कके कपड़े और हीरे जवाहरात लगे जूते पहनते थे। हिन्दू संतों और सूफी संतों को उनके वस्त्रों से पहचाना जा सकता था। इन्हें रेशमी कपड़ों से परहेज था। स्त्रियों के लिए दो प्रकार की पोशाकें चलन में थी। एक लम्बी चादर और छोटी बाहों वाली चोली। विवाहित महिलाओं के अतिरिक्त गहरे रंगों की अंगिया होती थी। उच्च वर्ग की महिलायं ढीला करारा कमीज, लम्बा दुपट्टा तथा बुरका पहनती थी।

खेलकूद और मनोरंजन –

सल्तनत काल में घुड़दौड़ और खासवार पोलों का आयोजन ज्यादा होता था। पोलों के खेल में राजपूत अत्यन्त कुशल थे। घुड़दौड़ का भी शौक था। दौड़ के लिए यमन, ओमान और फारस में विशेष अरबी घोड़े मंगाये जाते थे। उस समय मनोरंजन के लिए शिकार भी एक साधन था। राजपूत भी सितारा के लिए ज्योतिषियों से घड़ी निर्धारित कराते थे। इसके अतिरिक्त पट्टेबाजी, मल्लयुद्ध, कुत्तों को दौड़ाना, तीरन्दाजी, कुश्ती, तलवारबाजी और तैराकी भी लोकप्रिय खेल थे। भीतरी खेलों में हसन निजामी, अमीर खुसरों और मलिक मुहम्मद शतरंज के खेल के अनेक सन्दर्भ देते थे।

मध्यकालीन समाज में मुशायरा, जादूगरी, कलाबाजी, बाजीगरी, नाटक, नौटंकी, प्रचलन में थे।

सूर्यास्त के पश्चात् मनाये जाने वाले जश्न जब संगीतकार और नर्तकियॉ अपना प्रदर्शन प्रारम्भ करती थी तो मदिरा का दौर चलता था। सोने और चाँदी की बौछार उनके ऊपर की जाती थी।

उत्सव और पर्व –

सल्तनतकालीन काल में बसन्त पंचमी, होली, दीवाली, शिवरात्रि, कृष्णलीला पर आधारित विभिन्न त्यौहारों को मनाया जाता था। होली शूद्रों तथा

निम्नवर्गीय हिन्दुओं का त्योहार माना जाता था। मलिक मुहम्मद जायसी ने त्योहार मनाये जाने को इन शब्दों में वर्णित किया कि पृथ्वी से लेकर आकाश तक प्रत्येक वस्तु लाल हो जाती थी, क्योंकि सिंदूर और गुलाल बिखेरा जाता था। कृष्ण भक्ति का इस काल में तेजी से प्रचार हो रहा था। मुस्लिम लोग तीर्थ के लिए मक्का की यात्रा करते थे। मुसलमानी धार्मिक क्रियाओं का माहौल शुष्क और उदासीन होता था। राज्य द्वारा मान्य त्योहारों में नौरोज एक फारसी त्यौहार था। सरकारी उत्सवों में बिना किसी वर्ग भेद या सामाजिक भेद के प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता था।

सन्दर्भ

1. डॉ0 आशीवार्दी लाल श्रीवास्तव – भारत का इतिहास (1000–1707 ई.) पृ. (100–175)
2. शक्स अफीफ – तारीख–ए–फीरोजाशाही पृ. (90–105)
3. डॉ0 आशीवार्दी लाल श्रीवास्तव – मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ. (90–120)
4. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा – मध्यकालीन भारतीय संस्कृति – पृ. (40–75)
5. हबीबुल्ला पृ. (90–120)
6. प्रो0 राधेश्याम – मध्यकालीन प्रशासन समाज और संस्कृति पृ. (140–165)
7. अवध बिहारी पाण्डेय, मध्यकालीन भारत पृ. (40–70)
8. तुगलककालीन भारत – भाग 1, पृ. (55)
9. हरिश्चन्द्र वर्मा – मध्यकालीन भारत – भाग–1, पृ. (70–90)
10. लईक अहमद, भारतीय मध्यकालीन संस्कृति, पृ. (86–97)

इतिहास

सल्तनत कालीन राजनीति में रक्त विभेद और उससे उत्पन्न संघर्ष की एक संक्षिप्त रूपरेखा (1206–1290 ई०)

–डॉ०अ ानन्दक ुमारसिंह*

भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास अनेक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में इस नवीन सत्ता के आगमन के पश्चात अनेक नये कार्य किये गये मुस्लिम शासन के आरम्भ में दो संस्कृतियों के बीच दीर्घकाल तक ंघर्ष का वातावरण बना रहा। इसी कारण पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास गतिरोध और प्रतिरोध के इतिहास से भरा हुआ है। एक नवीन शासन और एक नयी व्यवस्था के आगमन से अनेक जटिल समस्याओं का सूत्रपात हुआ। अपने दिग्विजय के आरम्भिक काल में तुर्क विजेताओं ने भारत में बड़ी चतुराई से काम लिया। सत्ता पर अपनी पकड़ सुदृढ़ करने के लिए तुर्क अथवा अतुर्क सभी का सहयोग प्राप्त किया। कालान्तर में जैसे ही केन्द्रीय सत्ता पर तुर्को की पकड़ मजबूत होने लगी, वैसे ही उनके विचार और दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन देखा जाने लगा। यही कारण है कि जब मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में उत्तर भारत के विजय अभियान का क्रम जारी था, उस समय तुर्कों ने अपने विजय अभियान को और अधिक सरल बनाने के लिए न केवल मध्य एशियाई तुर्कों, खुरासानी अमीरों, अफगानों एवं खल्जी सरदारों का सहयोग लिया वरन् उत्तर भारत के विशाल जन–समूह जो भारत की जटिल जातीय व्यवस्था से त्रस्त थे उनका भी सहयोग लिया। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भारत में तुर्क विजय के चाहे जितने भी कारण उपस्थित रहे हो किन्तु उनमें सबसे प्रभावशाली कारण भारतीय मुसलमानों का सक्रिय सहयोग था। यह एक बड़ा राजनैतिक परिर्वतन था जो हिन्दू समाज को घून की तरह चाट रहा था। तुर्क शासकों ने अपनी संकट की घड़ी में अपने इन सभी समर्थकों को अनेक प्रलोभन दिये थे किन्तु सत्ता प्राप्ति के पश्चात् वे अपने वादों से मुकर गये।

तुर्क शासकों के बदलते हुए इस दृष्टिकोण के व्यापक प्रभाव देखे गये। विजय अभियान में बराबरी का दर्जा रखने वाले विशेष रूप से अतुर्क एवं भारतीय मुसलमानों का व्यापक उपहास किया गया। उनकी सेवाओं को भुला दिया गया और अपने प्राणों की परवाह न करते हुए जिन्होंने तुर्क विजेताओं को भारत में अभूतपूर्व सफलता दिलाई उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाने लगा। इसमें कोई संदेह नही कि इस्लाम की दृष्टि में कोई जातीय विभेद नही है और उसमें सामाजिक एकता को अधिक बल प्रदान किया गया है। इसी मूल मंत्र से प्रभावित होकर भारत के अनगिनत लोगों ने

*प्रधानाचार्य, आदर्श इण्टर कालेज भीटी (खोरिया) गोरखपुर (उ0प्र0)

इस्लाम धर्म को कबूल भी किया था। उनका मानना था कि इस धर्म में परिर्वतन से मुस्लिम समाज में उनका दर्जा समानता का होगा और साथ ही साथ जटिल हिन्दू परम्पराओं से वे मुक्त भी हो जायेंगे।

सामाजिक और धार्मिक एकता के इस आह्वान को उस समय एक बड़ा धक्का लगा, जब तुर्कों ने अतुर्कों एवं भारतीय मुसलमानों का तिरस्कार आरम्भ कर दिया। तुर्क शासकों के इस परिवर्तनशील विचारों का तत्कालीन राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। सामान्यतया यह माना जाता है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना 1206 ई0 में हुई है। मुहम्मद गोरी से लेकर कुतुबुद्दीन ऐबक तक दिल्ली सल्तनत में कभी रक्त विभेद और उससे उत्पन्न संघर्ष का उल्लेख नही मिलता है। वास्तव में तुर्क विजेताओं का यह शैशव काल था जिसमें वे किसी भी प्रकार के विवाद से अपने को मुक्त रखना चाहते थे। हम यह भली–भाँति जानते है कि इस अवधि मे तुर्कों का एकमात्र उद्देश्य उत्तर भारत में अपनी शासन सत्ता को स्थापित करना था। अतएव इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उनमें एकता की भावना का होना नितान्त आवश्यक था। इसलिए कुतुबुद्दीन ऐबक के शासनकाल तक तुर्क शासन में कभी रक्त विभेद का उल्लेख नही मिलता है।

सुल्तान इल्तुतमिश (1211–1236ई0)का काल भारत में मुस्लिम शासन के इतिहास का एक गौरवपूर्ण युग था। इस अवधि में उत्तर भारत में दिग्विजय का कार्य तो पूर्ण ही हुआ, साथ ही साथ उसे स्थायित्व भी प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ0 आर0पी0 त्रिपाठी का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि 'भारत में मुस्लिम सत्ता का आरम्भ सुल्तान इल्तुतमिश के समय से ही प्रारम्भ हुआ।'[1] यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सुल्तान इल्तुतमिश के नेतृत्व में सल्तनत जैसे–जैसे सुदृढ़ हो रही थी, वैसे–वैसे रक्त विभेद की नीति दिल्ली दरबार के वातावरण को विशाक्त बना रही थी। वास्तव में सुल्तान इल्तुतमिश के समय से लेकर खिल्जियों के शासनकाल तक पूरी सल्तनत इस रक्त विभेद से त्रस्त थी। इस व्यवस्था का सूत्रपात सुल्तान इल्तुतमिश के समय से ही होता है।[2] सुल्तान इल्तुतमिश इस तथ्य को भूल बैठा की जिन लोगों की भागीदारी से वह आज सत्ता में विराजमान है उन्हीं के साथ छल करना किसी भी दृष्टि से उचित नही है। समकालीन मुस्लिम इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने अपनी प्रसिद्ध ''पुस्तक तारिख–ए–फिरोज शाही'' में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इल्तुतमिश को रक्त विभेद रखने वाला शासक माना है। उसकी दृष्टि में सुल्तान इल्तुतमिश शुद्ध तुर्क रक्त पर विश्वास रखता था। अतुर्कों पर उसका जरा भी विश्वास नही था। जांन–बूझ कर सुल्तान इल्तुतमिश ने कभी किसी गैरतुर्क को दरबार मे ंउच्च पद प्रदान नही किया। वह अतुर्कों से इर्श्या रखता था और भारतीय मुसलमानों के प्रति भी उसकी कभी सहानुभूति नही थी। बरनी ने इल्तुतमिश के इस विभेद की नीति का पर्दाफाश करते हुए लिखा है कि एक बार उसने दरबार के पदाधिकारियों के वंश परिचय की जाँच करवाई तो उसे ज्ञात हुआ कि उसके दरबार में तैतीस उच्च पदाधिकारी, शुद्धतुर्क नही थे। उन सभी को पदच्यूत कर दिया और इस तथ्य की भी जाँच करवायी कि उनकी नियुक्तियाँ किस माध्यम से हुई थी। जाँच के बाद सुल्तान इल्तुतमिश को चौका देने वाला तथ्य प्राप्त हुआ कि उन सभी की नियुक्तियाँ सल्तनत के वजीरे–आला निजामुलमुल्क मुहम्मद जुनैदी ने की थी। सुल्तान के क्रोध की सीमा नही रही और उसने निजामुलमुल्क जुनैदी से कहा कि 'नीच लोगों को उनकी योग्यता के कारण पद देकर मेरे राज्य में उच्च पदों को उनके द्वारा

नष्ट करते हो।'[3] इस जानकारी के पश्चात इल्तुतमिश ने निजामुलमुल्क मुहम्मद जुनैदी के वंश परिचय की जाँच करवायी, जिसमें ज्ञात हुआ कि उसका वजीर जुनैदी स्वयं एक अतुर्क था जो एक निम्न जुलाहा जाति से सम्बन्धित था[4] इस जानकारी के तत्काल बाद सुल्तान ने निजामुलमुल्क मुहम्मद जुनैदी को भी वजीर के पद से हटा दिया। समकालीन इतिहासकार बरनी द्वारा इस घटना की पुष्टि से स्पष्ट होता है कि सुल्तान इल्तुतमिस कितनी गहराई तक शुद्ध तुर्क रक्त पर विश्वास करता था।

सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा अपनायी गयी इस रक्त विभेद नीति का दरबार की राजनीति पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ा। सुल्तान की इस विभेद नीति का अनुशरण आगे भी होता रहा क्योंकि बाद की घटनाओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

सुल्तान इल्तुतमिश के पश्चात उसकी उतराधिकारी सुल्तान रजिया (1236–1240 ई0) के शासनकाल में तुर्क सरदारों द्वारा उसके विरोध का कारण जमालुद्दीन याकूत के साथ उसके सम्बन्ध न होकर याकूत का एक हब्सी शिया मुसलमान होना था। इसके पीछे रजिया और याकूत के प्रेमकहानी का जो विवरण इतिहास में मिलता है वह असत्य है और केवल याकूत को बदनाम करने का एक शड़यंत्र मात्र था जिससे की तुर्क सरदार याकूत को नीचा दिखा सके।

जिस रक्त विभेद की भावना को सुल्तान इल्तुतमिश ने जन्म दिया था कालान्तर में उसने एक विकराल रूप धारण कर लिया। सुल्तान की इस नीति का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय मुसलमानों पर पड़ा जिन्होंने तुर्कों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर उत्तर भारत के विजय अभियान में अपना अमूल्य योगदान दिया था। उन्हें विश्वास था कि सत्ता में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त होगा तथा इस्लाम धर्म के धार्मिक और सामाजिक एकता के आह्वान के अन्तर्गत उन्हें भी सामाजिक समरसता का स्वाद मिलेगा, किन्तु उन्हें घोर निराशा ही हाथ लगी। जैसे–जैसे दिल्ली सुल्तानों की सत्ता पर पकड़ मजूबत होती जा रही थी वैसे–वैसे उन्हें सत्ता से दूर रखा जा रहा था। सल्तनत के इस दोहरे व्यवहार को वह अधिक दिनों तक सहन नही कर सकते थे। दिल्ली सुल्तानों का यह ऐसा कार्य था जिससे वह भारतीय मुसलमानों का विश्वास खोते जा रहे थे। तुर्कों के विजय अभियान में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेने के बाद भी भारतीय मुसलमानों को क्या मिला?बदले में उन्हें तिरस्कार और उपेक्षा ही तो मिली।

स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि जब सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद (1246–1266 ई0) के शासनकाल में भारतीय मूल के इमादुद्दीन रैहान को वकीलदार के पद पर नियुक्त किया गया तो तुर्कों के लिये यह असहनीय था और तुर्की सरदारों ने इमादुद्दीन रैहान को बदनाम करने के लिये उसके उपर कई आरोप लगाये।'[5] समकालीन इतिहासकार मिनहाज–उस–सिराज ने तो यहाँ तक कहा की 'राज्य की शान्ति इमादुद्दीन रैहान के कुशासन की फलस्वरूप भंग हो गयी है। इसका कारण है दरबार के समस्त तुर्क तथा ताजिक उच्च वंश के थे और इमादुद्दीन रैहान नपुंसक तथा तुच्छ था। वह हिन्दुस्तानी कबीले से सम्बन्धित था। उत्कृष्ट वंश वालों को उसका अधिकार सम्पन्न होना उचित प्रतीत नहीं होता था वे उसका अधिकार सम्पन्न होना अपने लिये बड़ी लज्जा की बात समझते थे। तुर्क, तुच्छ इमादुद्दीन रैहान के दुष्ट सहायकों के कारण 6 या उससे कुछ अधिक मास तक अपने घर से न निकल सके और मैं स्वयं जुमें की नमाज पढ़ने न जा सका।'[6]

किन्तु वास्तविकता यह था कि अब परिस्थितियाँ भी

बदल रही थी। तुर्कों की इस उपेक्षापूर्ण नीति से त्रस्त भारतीय मुसलमान भी धीरे–धीरे अब सत्ता के विरूद्वसंगठित हो रहे थे। अब वे शान्त नही बैठ सकते थे। उनके असन्तोष ने एक विकराल रूप धारण कर लिया और इमादुद्दीन रैहान के नेतृत्व में भारतीय मुसलमानों ने पहली बार खुलकर इस विभेदपूर्ण नीति के विरूद्वविद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया। देखते ही देखते इमादुद्दीन रैहान के नेतृत्व में भारतीय मुसलमानों का एक भारी समूह एकत्र होने लगा। ऐसी स्थिति में इमादुद्दीन रैहान को दिल्ली से दूर करने के लिये उसे बहराइच का वाली (इक्तादार) नियुक्त किया गया तथा उसके सहयोगियों का भी इसी प्रकार स्थानांतरण कर दिया गया। परन्तु फिर भी भारतीय मुसलमानों का यह प्रतिरोध 1254–55 ई0 तक व्यापक रूप से चलता रहा।

दिल्ली सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद ने इस प्रतिरोध का अन्त करने के लिये मलिक ताजुद्दीन संजर माह पेशानी को बहराइच का इक्तादार नियुक्त करके भेजा किन्तु इसे अवध के वाली कुतुलुग खां ने बन्दी बना लिया। कुतुलुग खां की कैद से किसी प्रकार ताजुद्दीन संजर मुक्त हो गया और सरयू नदी पार कर कुछ सवारों के साथ बहराइच की ओर प्रस्थान किया। मिनहाज–उस–सिराज लिखता है कि 'ईश्वर की कृपा से तुर्कों का सितारा उन्नति पर था और हिन्दुओं का पतन हो रहा था। इमादुद्दीन रैहान परास्त हो गया और बन्दी बना लिया गया। उसके जीवन का सूर्यास्त हो गया।'[8] इमादुद्दीन रैहान की मृत्यु से इस प्रतिरोध की शक्ति क्षीण हो गयी यह मध्य काल की एक अति महत्त्वपूर्ण घटना है जबकि भारतीय मुसलमानों ने एकजुट होकर तुर्क सुल्तानों के इस रक्त विभेद नीति का जमकर विरोध किया है।

सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा अपनाई गयी इस रक्त विभेद व्यवस्था को सुल्तान बलबन (1266–1287 ई0) ने और अधिक आगे बढ़ाया। वह तुर्कों विशेष रूप से भारतीय मुसलमानों से घृणा करता था। उसके शासनकाल में भारतीय मुसलमान असुरक्षित थे। कभी भी उन्हें शासन में उच्च पद प्राप्त नही हुआ। खोज–खोज कर उन अधिकारियों को पदच्युत् किया जाना लगा जो भारतीय मुसलमान अथवा अतुर्क थे।'[9] बलबन के शासनकाल में ऐसी अनेक घटनाओं का इतिहास में उल्लेख मिलता है। ऐसी ही एक घटना है कि अमरोहा का ख्वाज़ा कमाल महियार जो की वित्त विभाग का एक प्रमुख अधिकारी था को बुलाकर बलबन ने उसका वंश परिचय जानना चाहा और जब बलबन को यह ज्ञात हुआ कि वह तुर्क न होकर निम्न हिन्दू जाति से सम्बन्धित था और वर्तमान में एक मुसलमान है, तो उसका चेहरा तमतमा उठा और उसने न केवल ख्वाज़ा को पदच्युत् कर दिया वरन् उस अधिकारी को भी फटकारा जिसने उसकी नियुक्ति की थी।'[10] सुल्तान अपने शुद्वरक्त पर इस सीमा तक गर्व करता था की वह कभी गैर तुर्क से मिलना पसन्द नही करता था। इतिहासकार बदायुनी से ज्ञात होता है कि एक बार सल्तनत के एक प्रमुख व्यापारी फख़र ब्राउनी ने सुल्तान से मिलकर उसे बहुमूल्य उपहार देने की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु सुल्तान बलबन ने उसे यह कहकर मिलने की अनुमति नही दी की इससे सुल्तान की प्रतिष्ठा गिरेगी।[11] बलबन के शासनकाल में ऐसी अनेक घटनाओं का विवरण मिलता है जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि सुल्तान बलबन किस सीमा तक अपने तुर्क होने पर गौरवान्वित था। वह न केवल शुद्वतुर्क रक्त का समर्थक था वरन् अतुर्कों और विशेष रूप से भारतीय मुसलमानों को देखते ही भड़क उठता था और उनकी खिल्ली भी उड़ाता था।

इस प्रकार तुर्क सुल्तानों की इस रक्त विभेद की नीति का व्यापक प्रभाव कालान्तर में दृष्टिगोचर होता है। सुल्तान बलबन की मृत्यु के बाद दिल्ली में राजनैतिक गतिरोध बढ़ता ही गया और इस संकट की घड़ी में सुल्तान कैकुबाद (1287–1290 ई0) लकवा का शिकार होकर बिस्तर पर शिथिल पड़ा हुआ था। इस समय तुर्क सरदारों को यह भय सताने लगा की सत्ता की बागडोर कहीं तुर्कों के हाथ से न निकल जाय। वास्तव में इस समय तक दिल्ली सरदारों के विचार इतने संकीर्ण हो चुके थे की वह तुर्क और अतुर्क में भी विभेद नही रख पा रहे थे। सम्भवतया यह भ्रम बरनी के उस उल्लेख से हुआ जब उसने लिखा की कैकुबाद के लकवा से शिथिल होने से शासन बागडोर तुर्कों के हाथ से निकलकर खल्जियों के हाथ में न चली जाय। बरनी का यह भ्रम स्वाभाविक तो था लेकिन सत्य नही था। क्योंकि खल्जी भी अतुर्क न होकर तुर्क नस्ल के ही थे। वास्तव में सुल्तान कैकुबाद के शासनकाल में जिस खल्जी क्रान्ति का सूत्रपात हुआ उसका नायक जलालुद्दीन खल्जी था जिसके समर्थन में भारतीय मुसलमानों का विशाल जनसमूह भी था। दूसरी तरफ इस खल्जी क्रान्ति के विरोध में वे लोग खड़े थे जो सत्ता पर काबिज थे और जिनका नेतृत्व एतिमार कच्छन और एतिमार सुरखा जैसे तुर्क नेता कर रहे थे। सत्य तो यह है कि बरनी को यह भय सता रहा था कि यदि सत्ता परिवर्तन हुआ तो इसमें खल्जियों के साथ ही साथ भारतीय मुसलमानों का वर्चस्व बढ़ जायेगा। इसलिये उसका यह भय व्यक्त करना कि सत्ता कहीं तुर्कों के हाथ से निकलकर खल्जियों के हाथ में न चली जाये, यह स्वाभाविक प्रक्रिया थी।

भारत के सल्तनत कालीन इतिहास का यह एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिस पर अभी तक किसी भी शोधकर्ता ने प्रकाश नही डाला है। यह सत्य है कि दिल्ली सल्तनत के राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई किन्तु इस पक्ष की निरन्तर उपेक्षा ही होती रही। डॉ0 आर0पी0 त्रिपाठी, डॉ0 ए0बी0एम0 हब्बीबुल्ला तथा मुहम्मद अजीज अहमद जैसे सल्तनत कालीन इतिहासकार भी इस महत्त्वपूर्ण विषय पर मौन ही रहे। वास्तव में यदि भारतीय मुसलमानों ने तुर्क आक्रमणकारियों का साथ न दिया होता तो मुठ्ठी भर तुर्क भारत विजय के अभियान में कभी भी सफल न हुए होते। विदेशी होने के कारण तुर्कों को न तो भारत की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान था और न ही उन्हें स्थानीय परिस्थितियों की जानकारी थी। उनके इस कमजोरी को भारतीय मुसलमानों ने पूर्ण किया। इसके पीछे भारतीय मुसलमानों की यह अवधारणा थी कि इससे न केवल राजनैतिक लाभ होगा बल्कि उनके सामाजिक शोषण का भी अन्त होगा। इस्लाम में व्याप्त सामाजिक एवं धार्मिक एकता का भी लाभ उन्हें मिलेगा, इसके अतिरिक्त मुस्लिम समाज में उन्नति के समान अवसर के साथ ही शासन में उनकी भागीदारी भी बढ़ेगी। इस धर्म परिवर्तन से उन्हें अत्यधिक आर्थिक लाभ होने की सम्भावना भी थी। इन्हीं कारणों से उत्साहित होकर उत्तर भारत के शोषित हिन्दू समाज का विशाल जनसमूह इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गया था, जिसका प्रत्यक्ष लाभ तुर्क आक्रमणकारियों को मिला। इन भारतीयों के इस्लाम धर्म में दीक्षित होने से तुर्क आक्रमणकारियों की अनेक जटिल समस्याओं का अन्त हो गया। अपने वतन से हजारों मील दूर भारत के इस मुस्लिम समाज का सहयोग एवं समर्थन मिलने के कारण तुर्क विजेताओं की शक्ति एवं उनके उत्साह में अत्यधिक वृद्विहो गयी और उनके भारत विजय का कार्य सरल हो गया।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि उत्तर भारत में जब तुर्क विजेताओं के पैर मजबूत हो गये और सत्ता पर उनकी पकड़ स्थायी होने लगी तब भारतीय मुसलमानों के प्रति उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। तुर्क विजेताओं ने सदा भारतीय मुसलमानों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार रखा। उन्होंने इस्लाम के धार्मिक एवं सामाजिक एकता की भावना का दुरुपयोग कर भारतीय मुसलमानों को धोखा दिया। उनकी इस नीति का परिणाम था की लगभग 320 वर्षों के इतिहास में दिल्ली के तुर्क एवं अफगान शासक कभी चैन से नही रह सके और इनको भारतीय मुसलमानों के भीषण प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। इन अनवरत् विद्रोहों ने तुर्की शासन की नींव हिला दी ।

सन्दर्भ

1. त्रिपाठी, आर0पी0 : 'सम ऐसपेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन', पृ0 27
2. श्रीवास्तव, अशोक : 'दिल्ली सल्तनत का उत्थान और पतन' पृ0 45
3. रिजवी, अतहर अब्बास : 'आदि तुर्क कालीन भारत' पृ0 151
4. रिजवी, अतहर अब्बास : 'आादि तुर्क कालीन भारत' पृ0 151
5. श्रीवास्तव, अशोक : सुल्तान बलबन, पृ0 19
6. रिजवी अतहर अब्बास : तबकाते नासिरी, पृ0 88 राबर्टी : तबकाते नासिरी, खण्ड 1 पृ0 705, खण्ड 2 पृ0 836
7. रिजवी, अतहर अब्बास : आदि तुर्क कालीन भारत, पृ0 90
8. इलिएट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खण्ड 2, पृ0 374
9. बरनी, जियाउद्दीन : तारीखे फिरोज शाही, पृ0 30
10. रिजवी, अतहर अब्बास : तारीखे–फिरोज–शाही, पृ0 149
11. रैकिंग, जार्ज एस0ए0 : मुक्तखव–उन्त–तवारीख, खण्ड 1, पृ0 184

भूगोल

जनपद अम्बेडकर नगर के सामान्य भूमि उपयोग के कालिक और स्थानिक परिवर्तन : एक भौगोलिक अध्ययन

–डॉ० शिवशंकर*
–डॉ०र ाधेश्यामर ाम*

मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव भूमि का उपयोग अपने जीवन निर्वाह हेतु करता चला आ रहा है। भूमि धरातल का सबसे प्रमुख संसाधन है, जो विभिन्न रूपों में उपयोग की जाती है। इसे मानव आवास, कृषि, उद्योग, परिवहन आदि विभिन्न कार्यों में प्रयोग किया जाता है। 'भूमि' एक ऐसा संसाधन है जिसका मनुष्य अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यथा आवास, खेती, बाग–बगीचे, चारागाह, सड़क, रेलमार्ग, हवाई अड्डा, खेल के मैदान आदि कार्यों में प्रयोग करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य सांस्कृतिक और व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भूमि का तरह–तरह से उपयोग करता है। भूमि उपयोग को विभिन्न भूगोलवेत्ताओं ने अपने–अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत शोध पत्र में अम्बेडकर नगर जनपद के सामान्य भूमि उपयोग के कालिक और स्थानिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। समय–समय पर कृषि क्षेत्र में परिवर्तन होता रहा है। सिंचाई के साधनों, उर्वरकों, कृषियन्त्रों, श्रम, पूंजी आदि में परिवर्तन के साथ–साथ उत्पादकता में भी वृद्धि हुई है।

मुख्य शब्द– भूमि उपयोग, बंजर भूमि

प्रस्तावना

ब्रिटेन में सर्वप्रथम डडले स्टैम्प (1930–31) महोदय ने भूमि उपयोग सर्वेक्षण एवं शोधों द्वारा प्राप्त भूमि के विविध उपयोगों का तथ्यपूर्ण अध्ययन किया। इसमें कृषि भूमि, स्थाई चारागाह, अस्थाई चारागाह, वन, बागान, कब्रिस्तान, परती, अनुपयुक्त भूमि आदि को अलग–अलग रंगों और क्षेत्र के आधार पर मानचित्रांकिंत किया गया। भूमि उपयोग सर्वेक्षण का कार्य 20वीं शताब्दी में जोर पकड़ने लगा (वेनजिक्ट, सी., 1972)। कार्ल० ओ० सावर महोदय ने 1919 में भूमि उपयोग को विस्तार से परिभाषित किया। पोलैण्ड के भूगोलवेत्ता प्रो० जिवोन्सकी, प्रो० जे० कोस्त्रोविकी आदि के निर्देशन में भूमि उपयोग सर्वेक्षण को बल मिला। इसके अतिरिक्त चीनी भूगोलवेत्ता ओ.ई. बेकर ने एक नवीन कृषि उपयोग पद्धति को जन्म दिया। रूसी विद्वान के.वी. ज्योरकिन ने अपने निर्देशन में भूमि के अलग–अलग क्षेत्रों की क्षमता का अध्ययन किया गया। भूमि उपयोग सामान्यतः उच्चावच, ढाल, मिट्‌टी के प्रकार, वनस्पतियों, जल की उपलब्धता, वर्षा की मात्रा, जनसंख्या, पूंजी और प्रौद्योगिकी से प्रभावित

*सहायक आचार्य एवं अध्यक्ष, भूगोल विभाग, श्री गांधी पी0जी0 कॉलेज, मालटारी, आजमगढ़ (उ0प्र0)
**सहायक आचार्य, भूगोल विभाग, नेहरू ग्राम भारती डीम्ड विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ0प्र0)

होता है (भाटिया, एस.एस., 1965)।

भारत में स्वतंत्रता के बाद भूमि उपयोग सर्वेक्षण के अध्ययन को गति मिली। 1951 में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण निदेशालय द्वारा प्रतिदर्श विधि द्वारा सम्पूर्ण भारत में भूमि उपयोग सर्वेक्षण और फसल उत्पादन आकलन की योजना चलाई गई। यह प्रतिदर्श सर्वेक्षण योजना ब्रिटेन की पद्धति पर आधारित रही जिसमें कृषि क्षमता, कृषि गहनता, कृषि दक्षता, कृषि उत्पादकता आदि को मापने का प्रयास किया गया। इसीलिए भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना (1950–56) पूर्णतया कृषि को समर्पित रही।

अध्ययन की आवश्यकता

पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था तथा जनसंख्या का विशाल आकार अध्ययन प्रदेश की प्रमुख समस्या है। अध्ययन क्षेत्र के दो तिहाई क्षेत्र पर कृषि की जाती है। शुद्ध बोया गया क्षेत्र में अभी भी परम्परागत फसलों यथा गेहूँ, चावल आदि का उत्पादन किया जाता है। क्षेत्र में सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र का बड़ा भू–भाग आर्थिक तथा अन्यान्य कारणों से बंजर अथवा कई वर्षों से परती हैं।

अध्ययन के उद्देश्य : प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नवत हैं।

1. अध्ययन क्षेत्र में भूमि उपयोग के स्वरूप का विवेचन करना।
2. भूमि उपयोग के कालिक और स्थानिक परिवर्तनों का अध्ययन करना।

शोध विधितंत्र

क्र.सं.	भूमि उपयोग	1995–96	2000–01	2005–06	2011–12
1	शुद्ध बोया गया क्षेत्र	293705	166901	166800	167009
02	बंजर तथा कृषि योग्य भूमि	7821	7144	3720	3415
03	बंजर तथा कृषि अयोग्य भूमि	9453	4388	4384	4063
04	गैर कृषि उपयोग हेतु प्रयुक्त भूमि	61970	26848	36213	41145
05	स्थाई चारागाह एवं पशु चारण	2221	553	583	506
06	वृक्ष एवं झाड़ियों के अन्तर्गत भूमि	3111	4409	11098	10241
07	वर्तमान परती	17477	2930	7988	5198
08	अन्य परती	9063	4526	4408	4191
09	वन	1234	1428	270	328

स्रोत– जिला सांख्यिकी पत्रिका, जनपद अम्बेडकर नगर, वर्ष– 2011–12

उर्वरक, सिंचाई, कृषि उपकरण, मशीनीकरण, उन्नत किस्म के बीजों का उपयोग, प्रौद्योगिकी, पूंजी आदि का महत्व है। सांस्कृतिक कारकों में परिवर्तन से ही भूमि उपयोग में परिवर्तन देखा जाता है। भूमि उपयोग के कालिक अध्ययन से तात्पर्य भूमि उपयोग के समय–समय पर बदलते प्रतिरूप से है, जिससे भूमि क्षमता के बारे में सम्यक जानकारी प्राप्त होती है। अध्ययन क्षेत्र में वर्ष 1995–96, 2000–2001, 2005–06 तथा 2011–12 के आंकड़ों के आधार पर अध्ययन क्षेत्र में भूमि उपयोग के प्रतिरूप तथा उसमें विगत दशक में हुए परिवर्तन को निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है (सारणी–1)।

शुद्ध बोया गया क्षेत्र– अध्ययन क्षेत्र के 166901 हेक्टेयर अर्थात् 78.48 प्रतिशत क्षेत्र 2000–01 के दौरान शुद्ध बोये गये क्षेत्र के अन्तर्गत या 2011–12 में उर्वरक के प्रयोग से मामूली बढ़कर 78.50 हो गया। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक शुद्ध बोया गया क्षेत्र विकासखण्ड अकबरपुर में 30,453 हेक्टेयर था। बंजर तथा कृषियोग्य भूमि– अध्ययन क्षेत्र में इस वर्ग के अन्तर्गत क्षेत्रफल में निरन्तर कमी दर्ज की गई है जो 1994–95 में 1.94 प्रतिशत (7821 हेक्टेयर) था जो क्रमशः कम होकर 2000–01 (1.86) तथा 2011–12 में 1.69 प्रतिशत (7144 हेक्टेयर) हो गया। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक भूमि विकासखण्ड अकबरपुर में 849 हेक्टेयर में पायी जाती है। इसके क्षेत्र में कमी का मुख्य कारण जनसंख्या में वृद्धि के परिणाम स्वरूप भूमि के खेतों में परिवर्तित करना है। कृषि अयोग्य बंजर भूमि– अध्ययन क्षेत्र में इसके अन्तर्गत 1994–95 में 1.55 प्रतिशत क्षेत्र (4388 हेक्टेयर) था जो 2000–01 में 1.49 प्रतिशत तथा 2011–12 में 1.46 प्रतिशत हो गया इसमें भी तीव्र कमी आयी है।

वर्तमान परती– अध्ययन क्षेत्र में इसके अन्तर्गत

1994–95 में 8.72 प्रतिशत क्षेत्र था जो 2000–01 घटकर 8.03 तथा 2011–12 में घटकर 6.56 प्रतिशत हो गया। 2011–12 में तीव्र कमी के पीछे मुख्य कारण परती भूमि का भूमि सुधार कार्यक्रमों के द्वारा कृषि भूमि में परिवर्तन था। विकासखण्ड स्तर पर 2011–12 में सर्वाधिक परती भूमि विकासखण्ड जलालपुर में 1151 हेक्टेयर था तथा सबसे कम विकासखण्ड टाण्डा में 112 हेक्टेयर था । वन– अध्ययन क्षेत्र के मात्र 1428 हेक्टेयर क्षेत्र पर वन है जो कुल क्षेत्रफल का मात्र 0.14 प्रतिशत है। वनों का यह लगभग नगण्य क्षेत्र पर्यावरण की दृष्टि से चिन्ताजनक है। पिछले दशक में वनों का क्षेत्र तो लगभग स्थिर रहा लेकिन वनों की सघनता में कमी आयी है। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक वन क्षेत्र विकासखण्ड अकबरपुर में 352 हेक्टेयर पाया जाता है।

कृषि हेतु अनुपलब्ध भूमि– इसमें दो तरह की भूमि सम्मिलित है– (अ) अधिवास, परिवहन, मार्ग, खदान, नहर आदि कृष्येत्तर कार्यों में लगी भूमि; (ब) पर्वत, मरूस्थल, दलदल, बीहड़ आदि के रूप में कृषि अयोग्य भूमि (तिवारी, आर.सी., 2008)। अम्बेडकर नगर जनपद में विगत दशक में कृषि से इतर उपयोग वाली भूमि में निरन्तर वृद्धि हुई है। जहाँ वर्ष 1994–95 में 14.96 प्रतिशत (26848 हेक्टेयर) भूमि कृष्येत्तर उपयोग में थी जो 2011–12 में बढ़कर 17.42 प्रतिशत हो गयी। विकासखण्ड स्तर पर विगत दशक में कृषियेत्तर भूमि का सर्वाधिक विकासखण्ड टाण्डा 5913 हेक्टेयर था तथा सबसे कम विकासखण्ड भीटी में (1730 हेक्टेयर) था।

चारागाह– अध्ययन क्षेत्र में 1994–95 में चारागाह का क्षेत्रफल 553 हेक्टेयर था जो क्षेत्रफल के रूप में 0. 23 प्रतिशत था जो 2011–12 में कम होकर 506 हेक्टेयर हो गया। अध्ययन क्षेत्र में सर्वाधिक चारागाह भूमि विकासखण्ड कटेहरी (208 हेक्टेयर) में तथा तथा सबसे कम जहाँगीरगंज में 14 हेक्टेयर था । बागाती वृक्ष तथा झाड़ियाँ– अध्ययन क्षेत्र में 1994–95 में बागाती वृक्षों तथा झाड़ियों का कुल क्षेत्रफल 3111 हेक्टेयर था, जो 2011–12 में बढकर होकर 10240 हेक्टेयर हो गया। विकासखण्ड स्तर पर सर्वाधिक बागाती वृक्ष तथा झाड़ियाँ विकासखण्ड टाण्डामें 1902 हेक्टेयर थी तथा सबसे कम विकासखण्ड भियांव में 138 हेक्टेयर था । अन्य परती– अध्ययन क्षेत्र में 1994–95 में अन्य परती भूमि का क्षेत्रफल 9063 हेक्टेयर था जो सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 2.23 प्रतिशत था। जो 2011–12 में कम होकर 4526 हेक्टेयर हो गया। अध्ययन क्षेत्र में सर्वाधिक अन्य परती भूमि विकासखण्ड टाण्डा में तथा सबसे कम विकासखण्ड रामनगर में है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

भूमि उपयोग के सभी पक्षों के अध्ययन के बाद भूमि उपयोग जिससे भूमि का अनुकूलतम उपयोग हो और दुरूपयोग कम से कम हो। अध्ययन क्षेत्र में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं जोतों के विखंडन के कारण प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा तथा भूमि की उर्वरता में गिरावट आयी है। भूमि उपयोग नियोजन करते समय यह आवश्यक है कि इन समस्त समस्याओं पर ध्यान कम दिया जाय तथा एक ऐसी भूमि उपयोग आयोजना की जाय जिससे भूमि उपयोग संसाधनों का समुचित उपयोग हो सके कृषित भूमि का क्षेत्रफल अध्ययन क्षेत्र में अधिक है जनपद की अधिक सिंचित भूमि का क्षेत्र इसी क्षेत्र में मिलता है यहाँ पर जल की प्राप्ति तथा सिंचाई के साधन की उपलब्धता के कारण गहन कृषि की जाती है असिंचित भूमि का क्षेत्रफल यहाँ लगभग 39.87 प्रतिशत है।

जनपद में जो असिंचित भूमि है उसका उपयोग में लाने हेतु सिंचाई की सुविधा उपलब्ध करानी होगी जिससे प्रति हेक्टेयर उत्पादन बढ़े सड़को के किनारे परती भूमि पर वृक्षारोपण कर उसका सही उपयोग में लाया जाय इसके लिए जनता तथा इसमें सरकारी

संथाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। भूमि पर चारागाह तथा बाग–बगीचे का क्षेत्र है जो पशुओं की संख्या के हिसाब के काफी कम है ऐसे में कृषि भूमि का कुछ उपयोग कर इसका क्षेत्रफल बढ़ाया जा सकता है जिससे क्षेत्र की जनता को आर्थिक लाभ प्राप्त हो सके।

सन्दर्भ

1. हुसैन, माजिद (1996) : ओ.पी.ई.आइ.टी., पृ. 360
2. भाटिया, एस.एस. (1965) : पैटर्न ऑफ क्राप कन्सेन्ट्रेशन एण्ड डाईवार्सिफिकेशन इन इंडिया
3. तिवारी, आर.सी., सिंह. बी.एन. (2006): कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ. 76
4. वेनजिट, सी. (ईडी) (1972): लैण्ड यूज एण्ड नेचुरल वेजीटेशन इन इण्टरनेशनल ज्योग्राफी टोरन्टों यूनिवर्सिटी प्रेस, 105–106
5. वीवर, जे.सी. (1954): क्राप कॉम्बिनेशन रीजन्स इन मिडिल वेस्ट, यू.एस.ए. ज्योग्राफिकल रिव्यू एक्स. एल.आई.वी., 175–200

शारीरिक शिक्षा

Sports: Can it be a career ?

-Ajay Kumar Verma*

Today in India sports is perceived as a rewarding career. Excelling in sports has come as an inborn quality in some people. But among others it is developed through proper techniques and trainings. Sports involve exercise which gives a healthy life to a person who is in sports. If the sports become ones passion then it will give him/her not only a good reward but also a joyful career. In India when Asian Games 1992was organized, new infrastructures like sophisticated stadium, training and coaching structure, live coverage of various matches have started coming up. These were intensified in 2010 when Commonwealth Games as a sport event was organized.

POTENTIALS OF SPORTS IN INDIA

India is perceived as an emerging sports destination. India hosted ICC Cricket World Cups in 1996 and 2011. Besides this events such as Formula-1 race, Chennai Open Tennis etc have also been organized. In India there exist untapped talents of players. A huge demand for sports in India was also because of successful players like Abhiav Bindra, Sachin Tendulkar, Sania Mirza, Saina Nehwal, Mary Kom, Vishwanathan Anand, Susheel Kumar and others who have attracted Indian youth. All these have led to a huge demand for sports in India. The Government of India is investing a huge amount of money in the field of sports through its National Sports Policy. It is also organizing various events within the country and also aims at providing the modern sports facilities to the sportsperson.

The private sector is also contributing to the field of sports as a part of their corporate social responsibilities. Private sports regulatory bodies like Board of Control for Cricket in India (BCCI) has organized Indian Premier League and the Amateur Kabaddi Association, Asian Kabaddi Association and International Kabaddi Association have jointly organized Pro Kabaddi. These are the two events which have attracted the people of different age groups.

HOW TO BECOME A SPORTSPERSON?

Sport as a career is to be taken by any person when he/she is young. Ample training should be given. One of the better options for training is to get trained from Sports Authority of India (SAI). One can start his/her career at the local level and start participating in the state level and finally graduate to the national level. SAI has its state level branches which are providing training facilities to the regional sports talents. Most of the SAI programmes provides scholarships and student supports. The students can also look for financial assistance.

In the field of sports, one can not only become sportsperson, but also become a coach, a

*Assistant Professor, Government Degree College, Jakkhini, Varanasi (U.P.)

physiotherapist, a sports medicine practitioner, a physical trainer, a sports journalist, a public relation practitioner, a sports manager and so on.

PHYSICAL AND MENTAL TRAITS

Sports as a career require a lifetime dedication and a whole hearted entry into the field of sports. Most of the sport events require a strong physical trait. It does not mean that one has to born with strong physical features. Instead one can acquire the strong physical features by the proper training and coaching. One has to work hard on his/her physical fitness. Strong ethical values and perseverance will lead a person far ahead in his/her sporting career. To be good in sports one has to have a high mental quotient. One must be mentally tough. His/her level of patience should be very strong. He/she should have a right blend of aggression and cool mindedness. He/she must be intelligent enough to take chances that come thereby becomes a winner. He/she should differentiate between nearly right and exactly right. He/she should have the spirit of game and should give a fair amount of respect to the opponent to make the game a fair one.

SPORTS AS PROFESSIONAL PROSPECT

Various exciting careers are made available by the sports. Other than being a player, one can be a coach, trainer, sports journalist, medicine practitioner, physiotherapist, etc. After identifying the sports as a career one has to gradually move up the ladder with the intensive training and dedicated hard work. Playing at the international level gives a huge amount reward. One is usually paid reasonably well tolead a good life. There are sponsorships and jobs both the government and the private reserved for sportsperson with high caliber. The monetary benefits that the each sporting event gets will vary from one sport to another sport. The events such as Golf, Cricket, Motor sport, Tennis, International football etc, are highly remunerated. In this context one must always remember that getting the reward should not be the only aim of taking sports as a career. The pride, joy, and self fulfillment that come with bringing top honors for one in particular and the country at large by the sports is irreplaceable.

References:

Kumar V, Career in Sports, Employment News, March 21-27 i.e. No 51

Sports: A popular career choice - The Times of India timesofindia.indiatimes.com › Education

Sports: A popular career choice - The Times of India timesofindia.indiatimes.com › Education

शारीरिक शिक्षा

Yoga Nidra Yogic Conscious Deep Sleep

-Amarjeet*

Yoga nidra is derived from two Sanskrit words, yoga meaning union or one-pointed awareness, and indra means sleep Yoga nard is the state of dynamic sleep. It is a method of inducing complete physical, mental and emotional relaxation. During the practice of yoga nidra, one appears to be asleep, but the consciousness is functioning at a deeper level of awareness Yoga Nidra, which is derived from the tantras, is a powerful technique in which you learn to relax consciously. True relaxation is actually an experience far beyond all this. For absolute relaxation you must remain aware. This is yoga nidra, the state of dynamic sleep **Yoga Nidra** is one of the deepest and most powerful of all meditations. In Meditation, one remain in the Waking state of consciousness, and gently focus the mind, allowing thought patterns, emotions, sensations, and images to arise and go on In Yoga Nidra, one leave the Wakinstate Go past the Dreaming state, and go to Deep Sleep, yet remain awake. Yoga Nidra is a state that is very relaxing. If you practice yoga nidra, then the nature of your mind can be changed, diseases can be cured. The subconscious and the unconscious mind are the most powerful forces in the human being this simple practice of yoga nidra has the capacity of penetrating into the depths of the human mind.

Yoga Nidra Method

1. Lie in shavasana.
2. Allow your attention to move through your head and face, including the top of the head, forehead, eyebrows, eyes, cheekbones, and nostrils.
3. be aware of the breath at the nostrils for several breaths.
4. Continues to survey mouth, jaws and chin.
5. Then survey the neck and throat, shoulders, arms, elbows, wrists, hands, fingers, and fingertips.
6. Feel as though you are inhaling from the tips of the fingers up to the shoulders, and then exhaling back to the finger tips. Do this several times.
7. Then move your attention from the fingers, back through the hands, wrists lower arms, upper arms, shoulders, upper back and chest.
8. Concentrate at the center of the chest, and exhale and inhale completely several times.
9. Be aware of the stomach, abdomen, lower back, hips, thighs, knees, calves, ankles, feet, and toes.

   Exhale as if your whole body is exhaling, and inhale as if your whole body is inhaling. As you exhale, let go of all tension, worries, and anxieties. Inhale as if you are inhaling new energy, as well as a sense of peace and relaxation. Exhale and inhale several times
10. Then move your attention from the toes to the

*Assistant Professor, Sarvoday P.G College Ghosi - Mau (U. P)

feet, ankles, calves, thighs, knees, hips, lower back, abdomen, stomach and chest.

11. Concentrate at the center of the chest, and exhale and inhale completely several times.
12. Survey the upper back, shoulders, upper arms, lower arms, wrists, hands, fingers, and fingertips.
13. Feel as though you are inhaling from the tips of the fingers up to the shoulders, and then exhaling back to the finger tips. Do this several times.

61-Points exercise

Systematically move your attention through each of the points below. Forehead, throat, Right shoulder, right elbow, right wrist, tip of right thumb, tip of right index finger, tip of right middle finger, tip of right ring finger, tip of right little finger, right wrist, right elbow, right shoulder.

Throat

Left shoulder, left elbow, left wrist, tip of left thumb, tip of left index finger, tip of left middle finger, tip of left ring finger, tip of left little finger, left wrist, left elbow, left shoulder.

Throat

Space between the breasts, right breast, space between the breasts, navel, lower abdomen Right hip, right knee, right ankle, tip of the right big toe, tip of the right second toe, tip of the right middle toe, tip of the right fourth toe, tip of the right little toe, right ankle, right knee, right hip, lower abdomen.

Left hip, left knee, left ankle, tip of the left big toe, tip of the left second toe, tip of the left middle toe, tip of the left fourth toe, tip of the left little toe, left ankle, left knee, left hip Lower abdomen, navel, space between the breasts, throat, forehead

BENEFITS OF YOGA NIDRA

1. Many people do not breathe properly and are unaware of this fact. Proper breathing profoundly improves our whole physical and mental wellbeing.
2. The breath is intimately connected with our state of health and improper breathing will often reflect various disturbances of body and mind.
3. Diseases such as insomnia, hypertension, migraine, ulcers, digestive disorders, and even asthma can be managed by "Yoga Nidra".
4. Relieve pressure from the coronary system.
5. It is considered to be a great stress reliever.
6. One of the biggest benefits of "Yoga Nidra" is the power it gives you over your own mind. It is possible to influence your mind along a certain path using "Yoga Nidra".
7. It is possible to change your entire personality along a certain line. This is extremely beneficial for people who are looking to change their ways of thinking, looking at new approaches, or simply looking to achieve certain goals.
8. Yoga Nidra induces complete relaxation in the mind and body. Many people claim that "Yoga Nidra" is a lot more relaxing than even sleep.
9. This practice can be used to shape the mind and alter our approach to life, thus helping in dealing with depression and anxiety.
10. Many practitioners find the quality of their sleep improving drastically.
11. The mind turns sharper at grasping information and learning becomes much quicker when practicing yoga Nidra.
12. This is believed to improve concentration and memory.
13. Amazing Benefits of yoga nIdra
    1. Improves your concentration abilities which allows for a better memory
    2. You will suddenly find your memory

becoming clearer and crisper

3. Start retaining what you read and hear better than you have before
4. Greater ability to focus
5. Helps you become distracted less
6. Improve your performance at work
7. Allows you to make decisions much more rapidly and accurately
8. Helps refresh the mind, leaving it clearer, more settled and better able to process information
9. Much more powerful and effective than a nap or coffee break
10. Can allow you to experience a much deeper state of rest than when you normally sleep

9 Tips to Better Yoga Nidra

1. Keep sufficient time for yoga nidra after yoga postures. Just as a car engine needs to be turned off and allowed to cool down after a long drive, similarly, our body becomes warm while doing yoga postures. We need to cool our body with yoga nidra before moving off the yoga mat.
2. Yoga nidra after lunch - It is not advisable to do yoga nidra immediately after lunch because you might end up experiencing only nidra (sleep) and no yoga
3. Practice yoga nidra in a peaceful place. A yogi's home is calm, comfortable, and clutter-free. A place that calms and energizes the mind and betters your yoga nidra experience.
4. Keep yourself cozy; cover yourself with a blanket to keep yourself warm. After an active session of yoga postures, the body is hot and when you lie down for yoga nidra, the temperature suddenly drops and you might feel slightly cold. So, it is a good idea to keep a light blanket handy.
5. Make yourself comfortable. When you are comfortable, the mind can relax more and more.

   While lying down in savasana for yoga nidra, if you experience pain or discomfort in your lower back, use pillows to raise your knees above the waist level to relax the spine more. You can also place a thin pillow under your head for more comfort. However, don't make yourself too comfortable and go to sleep.
6. Yoga nidra is not about 'conscious effort' but 'conscious relaxation'. Now what is that? Let's take an example. The moment you hear the word 'apple,' its image instantly flashes through your mind. You don't need to put in effort to think whether it's small or big, red or green. The same happens during yoga nidra. You don't need to 'concentrate' or 'focus' on what a leg is, or touch your nose. Nor do you need to physically move these body parts. You only need to gently take your attention to them, while taking deep breaths. The tricks in yoga nidra are to — relax with awareness — remain effortless and consciously relax the body and mind.
7. If you fall asleep naturally, don't feel guilty once you wake up.
8. Gentle music can also aid in yoga nidra. You could switch on light, instrumental music or some soothing chants before starting yoga nidra. However music is not an essential element for yoga nidra. You'll find yourself relaxing to your own internal rhythm.
9. After yoga nidra, roll over to your right side and slowly sit up. Rolling over to the right side makes the breath flow through the left nostril which helps cool the body.

CONCLUSION

Yoga nidra is one of the most important techniques for the relaxation of whole body and mind of an individual.

Yoga nidra is the one of the best methods for prevention and alleviate most of the disease

References

1. Saraswati Swami Satyananda " Yoga Nidra", Yoga Publication Trust, Munger, Bihar, India, sixth Edition, 1998), pp.1-2.
2. Kauts A. And Sharma N., "Effect of yoga on academic performance in relation to stress", International Journal of Yoga. Vol. 2: 1, pp. 39-43, January 2009.
3. Sharma R, Gupta N, Bijlani RL. "Effect of yoga based lifestyle intervention on subjective well-being", Indian J Physiol Pharmacol. 2008 Apr-Jun; 52(2): 123-31.
4. Ernst E. Therapies: yoga (section 3). In: Ernst E, ed. The desktop guide to complementary and alternative medicine. An evidence-based approach. Edinburgh: Mosby, 2001:76–8.
5. Riley D. Hatha yoga and the treatment of illness. AlternTher Health Med 2004; 10:20–1.
6. Khalsa SBS. Yoga as a therapeutic intervention: a bibliometric analysis of published research studies. Indian J Physiol Pharmacol 2004; 48:269–85.
7. B.K.S Iyengar, 'Light on Yoga', George Allen & Unwin Ldt.London, 1972.
8. Swami Satyaananda, 'Kudalini Tantra', Bihar School of Yoga, Munger, India, 1972.

अखिल गीत
शोध-दृष्टि
मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित
अन्तरराष्ट्रीय वार्षिक शोध–जर्नल

AKHIL GEET SHODH DRISHTI

RNI No. : UPBIL 03942/2010
ISSN : 2229-7308

सम्पादकीय कार्यालय
डॉ0 गीता सिंह
मकान नं0 466, राहुल नगर
(पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस)
मड़या–आजमगढ़ (उ0प्र0) 276001 भारत
मोबाइल : 09532225244, 09415082614
E-mail : shodhdrishti@gamil.com

सदस्यता प्रपत्र

दिनांक : ....

सम्पादक
'अखिल गीत शोध–दृष्टि'
आजमगढ़

प्रिय महोदय / महोदया

मैं / हम **'अखिल गीत शोध–दृष्टि'** का वार्षिक / त्रिवार्षिक / आजीवन (दस वर्ष हेतु) सदस्य बनना चाहता हूँ / चाहती हूँ / चाहते हैं।

व्यक्तिगतः			**संस्थागत :**		
भारत में (India)		विदेश में (Foreign)	भारत में (India)		विदेश में (Foreign)
वार्षिक	: ₹ 1000	US $ 25	वार्षिक	: ₹ 1500	US $ 35
त्रिवार्षिक	: ₹ 3000	US $ 80	त्रिवार्षिक	: ₹ 4500	US $ 120
आजीवन (दस वर्ष हेतु)	: ₹ 8000	US $ 200	आजीवन (दस वर्ष हेतु)	: ₹ 10000	US $ 300

मैं हम अपना सदस्यता शुल्क .... रुपये / US $ शब्दों में .... नकद / मनी आर्डर / चेक / बैंक डाफ्ट संख्या...................... बैंक का नाम .... दिनांक .... द्वारा आपके पास भेज रहा हूँ / रही हूँ / रहें हैं।

नाम ....

पद / विभाग का नाम ....

विश्वविद्यालय / महाविद्यालय का नाम ....

पता ....

दूरभाष / मोबाइल .... ई–मेल ....

भवदीय

नाम ....

ह0 ....

नोट : कृपया आप अपना नकद / मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट 'अखिल गीत शोध–दृष्टि आजमगढ़' के नाम भेजें। आजमगढ़ के बाहर के चेक में निर्धारित राशि में ₹ 50 अतिरिक्त जोड़कर भेजें। सदस्यता प्रपत्र की फोटो कापी कराकर भेज सकते हैं।

AKHIL GEET SHODH DRISHTI

An Annual International Referred Research Journal
of Humanities and Social Sciences

RNI NO. UPBIL 03942/2010
ISSN : 2229-7308

EDITORIAL OFFICE
Dr. GEETA SINGH
H.No.466 Rahul nager
(Pt. Haribansh Mishra Campus)
Madya, Azamgarh. U.P. INDIA
Mobile : 09532225244, 09415082614
E-mail : shodhdrishti@gamil.com

SUBSCRIPTION FORM Date : ....

The Editor
'AKHIL GEET SHODH-DRISHTI'
AZAMGARH

Dear Sir/Madam,

Please enroll me as a member of **'AKHIL GEET SHODH-DRISHTI AZAMGARH'** Annual/Triannual/life member (Ten year's only)

Individual (INDIA)		**Individual (Foreign)**	**Institutional (INDIA)**		**Institutional (Foreign)**
Annual	: ₹ 1000	US $ 25	Annual	: ₹ 1500	US $ 35
Triannual	: ₹ 3000	US $ 80	Triannual	: ₹ 4500	US $ 120
Life Time member (Ten Year's Only)	: ₹ 8000	US $ 200	Life Time member (Ten Year's Only)	: ₹ 10000	US $ 300

I am Sending with ₹ / US $ .... in words .... in Cash/ Money Order/Chaque/Demand Draft No. .... Dated .... Bank Name .... On account of above membership.

Name (in Block Letters) ....

Designation/ Name of Department ....

University/College ....

Address ....

Tel/Mob. : .... E-mail ....

Your's faithfully,

Name ....

Sign. ....

Note : Please send your Subscription Cash/MO./Cheque/DD. to **'AKHIL GEET SHODH DRISHTI AZAMGARH'.** Add ₹ 50 for out station Cheque.
Photocopy of the membership form may be used.

रजिस्ट्रेशन आफ न्यूज पेपर रूल्स 1956 सेन्ट्रल के अन्तर्गत 'अखिल गीत शोध–दृष्टि' (मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध–जर्नल) के सम्बन्ध में स्वामित्व तथा अन्य विवरण विषयक जानकारी

घोषणा–पत्र
(फार्म–4)

प्रकाशन स्थल	:	मकान नं0 466, राहुल नगर (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस) मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
प्रकाशन अवधि	:	वार्षिक
मुद्रक का नाम	:	डॉ0 गीता सिंह
नागरिकता	:	भारतीय
पता	:	मकान नं0 466, राहुल नगर (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस) मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
प्रकाशक का नाम	:	डॉ0 गीता सिंह
नागरिकता	:	भारतीय
पता	:	मकान नं0 466, राहुल नगर (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस) मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
सम्पादक का नाम	:	डॉ0 गीता सिंह
नागरिकता	:	भारतीय
पता	:	मकान नं0 466, राहुल नगर (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस) मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार हों	:	डॉ0 गीता सिंह मकान नं0 466 राहुल नगर (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस) मड़या आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत

मैं डॉ0 गीता सिंह एतद्द्वारा घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी में सत्य है।

दिनांक : 29 दिसम्बर 2017

हस्ताक्षर
डॉ0 गीता सिंह
प्रकाशक

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित आगामी अंक **23 जून 2018**

अखिल गीत शोध-दृष्टि

मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित अन्तरराष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक शोध–जर्नल

AKHIL GEET SHODH DRISHTI

(Biannual International Referred Research Journal of Humanities & Social Science)

वर्ष 8. अंक 10

Bilingual (हिन्दी & English)

RNI No : UPBIL 03942/2010
ISSN : 2229-7308
UGC Regd. No. 41402

नोट : 'अखिल गीत शोध–दृष्टि' में प्रकाशनार्थ शोध–पत्र **31 मई 2018** तक आमंत्रित है। नियम एवं शर्तें पृष्ठ संख्या 03 के अनुसार।

प्रधान सम्पादक
डॉ० अखिलेश चन्द्र

E.mail : shodhdrishti@gmail.com

सम्पादक
डॉ०गीता सिंह

'अखिल गीत शोध–दृष्टि' हेतु सम्पादकीय कार्यालय
मकान नं0 466, राहुल नगर, (पं0 हरिबंश मिश्र कैम्पस)
मड़या, आजमगढ़–276001 (उ0प्र0) भारत
मो : 09415082614, 09532225244

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान
मानविकी एवं समाज विज्ञान पर केन्द्रित संस्था
आजमगढ़-276001 **(उ०प्र०)**
पंजीकरण संख्या : 2556 AZ-17160/2010

उद्देश्य :

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ0प्र0) एक पंजीकृत गैर सरकारी संस्था है। इसका गठन सन् 2010 में किया गया। यह संस्था मानविकी एवं समाज विज्ञान के क्षेत्र में की जा रही शैक्षिक एवं शोध परक गतिविधियों के प्रोत्साहन हेतु गठित है। इस संस्था से निम्नलिखित गतिविधियाँ सम्पन्न होंगी।

1. संस्था एक शैक्षिक संस्था के रूप में कार्य करेगी।

2. संस्था मानविकी एवं समाज विज्ञान के शोध गतिविधियों के लिए राष्ट्रीय/अन्तरराष्ट्रीय शोध जर्नल **'अखिल गीत शोध-दृष्टि'** का प्रकाशन करेगी, जिसमें प्राध्यापकों, विद्वानों तथा शोधार्थियों के शोध कार्यों का प्रकाशन किया जाएगा।

3. संस्था मानविकी तथा समाज विज्ञान विषयों से सम्बन्धित विविध कार्यक्रमों जैसे–संगोष्ठी, कार्यशाला, परिचर्चा, सेमिनार आदि का आयोजन करेगी जिसमें राष्ट्रीय/अन्तरराष्ट्रीय स्तर के विद्वानों, विचारकों, समीक्षकों को समय–समय पर आमंत्रित किया जायेगा।

4. संस्था प्राथमिक स्तर से उच्च स्तर के बालक/बालिका विद्यालयों/महाविद्यालयों की स्थापना हेतु कार्य करेगी जिसका संचालन विभागीय अनुमति से किया जायेगा।

5. राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर के आधुनिक माध्यमों के प्रयोग से एक विशिष्ट वातावरण तैयार कर शोध कार्यों को अद्यतन रूप देते हुए प्रोत्साहित किया जायेगा।

6. संस्था समय–समय पर वर्तमान परिवेश से जुड़े ज्वलंत मुद्दों पर पत्रिका/पुस्तक का प्रकाशन/सम्पादन करेगी।

'शिक्षक श्री' पुरस्कार से सम्मानित होने के उपरान्त जनपद आजमगढ़ में डॉ0 गीता सिंह का स्वागत करते समाजसेवी श्री अभिषेक जायसवाल 'दीनू', डॉ0 मातबर मिश्र एवं श्री अमरनाथ राय

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी में डॉ0 गीता सिंह को सम्मानित करते महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी के कुलपति डॉ0 पृथ्वीशनाग एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि. वाराणसी के कुलपति प्रो0 गिरिश्वर प्रसाद मिश्र, डॉ0 दीनानाथ सिंह एवं प्राचार्य डॉ0 कुमकुम पाण्डेय

राष्ट्रीय एकता कवि सम्मेलन आजमगढ़ में डॉ0 गीता सिंह को सम्मानित करती कवयित्री श्रीमती सत्यम्वदा गोरखपुर

साहित्यिक विमर्श करते 'अखिल गीत शोध दृष्टि' के प्रधान सम्पादक डॉ0 अखिलेश चन्द्र और सम्पादक डॉ0 गीता सिंह

RNI No. : UPBIL03942/2010

अखिल गीत शोध-दृष्टि

ISSN : 2229-7308

निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान, आजमगढ़ के सहयोग से प्रकाशित

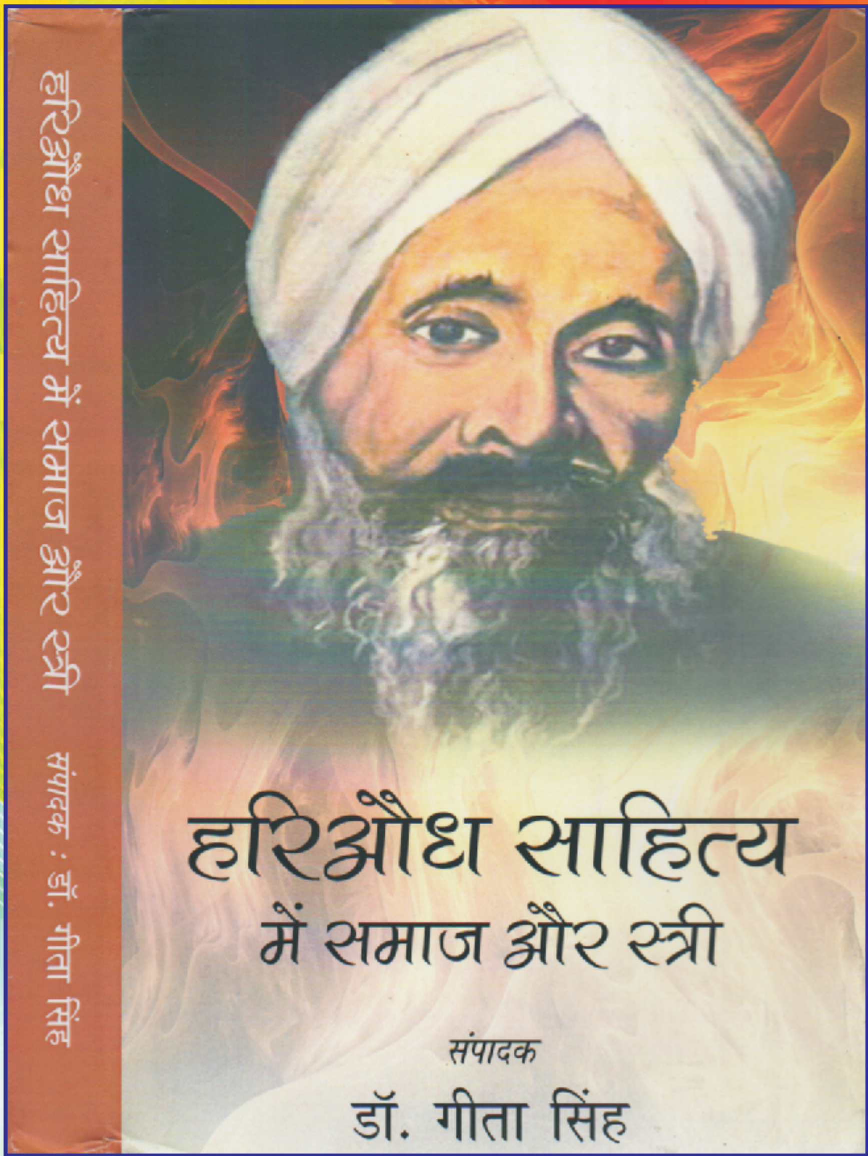

अखिल गीत
शोध-दृष्टि

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक डॉ० गीता सिंह द्वारा शिवानी ऑफसेट प्रिन्टर्स 16 / 143 खत्रीटोला, आजमगढ़ से मुद्रित; निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ०प्र०) भारत द्वारा प्रकाशित। सम्पादक - डॉ० गीता सिंह